PARMARTHA KI PAGDANDIYA



BHAIJI SHRI HANUMAN PRASADJI PODDAR

परमार्थकी पगडंडियाँ



हनुमानप्रसाद पोद्दार

Parmarth Ki Pagdandiya

By

Hanuman Prasad Poddar

प्रकाशक

गीतावाटिका प्रकाशन

पो०— गीतावाटिका (गोरखपुर)

पिन—२७३००६

फोन०—(०५५१) ३१२४४२

E-Mail:- rasendu@vsnl.com

प्रथम संस्करण—श्रीकृष्ण जन्माष्टमी सं० २०५७ वि०

मूल्य — चालीस रुपये मात्र

।। श्रीहरिः ।।

नम्र निवेदन

जीवनमें शाश्वत शान्ति एवं अखण्ड आनन्द चाहनेवालोंके लिये रस-सिद्ध संत भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है। संस्कृतके आध्यात्मिक साहित्यमें जो स्थान महर्षि वेदव्यासका है वही स्थान हिन्दीके आध्यात्मिक साहित्यमें श्रीपोद्दारजीका कहना अत्युक्ति नहीं होगा। लगभग १८ वर्षकी उम्रमें उनकी लेखनी सक्रिय हुई और जीवनके अन्तिम समयतक लेखनीने विश्राम नहीं लिया। उन्होंने किसी आध्यात्मिक विषयको अछूता ही नहीं छोड़ा वरन् विपुल ठोस सामग्री प्रदान की।

यद्यपि अभीतक उनका सम्पूर्ण साहित्य प्रकाशित नहीं हो सका है पर लगभग १६,००० पृष्ठोंका उनका साहित्य ८८ पुस्तकोंमें प्रकाशित हो गया है। इसने हिन्दी साहित्यकी अभिवृद्धि करनेके साथ ही साधकोंका अनुपम उपकार किया है। आजके आस्थाहीन युगमें परमार्थ-पथके पथिकोंकी विभिन्न उलझनोंको सुलझानेके लिये तथा उन्हें अपने गन्तव्यतक पहुँचानेके लिये वे समय-समयपर बड़े सरल एवं महत्त्वपूर्ण उपाय बताया करते थे। उनका संग्रह ही इन पगडंडियोंके रूपमें है।

पूज्य भाईजीका सम्पूर्ण साहित्य गीताप्रेससे ही प्रकाशित हुआ एवं

होता है। इसी संस्थाको श्रद्धेय श्रीसेठजी एवं भाईजीने अपना जीवन दान देकर विश्व–विश्रुत बनाया। गीताप्रेस कुछ समयसे व्यस्तताके कारण पूज्य श्रीभाईजीकी नयी पुस्तकें प्रकाशित नहीं कर पा रहा है। सामग्री बिखरी हुई एक स्थानपर एकत्रित हो जाय इस उद्देश्यसे कुछ पुस्तकें अन्यत्र प्रकाशित की जा रही हैं जिससे गीताप्रेस जब भी प्रकाशित करेगा अविलम्ब मुद्रण हो जाये।

मेरा विश्वास है जो भी भाई–बहिन इन बातोंको मनपूर्वक पढ़ेंगे एवं जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करेंगे उन्हें निश्चय ही शान्ति एवं आनन्द मिलेगा।

— प्रकाशक

।। श्री हरि: ।।

परमार्थकी पगडंडियाँ

जीवन भगवान्‌के चरणोंमें न्योछावर कर दो

तुम अपना जीवन श्रीभगवान्‌के चरणोंमें न्योछावर कर दो, फिर उनकी कृपासे सदा मस्ती बनी रहेगी। शोक, विषाद, दुःख, क्लेश, कष्ट, संताप, भय, उद्वेग आदि कुछ रहेंगे ही नहीं—यह निश्चय है। अपना सारा मन, सारी बुद्धि, सारा जीवन—प्रत्येक श्वास उन्हींके अर्पण कर देना चाहिये। बहुत-बहुत प्रसन्न रहना चाहिये। भगवान्‌का आश्रय लेनेवाला सदा प्रसन्न ही रहता है। आनन्दघन भगवान्‌के आश्रयमें तो नित्य आनन्द ही रहा करता है। उनके पास आनन्दका अभाव वैसे ही कभी नहीं होता, जैसे सूर्यके पास प्रकाशका अभाव नहीं होता।

जगत्‌की ओरसे निराश होना चाहिये

तुम भगवान्‌के मंगल विधानमें सदा-सर्वदा प्रसन्न रहना चाहते हो तो वे अपने मनकी जो-कुछ करते हैं, उसीमें तुम अपना मंगल मानते हो, यह बहुत ही उत्तम विचार है। भगवान् हमारे ऐसे विचारोंसे बहुत प्रसन्न होते हैं। भगवान्‌की ओरसे सदा आशावान् तथा जगत्‌की ओरसे निराश होना चाहिये। जगत्‌की आशा सदा विफल तथा दुःखदायिनी होती है और भगवान्‌की आशा सदा सफल तथा सुखमयी है।

घरमें अतिथिकी भाँति रहो

घरमें अतिथिकी भाँति रहना तो बहुत उत्तम है। वास्तवमें घर अपना है ही नहीं। जिसके मनसे घर और संसार निकल जाता है, उसका मन-मन्दिर

भगवान्‌के लिये आप ही सज जाता है। मनको संसारसे खाली करना ही भगवान्‌के लिये सजाना है। भगवान् किसी भी पूजाकी वस्तुको नहीं चाहते; वे हैं चाहसे हीन। वे सहज प्रेमसे सना खाली घर चाहते हैं। ऐसा घर पाते ही वे उसमें सदाके लिये बस जाते हैं।

भगवान्‌की बड़ी कृपा है

तुम नित्य सत्य सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के चरणोंमें अपना चित्त समर्पण करके सदाके लिये निर्भय और निश्चिन्त हो जाओ। भगवान् जीवन-मरण, लोक-परलोक, भूत-भविष्य—सभीमें सदा साथ रहते हैं। तुमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है। तुम सहज ही उनकी शरण ग्रहणकर कृतार्थ हो सकते हो। वे सर्वसमर्थ सदा ही परम सुहृद हैं। उनकी कृपाकी छत्रछायामें पहुँच जानेपर मनुष्यका घोर संताप सदाके लिये मिट जाता है और वे सदा, सबको अपनानेके लिये तैयार हैं। सच्चा भरोसा तो उसीका है, जो हर हालतमें साथ रहता है। इससे उनसे ही यह प्रार्थना करनी चाहिये—

कुटिल कर्म लै जाहि मोहि, जँह-जँह अपनी बरिआई।
तँह-तँह जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ अंडकी नाईं॥

अतएव अन्य सब आशा-भरोसा-विश्वास छोड़कर, एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर होकर, उन्हींका आशा-भरोसा-विश्वास करना चाहिये।

खुले शृंगारसे डरो

मैं खुले शृंगारसे डरता हूँ तथा किसीको भी उसके पठन-पाठनकी सलाह नहीं देता। मैं आजकल इसलिये और भी डरा हुआ हूँ कि बहुत-से लोग अपनेको प्रेमी, त्यागी, महापुरुष, संत तथा परम भागवत घोषित करते हुए श्रीराधाकृष्ण अथवा गोपी-प्रेमका उदाहरण देकर अपनी वासना-पूर्तिका प्रयास करते हैं और भोले लोग उनके द्वारा ठगे जाते हैं। इस स्थितिमें शृंगारके पदोंका प्रचार ऐसे लोगोंके लिये उत्साह देनेवाला तथा इनके पापका समर्थन करनेवाला मान लिया जाता है। मेरा यह डर सप्रमाण है। इसलिये मैं बहुत सावधान रहता हूँ। मेरी इस सावधानीके पीछे यही भाव है कि भगवान्‌के पवित्र प्रेमके नामपर कमजोर हृदयके लोगोंकी वासनाको जरा भी जागनेका अवसर न मिले।

शाश्वती शान्तिका अधिकारी

'अभय' दैवी-सम्पदाका पहला गुण है। जो परम अभयस्वरूप भगवान्‌के भयहारी चरण-कमलोंके शरण हो जाता है, उसके पास न पाप-ताप आ सकते हैं, न उसे पतन या नरकका ही भय हो सकता है। वहाँ महापापी भी तुरंत

पुण्यात्मा भक्त होकर शाश्वती शान्तिका अधिकारी हो जाता है। भय–शोक तथा पतन नरक तो तभीतक वहाँ है, जहाँ मनमें भोगोंका आश्रय है, जो पद–पदपर भय–शोक उत्पन्न करनेवाले तथा दुःखयोनि ही हैं। निर्भयस्वरूप भगवान्‌का शरणागत तो निर्भय ही नहीं होता, वह सारे जगत्‌को अभय–दान करनेवाला बन जाता है। भगवान्‌का होकर जो एक बार भी भगवान्‌को पुकार उठता है, भगवान् उसे सबसे अभय कर देते हैं। यह भगवान्‌का बिरद है- *'मम पन सरनागत भय हारी।'*

भगवान् श्रीकृष्ण सबके परम प्रियतम हैं

यह सत्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण सबके परम प्रियतम हैं, वे आत्माके भी आत्मा हैं, परम पति हैं। इस भावसे उनका भजन बन पड़े तो वह बहुत उच्च श्रेणीका है—इसमें जरा भी संदेह नहीं है; परंतु यह भाव है बहुत कठिन। यह भाव था गोपीजनोंमें। श्रीचैतन्यमें भी था; पर अन्य लोगोंमें कहाँ, कितना, किसमें था, कुछ कहा नहीं जा सकता। भगवान्‌के परम प्रियतम और परम पति होते हुए भी जबतक 'निज–सुख' की इच्छाका लेश है, तबतक इस भावसे उनका भजन होना बहुत कठिन है। फिर आजकलके मनुष्य बहुत ही दुर्बल मनके हैं। भगवान् तथा भगवत्प्रेमके लिये ही वे इस तरहके मार्गपर आते हैं, परंतु राग–द्वेषयुक्त तथा वशमें न किये हुए मन–इन्द्रिय उन्हें भगवान्‌से हटाकर गंदे लौकिक भोगोंमें प्रवृत्त कर देते हैं। इसलिये भगवान्‌के नामपर भी उन विषयोंसे अलग रहना ही निरापद है, जिनसे जरा भी वासनाके जाग्रत होनेका डर हो।

सर्वोत्तम है—भगवत्–चिन्तन

असली अस्वस्थता तो मनकी होती है और उसी मानसिक अस्वस्थताके कारण मनुष्यके द्वारा विभिन्न अवाञ्छनीय कार्य होते हैं और उसीके कारण उसे भय, विषाद, क्लेश और शोक आदि होते हैं। मनुष्य जिस विषयका चिन्तन करता है, उसीमें उसकी आसक्ति होती है और जिसमें आसक्ति होती है, उसीका विशेष चिन्तन होता है एवं उसीके अनुसार वह नरक (दुःख), स्वर्ग (सुख), भगवान् (परम–आनन्द) की ओर जाता है। तीन प्रकारके चिन्तन हैं—असत्–चिन्तन (पाप या अशुभ–चिन्तन), सत्–चिन्तन (पुण्य अर्थात् पवित्र अथवा शुभ- चिन्तन) और भगवत्–चिन्तन। इसमें असत्–चिन्तन तो कभी नहीं होना चाहिये। यह तो दुःख या नरकका पथ है। सत्–चिन्तन सुखकारक है, इससे वह करना चाहिये। परंतु सर्वोत्तम है—भगवत्–चिन्तन, जिसके होनेसे असत्–चिन्तनका स्वाभाविक ही वैसे ही नाश हो जाता है, जैसे सूर्यका प्रकाश होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता

है और सत्-चिन्तन या दैवी-सम्पत्ति उसी प्रकार आप ही आ जाती है, जैसे सूर्यके साथ प्रकाश आता ही है। देव जहाँ होंगे, वहाँ दैवी सम्पदा होगी ही। जहाँ बर्फ है, वहाँ सर्दी होगी ही; अग्नि है, वहाँ गर्मी होगी; गुलाब है, वहाँ गुलाबकी सुगन्धि होगी। इसी प्रकार जहाँ भगवान् होंगे, वहाँ भगवान्के दिव्य गुण होंगे ही। अतएव जिस-किसी प्रकारसे भी हो, भगवान्का चिन्तन--उनकी लीला, उनके ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य, सौहार्द, स्वरूप, गुण, नाम—किसीका भी चिन्तन-करते रहना चाहिये। इस चिन्तनमें जब रस- आनन्द आ जायेगा, तब तो यह अपने--आप ही होगा, छुड़ाये भी नहीं छूटेगा।

भगवत्-चिन्तन करना चाहिये

पहले मनुष्यको बिना मनके ही सही, भगवत्-चिन्तन करना चाहिये। * * बस, भगवच्चिन्तन करे-—प्रतिक्षण भगवान्में मन रहे, भगवान् ही मनमें बसे रहें। जगत्को, प्राणिमात्रको, पदार्थमात्रको भूल जाओ; संसारकी परिस्थितियोंका कोई भी प्रभाव जीवनपर न रहे। एकमात्र प्रभु ही प्राण, आत्मा, सुख-स्मृति, जीवन—सब-कुछ हो जायँ।

भगवान् किसीके पूर्व जीवनको नहीं देखते

भगवान् किसीके पूर्व जीवनको नहीं देखते। वह पुण्यमय है या पापमय, शुभ था या अशुभ--इसकी ओर भगवान् ध्यान नहीं देते। वे देखते हैं मनकी वर्तमान स्थितिको। इस समय यदि हमारा मन श्रीभगवान्को चाहता है, नित्य उनको अपनेमें बसाये रखना चाहता है, उनकी मधुर स्मृतिमें डूबा रहना चाहता है, और उसकी यह चाह यदि यथार्थ है तो भगवान् अपनी सहज स्वाभाविक कृपासे उसके हृदयके पुराने पापोंका तुरंत नाश करके उसके हृदयमें बस जाते हैं और नित्य-निरन्तर उसे भगवान्की संनिधिका अनुभव होता रहता है। इसलिये अपने पहलेके घृणित जीवनकी याद करके किसीको भी जरा भी निराश नहीं होना चाहिये। जैसे सूर्योदय होते ही अमावास्याका घोर अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही मनमें भगवान्के आते ही तमाम तम-राशि भस्म हो जाती है। भगवान्की कृपाकी महान् शक्ति हमारे पुराने पापोंकी शक्तिसे कहीं अधिक है।

गोपी-हृदयका अनुभव

तुम चाहते हो कि मैं प्रभुको एक क्षणके लिये भी न भूलूँ-यह बहुत सुन्दर मनोरथ है। जो प्रभुको नहीं भूलता, उसे अनुभव होता है कि प्रभु भी मुझको कभी नहीं भूलते। प्रभु तो अब भी नहीं भूलते, हम ही उनको भूले हुए रहते हैं, इससे हमें जान पड़ता है कि प्रभु हमें भूल रहे हैं। मनुष्य यदि ध्यान दे तो उसे

पता लगेगा कि प्रभु हर हालतमें सदा समीप रहते है, साथ रहते हैं, नित्य हृदयमें रहते हैं तथा एक क्षणके लिये भी इधर-उधर नहीं जाते-

चलत-चितवत, दिवस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदय ते वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात।।

गोपी-हृदयका यह अनुभव सर्वथा सत्य है। इसका मधुर अनुभव सदा करते रहना चाहिये। यह अनुभव भी प्रभुकी कृपासे ही हुआ करता है। जो मनुष्य उस महान् कृपाका अनुभव नहीं करता, वही उससे वञ्चित रहता है।

प्रभुकी स्मृतिके समान सुख अन्य नहीं

प्रभुकी स्मृतिके समान सुख अन्य किसी भी वस्तु या स्थितिमें नहीं है। परंतु यह सुख उन्हींको प्राप्त होता है, जिनका प्रभुके पावन पदारविन्दोंमें प्रेम होता है। प्रभुकी स्मृति तो उन्हें अपना वैरी माननेवालोंके मनमें भी होती है और उस स्मृतिसे उनकी मुक्ति भी होती है, परंतु स्मरणकालमें उन्हें सुख नहीं मिलता; क्योंकि उनकी स्मृतिमें माधुर्य नहीं है, अनुराग नहीं है।

तुम चाहते हो कि 'नित्य एक-सी स्थिति बनी रहे, प्रभुका मनसे कभी वियोग हो ही नहीं, हृदयमें दूसरी कोई स्मृति आये ही नहीं'-तुम्हारी यह चाह बहुत ही श्रेष्ठ है। भगवान्की बड़ी कृपासे ही ऐसी चाह हुआ करती है। चाह यदि प्रबल होती है, खास करके भगवत्-सम्बन्धी, तो वह अवश्य पूरी भी होती है। भगवान् हमारी अपनी वस्तु हैं। वे किसी कर्मके फल नहीं हैं। अतः चाह तीव्रतम होते ही वे मिल जाते हैं। यह सत्य है कि प्रभुकी सहज सुहृदता सदा ही सबपर बनी हुई है और वह अनन्त है, असीम है। अतएव प्रभुकी कृपासे कोई भी वञ्चित नहीं है। मनुष्यके लिये यह चाह बड़ी मंगलमयी है कि 'भगवान् सदा मेरे पास बने रहें, कभी क्षणभरके लिये भी मुझे छोड़कर इधर-उधर न जायँ।' भगवान् असलमें सदा पास रहते ही हैं, उनके बिना हम रह ही नहीं सकते; पर उनका सदा पास रहना हम अनुभव नहीं करते। कभी-कभी कुछ झाँकी-सी होती है, फिर भूल जाते हैं। भगवान् कृपा करके कभी प्रेमकी आँखें दे दें तो फिर सदा सर्वत्र वे-ही-वे दीखने लगें। *'जित देखौं तित स्याममयी है' की स्थिति हो जाय।*

भगवान् कभी बासी नहीं होते

जगत्के जितने अनुकूल विषय हैं, पहले मिलनेके समय वे नये-नये रूपमें आकर्षक, प्रिय तथा आनन्ददायक होते हैं; पर सदा पास रहनेपर उनमें कोई आकर्षण नहीं रह जाता, न वैसी प्रियता तथा आनन्द ही रहता है। वे पुराने (बासी) हो जाते हैं। पर भगवान् कभी बासी नहीं होते, पुराने होकर भी वे नित्य

नवीन रहते हैं। प्रतिक्षण उनका सौन्दर्य खिलता तथा नये-नये आकर्षणको लिये प्रकाशित होता रहता है। इसलिये उनका चिन्तन कभी छूटनेवाला नहीं होता।

'तुम अपना जीवन प्रभुका बना देना चाहते हो, अलग तुम्हारी कोई वासना-कामना न रह जाय, सारी क्रिया केवल प्रभुप्रीत्यर्थ हो'--तुम्हारा यह भाव बहुत ही श्रेष्ठ है। जो ऐसा मानते हैं और चाहते हैं, अन्तर्यामी सर्वदा कृपा करनेवाले प्रभु उनको निश्चय ही अपना लेते हैं। तुमको यह कभी नहीं मानना चाहिये कि तुम प्रभुके चरणकमलोंसे वञ्चित हो। तुम विश्वास करो और उनके मृदुल अरुण चरणयुगलोंको नित्य अपने समीप अनुभव करो। प्रभुकी कृपा हमलोग कम मानते हैं, इसीसे उनका कम अनुभव होता है। वास्तवमें कृपाकी कोई सीमा नहीं है--कहीं ओर-छोर नहीं है। 'प्रभु कृपा करके सदाके लिये अपनी चरण-रज बना लें'--यह इच्छा बहुत ही उत्तम है। पर तुम्हें विश्वास करना चाहिये कि 'भगवान्‌की मुझपर अनन्त कृपा है और वे मुझे अपनी चरण-रज अवश्य बना लेंगे।' अभी अपनेको उनकी चरण-रज समझ लो तो अभी बने-बनाये ही हो। जीवके अपने सारे अहंकारका त्याग हुआ कि वह चरण-रज हो गया।

प्रभुने तुमको अपना लिया है

तुम विश्वास करो, प्रभुने तुमको अपना लिया है। जो यह विश्वास कर लेता है,—वह अपनेको प्रभुका अनुभव करता है। फिर उसपर किसीका प्रभुत्व नहीं रह जाता; किसी भी वस्तु, स्थिति, अवस्था, प्राणी, पदार्थका कुछ भी प्रभाव उसपर नहीं पड़ता; उसे सुखकी स्पृहा नहीं होती—दुःखका उद्वेग नहीं होता। वह नित्य-निरन्तर प्रभुके साथ घुला-मिला रहकर अपनी स्थितिमें मस्त रहता है; किसीका भी उसपर कोई असर नहीं होता। वह कहीं लिप्त नहीं होता। जन्म-मरण, सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक--सब उसके लिये समान हो जाते हैं।

भगवान्‌का विस्मरण ही घोर पाप

खूब प्रसन्न रहो और खूब भगवान्‌का स्मरण करो। दुनियाँके सुख-दुःखकी जरा भी परवाह न करके, एकमात्र भगवान्‌में ही सारे सुखोंको देखो और भगवान्‌को हृदयसे एक क्षणके लिये भी मत हटने दो। भगवान्‌का स्मरण ही परम पुण्य, परम सम्पत्ति और परम सौभाग्य है तथा भगवान्‌का विस्मरण ही घोर पाप, भयानक विपत्ति और महान् दुर्भाग्य है। अतएव आसक्ति-ममता भगवान्‌में करो।

सभीमें भगवान्‌की मंगलमयी कृपा भरी है

सबको यह सुदृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि 'भगवान्‌की कृपा हमपर असीम और अनन्त है।' सांसारिक स्थिति चाहे जो जैसी रहे, जीवन-मरण,

संयोग–वियोग——सभीमें भगवान्‌की मंगलमयी कृपा भरी है, इस निश्चय और विश्वासको दृढ़ करके नित्य–निरन्तर हर अवस्थामें परम सुखी रहना चाहिये। अपने मनमें जरा भी दुःखी नहीं होना चाहिये। भगवान् प्रतिक्षण हमारे साथ हैं——सभी अवस्थाओंमें–इस बातका पहले निश्चय और फिर अनुभव करना चाहिये।

संयोग–वियोग तो संसारका स्वरुप है

मनसे प्रतिकूलताको निकालकर, भगवान्‌की कृपाको देखते हुए, सर्वत्र, सब समय अनुकूलताका अनुभव करके सुखी रहना चाहिये। भगवान् हमको कभी नहीं भूलते, हम ही उन्हें भूलते रहते हैं। वे तो अकारण सुहृद् हैं। संयोग–वियोग तो संसारका स्वरुप है। संसारकी कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसका सदा संयोग रहे और परमात्मा ऐसी वस्तु है, जिसका कभी वियोग नहीं होता। उनका नित्य संयोग रहता है, जीवन–मरण सभीमें वे साथ रहते हैं। इस संयोग–सुखका अनुभव करके सदा सुखी रहना चाहिये।

सारे काम प्रभु–प्रीत्यर्थ होने चाहिये

नित्य–निरन्तर प्रभुकी मधुरातिमधुर स्मृति बनी रहनी चाहिये तथा उनकी प्रत्येक इच्छाकी पूर्तिमें अत्यन्त सुखका अनुभव करना चाहिये। अपना सब–कुछ उनके अर्पण करके निश्चिन्त हो जाना चाहिये। अर्पण करनेका अभिमान भी न रहे। वे नित्य स्वामी हैं, मैं उनका हूँ—यही भाव रहना चाहिये। घरके सारे काम तथा घरवालोंकी निर्दोष आज्ञाका पालन भी प्रभु–प्रीत्यर्थ होना चाहिये। अपने आत्माका सम्बन्ध प्रभुसे ही रहे। जगत्‌की कोई भी परिस्थिति हमारे जीवनपर अपना प्रभाव न डाल सके। एक प्रभुकी विस्मृतिके सिवा अन्य किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिमें हमारे मनमें क्षोभ न हो। प्रभुकी मधुर स्मृतिमें मन सदा–सर्वदा परमानन्दका अनुभव करता रहे। जगत्‌का कोई भी मानापमान, कोई भी लाभ–हानि, किसी प्रकार भी हमारे परमानन्दको क्षणभरके लिये भी हटा या घटा न सके। सदा हृदय आनन्द–सुधा–तरंगोंसे लहराता रहे और उसके बिंदुकण बिखर–बिखरकर जगत्‌के अशान्त तथा प्रज्वलनशील हृदयोंको सुख–सिन्धु–सुधाका स्वाद–संकेत देते रहें।

प्रेम प्रतिक्षण बढ़नेवाला होता है

जो भगवान्‌का हो गया, उसके पीछे न तो राग–द्वेषरूपी चोर रहते हैं, न घर ही जेलखाना रहता है और न मोहकी बेड़ियाँ ही पड़ी रहती हैं। फिर तो वह राग–द्वेषसे रहित होकर घररुपी भगवान्‌के मन्दिरमें रहता है और अपने

प्रेमकी रज्जुसे भगवान्‌को बाँधे रखता है। इसलिये सर्वात्मना उनका होकर अपनेको उनकी मर्जीपर बिना किसी शर्तके छोड़ देना चाहिये। और पद–पदमें तथा पल–पलमें उनके परमप्रेम–सुधाका आस्वादन करते हुए सदा परम प्रसन्न, परम प्रफुल्लित और परम उल्लासमय रहना चाहिये। जगत्‌की कोई भी स्थिति, कोई भी प्राणी, कोई भी वस्तु हमारे इस प्रेमानन्दको कभी भी जरा भी घटा न सके। हमारा आनन्द तो उत्तरोत्तर बढ़ता रहे। प्रेम प्रतिक्षण बढ़नेवाला होता है। इससे आनन्द भी स्वाभाविक बढ़ेगा ही।

शान्ति बाहर कहाँ है, शान्ति तुम्हारे अंदर है

तुम इतने उदास क्यों रहते हो ? भगवान्‌को नित्य अपने पास क्यों नहीं समझते ? वे सदा–सर्वदा तुम्हारे पास ही हैं, एक क्षणके लिये भी अलग नहीं होते--इस बातपर विश्वास करो; फिर अनुभव भी करने लगोगे। शरीरपर घरवालोंका अधिकार है। वे उसे जहाँ रखना चाहें, वहीं सुखपूर्वक रहने दो। मन तो भगवान्‌का है। उसमें निरन्तर भगवान्‌को बसाये रक्खो। उनकी मधुर स्मृतिसे, उनकी मधुर मनोहर झाँकीसे हृदयको सदा भरा रक्खो। तुम्हारे इस हृदयके धनको कोई छीन नहीं सकता। वाणीसे सदा भगवान्‌के नामको मन-ही–मन गुनगुनाते रहो। बस, सब ठीक है। तुम्हारे मनमें यह निश्चय क्यों नहीं होता कि श्रीभगवान्‌की तुमपर अनन्त कृपा है और वे सदा- सर्वदा तुम्हारे पास ही रहते हैं ?

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

(गीता ६। ३०)

बस, निरन्तर उन्हें देख–देखकर आनन्दमुग्ध रहा करो। ऐसा समझो, तुम्हारे लिये शोक–दुःख विषाद बना ही नहीं है। सचमुच भगवान्‌की कृपापर और उनके मंगल–विधानपर विश्वास करनेवालेके लिये यह सब है ही नहीं। नित्य प्रसन्न रहा करो। उनका होकर फिर अप्रसन्नता- उदासी कैसी ? यहाँ तो नित्य आनन्द है, नित्य उत्सव है, नित्य उल्लास है, नित्य विलास है, नित्य सौख्य है। समुद्र लहरा रहा है आनन्द–प्रेम–सुधाका; उसमें डूबे रहो और मस्त रहो। भगवान्‌ने कहा है–

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।

(वाल्मीकिरामा० लंका० १८। ३३)

"जो एक बार भी शरण होकर कह देता है—'प्रभो! मैं तेरा हूँ,' उसको सबसे निर्भय कर देता हूँ——यह मेरा व्रत है।" वे हमारे, हम उनके——फिर रोनेकी बात ही कहाँ है। 'तुम उनके हो, वे तुम्हारे हैं'——यह विश्वास करो और उनका परम मधुर स्मरण करते हुए आनन्द–निमग्न बने रहो।

शान्ति बाहर कहाँ है, शान्ति तुम्हारे अंदर है, सदा है। बस, यह विश्वास कर लो कि 'भगवान् मेरे सुहृद् हैं', शान्ति मिल जायेगी। तुम बाहरके हल्ले–गुल्लेसे अशान्त क्यों होते हो? तुम अपने भगवान्‌की स्मृतिमें निरन्तर डूबे रहो। भवरोग फिर तुम्हारे पास कहाँसे रहेगा? भवसागरमें तो वही डूबा रहता है, जो भगवान्‌की स्मृतिके पवित्र मधुर सागरमें नहीं डूब जाता। तुम अभी पूरे नहीं डूब पाये हो तो भगवान्‌की कृपापर, उनके सौहार्दपर विश्वास करके प्रार्थना करो। उनकी कृपा तुम्हें उनकी मधुर स्मृतिमें तल्लीन कर देगी। तुम उनपर विश्वास करो——जबर्दस्ती करो। तुम पराधीन हो, सो ठीक है; हमें सदा ही भगवान्‌के पराधीन रहना चाहिये। इसकी चिन्ता क्यों करनी चाहिये।

महती कृपापर विश्वास कर लो

भगवान्‌की तुमपर बड़ी कृपा है तथा उनकी कृपासे सबकुछ हो सकता है—असम्भव भी सम्भव हो सकता है। तुम उस महती कृपापर विश्वास कर लो, तुम सचमुच प्रसन्न हो जाओगे। तुम विश्वास करते भी हो, पर बीच–बीचमें संदेह कर बैठते हो। इस दुविधाको छोड़कर एक निश्चयपर अटल हो जाओ। तुमपर भगवान्‌की इतनी कृपा है कि उसका कहीं अन्त ही नहीं है।

चित्तमें सदा भगवान्‌का स्मरण करो

मैं तुम—सभी श्रीभगवान्‌के चरण–प्रान्तमें रहें—उन्हींके चरण–तीर्थमें नहाया करें। प्रभुके चरण–कमल सदा हमारे हृदयमें विराजमान रहें तथा हमारा अपना उनके चरण–कमलोंको छोड़कर और कुछ रहे ही नहीं——इसीके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। मेरे हाथमें होता या मेरी कृपासे कुछ हो सकता तो फिर वह कृपा किस काम आती; मैं तो उस कृपाको बड़ी उदारताके साथ लुटा देता। पर ऐसी बात नहीं। विघ्नोंसे क्यों डरना चाहिये, विघ्न तो प्रभुके भेजे हुए ही आते हैं। संसारकी तमाम प्रतिकूलताको अपने भगवान्‌की मर्जी समझकर अनुकूल बना लो, अनुकूलताको मत खोजो। सदा, सब अवस्थाओंमें प्रभु–कृपापर विश्वास करके अनुकूलताका अनुभव करो और प्रसन्न रहो। चित्तमें सदा भगवान्‌का स्मरण करते हुए परम शान्ति और सुखका अनुभव करो।

भजनमें सदा असंतोष रहना चाहिये

नियमका भजन बनता है तो प्रेमका भी बनना सम्भव है। ताप तथा

व्याकुलता उत्पन्न होनेपर तो प्रेमका भजन स्वाभाविक ही बनने लगता है। नियमके भजनसे अन्तःकरण पवित्र होनेपर भगवान्‌के लिये ताप तथा व्याकुलता पैदा हो जायेगी। इसके जल्दी होनेके लिये कातरभावसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। यह उत्पन्न होनेमें भगवान्‌की कृपा बड़ी सहायक होती है। सबसे बड़ी बाधा तो है—संसारके भोग-पदार्थोंमें हमारी आसक्ति बनी हुई है, उनमें सुखकी धारणा दृढ़ हो रही है। इसीसे इनके वियोग या वियोगकी आशंकामें तो दुःख, ताप, व्याकुलता होती है, पर भगवान्‌के लिये नहीं होती। भगवान्‌के भजन तथा भगवत्कृपासे ही यह भोग-सुखकी धारणा नष्ट होगी। भजन करते ही रहना चाहिये—चाहे जैसे भी हो। भजनमें सदा असंतोष रहना चाहिये।

प्रभुकी मंगलमयी कृपाके दर्शन करो

सांसारिक विघ्नोंका अवसान न हो, विघ्न-पर-विघ्न आते रहें तो उसमें भी प्रभुकी मंगलमयी कृपाके दर्शन करो। यह समझो कि मेरी सारी संसारासक्तिका नाश करनेके लिये ही प्रभुकी महती कृपा विघ्नमयी भीषण मूर्ति धारकर पधारी है। प्रभु अब मेरी सारी आशा-आसक्ति और कामना-वासनाका शीघ्र ही सर्वथा नाश करना चाहते हैं। अतः अब तो और भी जोरसे उनका भजन-स्मरण करना है। बस, उनके मंगल-विधानमें सर्वथा और सदैव विश्वास करो और उनकी भेजी हुई प्रत्येक परिस्थितिसे लाभ उठाओ। यह परम सत्य है कि वे प्रत्येक परिस्थितिको हमारे लाभके लिये ही भेजते हैं। परिस्थिति वैसे ही अलग-अलग हो सकती है, जैसे निपुण वैद्यका विभिन्न प्रकारके रोगियोंके लिये विभिन्न प्रकारकी चिकित्साका चुनाव और प्रयोग। कहीं मीठी दवा, भर पेट भोजन और आराम मिलता है तो कहीं कड़वे भोजन, कड़वी दवा; कहीं अंगछेदन तो कहीं लंबे उपवासकी व्यवस्था की जाती है। पर दोनों ही स्थितियोंमें विधान होता है रोग-नाशके लिये। इसी प्रकार भगवान्‌के प्रत्येक विधानको मंगलमय समझकर सादर ग्रहण करो और हर परिस्थितिमें कृतज्ञतापूर्वक उनका स्मरण करते रहो।

यह कभी मत समझो कि भगवान्‌के घर, भगवान्‌के हृदयमें हमारे लिये जगह नहीं है। हमको तो वे अपने हृदयमें ही रखते हैं और वे सदा हमारे हृदयमें रहते हैं, पर सहसा प्रत्यक्ष नहीं होते। इसमें भी उनका कोई मंगलमय रहस्य ही है। अतएव सदा, सर्वप्रकारसे उल्लसित और प्रफुल्लित हृदयसे उनका मंगल-स्मरण करते रहो। समर्पण तो वे अपनी चीजका आप ही करा लेंगे, हमारी ओरसे समर्पणकी तैयारी होनी चाहिये। मनुष्यका कभी भी भरोसा नहीं करना चाहिये।

क्षणभंगुर प्राणीमें क्या सामर्थ्य है ? यह तो सब श्रीभगवान्की महिमा है, जो नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन हैं, अज हैं, अविनाशी हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, परम सुहृद हैं।

भगवान् हमारी प्रत्येक चाहको जानते हैं

भगवान्की कृपापर अटल और अडिग विश्वास बना रहे—ऐसी तुम्हारी चाह बहुत उत्तम है। भगवान् हमारी प्रत्येक चाहको जानते हैं और विश्वास रक्खो—वे सच्ची चाहको जरूर पूरा भी करते हैं।

भगवान्का तो स्वभाव ही दीनहितकारी है। वे सदा ही दीन–हीन–मलिन–पामरजनोंपर सहजप्रीति करते आये हैं–

बिरद-हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति।

(तुलसी–विनयपत्रिका)

तुम क्यों मानते हो कि तुमपर भगवान्की अत्यन्त प्रीति और असीम कृपा नहीं है ? तुम निश्चय मान लो कि तुमपर भगवान्की अत्यन्त प्रीति और असीम कृपा है। वह कृपा तुम्हें दीखती नहीं, इससे क्या हुआ ? भूख–प्यास आँखसे दीखती है क्या ? मनके हर्ष–विषाद आँखोंसे दीखते हैं क्या ? तुम गहराईसे विचार करो—यदि तुम्हारे मनमें अडिग और अटल विश्वासकी चाह होती है, तुम निरन्तर उनके स्मरणमें डूबे रहना चाहते हो, तुम सर्वदा प्रभुको अपने हृदयमें बसाना चाहते हो,स्वयं उनके हृदयमें बसना चाहते हो, तुमको उनकी चर्चासे रहित बातें अच्छी नहीं लगती, तुम्हें उनकी मधुर लीला–चर्चा बिना चैन नहीं पड़ता, तुम सदा–सर्वदा उनकी संनिधिमें ही रहना चाहते हो-यह क्या उनकी प्रत्यक्ष महान् कृपा नहीं है ? आजके युगमें ऐसे कितने आदमी हैं, जिनके ऐसे भाव हैं ? अतएव तुम विश्वास करो, फिर अनुभूति भी हो जायगी।

दूसरोंके दोष मत देखो

कौन विषयी है और कौन साधक है––यह सब मत देखो। दूसरोंके दोष देखनेसे अपनेमें गुणका अभिमान जाग्रत् होता है। भगवान्की ओरसे वृत्ति हटाकर लोगोंके दोष–दर्शनमें लगा देनेसे चित्तमें एक नयी ज्वाला—नयी अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। सब भगवान्के हैं—यही समझो। भगवान्के अनुग्रहका आश्रय रक्खो। उनकी कृपासे सारे विघ्न टल जायँगे, अवश्य ही टल जायँगे। भगवान्का प्रसाद तुमको बड़े–बड़े विघ्नोंके सरदारोंका सिर कुचलकर आगे बढ़ा ले जायगा।

प्रतिकूलताको भगवान्की मंगलमयी लीला समझो

भगवान्की कृपापर विश्वास करो—जगत्की प्रतिकूलताको भगवान्की मंगलमयी लीला समझो। इस प्रतिकूलताके पर्देकी आड़में वे ही छिपे हैं–यह दृढ़

विश्वास कर लो; फिर प्रतिकूलतामें भी वे दिखायी देंगे। प्रत्यक्ष न सही, निश्चय धारणासे तो दीखेंगे ही। प्रतिकूलतासे दुखी होना तो भगवान्‌की मंगलमयतापर, उनके प्रेमपर, उनके मंगलविधानपर विश्वास न होना प्रकट करता है। तुम क्यों इतने अधीर तथा दुखी होते हो ? तुमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है। वे सदा-सर्वदा तुम्हारे साथ रहते हैं--इसपर तुम विश्वास करो। फिर चाहे वे कहीं रक्खें-दूर रक्खें या पास, बैकुण्ठमें रक्खें या नरकमें। वे साथ रहते हैं, साथ रहेंगे। उनका बिछोह कभी होगा ही नहीं, चाहे वे स्थूल देहधारी न हों और स्थूल पाञ्चभौतिक नश्वर माया-देहधारी वे हैं भी नहीं। तब दुःख किस बातका ? हाँ, भगवान्‌का विरहताप यदि है, तब तो बहुत ठीक है; पर उससे मुक्त होनेकी इच्छा भी क्यों होनी चाहिये ? यदि वे अपने विरहकी आगमें जलाकर हमें अपने स्मरणका--हृदयके अंदर मधुर स्पर्शसुखका अनुभव कराना चाहते हैं तो बड़े ही आनन्दकी बात है। वे ऐसा ही कराते रहें और प्रसन्न होते रहें।

अपनेको हम भगवान्‌का मान लें। फिर भगवान् अपनी चीजको चाहे जहाँ जैसे रक्खें, चाहे जैसे बरतें। वे हमें अपनी चीज मानते हैं, इसीसे अपने मनकी करते हैं। यही तो हमारे लिये बड़े गौरव तथा सुखकी बात है कि वे हमें निस्संकोच अपनी वस्तु मानकर बरतते हैं। वे सुखी रहें--यही तो हमारे लिये परम सुख है। हम उनसे उनके सुखके सिवा अपने सुखकी अथवा और कोई कामना ही क्यों करें ?

भगवान् तुम्हारे पास सर्वदा रहते है

तुमको भगवान् इन आँखोंसे चाहे न दिखायी दें, पर तुम निश्चय समझ लो कि वे तुम्हारे पास सर्वदा रहते हैं। विश्वास करो-वे कभी भी तुमको छोड़कर अलग नहीं हो सकते; पर तुम्हारा पूरा निश्चय न होनेसे तुम उन्हें भूले हुए हो, इसीसे अशान्तिका अनुभव करते हो। हीरेका हार अपने गलेमें ही है, वह कपड़ेसे ढका है--इस बातको भूल जानेसे मनुष्य उसको बाहर ढूँढ़ता है और न मिलनेपर दुखी होता है। जब याद आ गया, तब कपड़ा हटाकर देख लिया और हार मिल गया। इसी प्रकार भगवान् सर्वदा तुम्हारे पास रहते हैं-"हृदयमें विराजित हैं, केवल निर्गुण-निराकाररूपमें ही नहीं, तुम्हारे जाने-माने सगुण-साकाररूपमें भी। विश्वास करो कि वे साथ रहते हैं-सदा साथ रहते हैं। इसके बाद निश्चय होगा-रहते ही हैं। फिर उनकी इच्छा होगी, तब वे दीखने लगेंगे। यह उनकी इच्छापर छोड़ दो। वे सदा साथ रहते हैं-यह क्या उनकी कम कृपा है ? उनकी यदि स्वप्नमें भी झाँकी हो जाय तो बड़ा सौभाग्य, उनकी महती कृपा है।

कदाचित् ऐसी बात न जँचे, यद्यपि यह है तो परम सत्य ही——तो उनके न मिलनेसे उनके वियोगमें, विरहमें जो उनका पल-पलमें स्मरण होता है, वह क्या कम सौभाग्य है? उसमें क्या उनकी कम कृपा है?

वे नहीं चाहते तो न मिलें, न दर्शन दें, बड़े-से-बड़ा दुःख दें; पर वह दुःख यदि नित्य उनका मधुर स्मरण कराता रहता हो तो क्या यह हमारी चाह नहीं होनी चाहिये कि उनके इस मधुर-मधुर स्मरण-सुखका महान् आनन्द-महान् सौभाग्य प्रतिक्षण मिलता रहे—चाहे वह वियोगजनित दुःख से ही मिलता हो। वह दुःख वस्तुतः परमानन्दरूप है, जो नित्य--निरन्तर प्राण-प्रियतम प्रभुकी स्मृति कराता रहता है।

भगवान् हमारे अत्यन्त निकट हैं

भगवान् हमारे अत्यन्त निकट हैं, सदा अति निकट ही रहते हैं, दिन-रात रहते हैं; उनका बिछोह-वियोग कभी होता ही नहीं, हमारा शरीर नहीं रहता, तब भी वे तो रहते ही हैं। नरकमें भी हमारे साथ रहते हैं, बैकुण्ठमें भी रहते हैं। वे कभी साथ छोड़ देंगे, ऐसी तो कल्पना ही नहीं करनी चाहिये। बस, उन्हें सदा——चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते अपने पास समझना चाहिये-समझना ही नहीं चाहिये, अनुभव करना चाहिये। जब वे साथ हैं, नित्य अपने पास हैं, तब यह विश्वास हो जानेपर उनके होनेका अनुभव भी होने लगता है। सदा-सर्वदा उनकी संनिधिका अनुभव किया करो। वे एक क्षणके लिये भी तुमसे अलग नहीं होते, यह निश्चय समझो। फिर वे साथ रहें या साथ रखें——इसका कोई प्रश्न ही नहीं है। वे सदा ही, सर्वत्र ही साथ हैं——

'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।'

'मैं उससे कभी अलग नहीं होता और वह मुझसे कभी अलग नहीं होता।' यह भगवान्‌ने कहा है। इस बातका विश्वास करो, अनुभव करो।

भगवान् छोड़ना जानते ही नहीं

भगवान् छोड़ना जानते ही नहीं। एक बार जो उनका हो जाता है, वे सदाके लिये उसके हो जाते हैं। उनका और हमारा सम्बन्ध कभी टूटनेवाला है ही नहीं——इस बातपर हमें विश्वास करना चाहिये। और रात-दिन उनकी अनन्त असीम कृपाके अगाध सागरमें अपनेको निमग्न देखना चाहिये। ऊपर-नीचे, दिनमें-रातमें, जीवनमें-मृत्युमें, सुखमें-दुःखमें, मधुरमें-भयानकमें——सदा-सर्वत्र उनकी अशेष-कृपामयी कृपा ही फैल रही है।

'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।'

भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान्‌का हूँ

मनमें निश्चय कर लेना चाहिये--'भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान्‌का हूँ।

जबतक शरीरमें अहंता है और शरीरसे सम्बन्धित प्राणि–पदार्थमें ममता रहती है, तबतक साधना आगे नहीं बढ़ती है, दिन–रात प्राणि–पदार्थोंमें राग–द्वेष बना रहता है। इसलिये या तो शरीर और संसारको असत् समझकर अहंता–ममताको मिटा देना चाहिये या बहुत ही सरल दूसरी चीज यह है कि 'अहंता' (मैं) को भगवान्‌की दासी बना दो (अर्थात् मैं न शरीर हूँ, न पुरुष–स्त्री हूँ, न और कुछ हूँ, न और किसीका हूँ। मैं तो एकमात्र उन्हींका 'दास' हूँ।) और सारी 'ममता'को–सारे 'मेरेपन'को भगवान्‌से जोड़ दो (अर्थात् कोई प्राणि–पदार्थ मेरा नहीं है। एकमात्र भगवान् मेरे हैं, भगवान्‌के श्रीचरण ही मेरे हैं। मैं उनका हूँ और वे मेरे)। बस, फिर अपने–आप ही सारी अशान्ति, सारे दुःख–दोष दूर हो जायेंगे। उनका अनन्त सुखमय स्मरण तुम्हारा जीवन बन जायेगा। इसमें पहले विश्वास करना होगा कि 'मैं उनका ही हूँ और वे ही मेरे हैं।' इसके बाद निश्चय होगा कि 'ऐसा ही है'। फिर अनुभूति होगी 'मैं उनका ही हूँ और वे ही मेरे हैं'।

स्मृति ही 'भगवत्प्रेम'

वियोगमें स्मृति निश्चित रहती ही है, स्मृति न रहे तो वियोगका अनुभव ही कैसे हो। प्रभुकी स्मृति कैसे भी हो–प्रेमीके लिये तो वह सर्वथा आनन्ददायिनी ही होनी चाहिये। प्रेमी तो उस संयोग–सुखको भी त्याज्य समझता है, जो स्मृतिके मधुर सुखको मिटानेवाला है। अतएव प्रत्येक वियोगकी स्थितिमें सुख ही होना चाहिये। यह स्मृति ही 'भगवत्प्रेम' है। नारदजीने कहा है–'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

विस्मृतिमें परम व्याकुलता होनी चाहिये, वह चाहे संयोगमें हो। और प्रभुकी स्मृतिमें ही परम आनन्द होना चाहिये, फिर वह चाहे चिर–वियोगमें ही हो। यही हेतु है कि प्रभुप्रेमी वियोगसे नहीं घबराता।

अयोग्यता प्रभु–कृपामें जरा भी बाधक नहीं होती

'प्रभुकी कृपा हम सभीपर सदा–सर्वदा, अनन्त है,' इस बातपर दृढ़ विश्वास कर लेना चाहिये। हमारी अयोग्यता प्रभु–कृपामें जरा भी बाधक नहीं हो सकती। व्यक्तिका प्रभुकृपापर तथा अपनी अयोग्यतापर पूरा विश्वास हो जाय अर्थात् अपनी अयोग्यता और प्रभुकी कृपा जहाँ एक साथ मिल जायँ, वहाँ प्रभुकी प्राप्तितक हो जाती है। प्रभु–कृपाकी प्राप्तिके लिये अपनी अयोग्यता ही योग्यता तथा अधिकार है। मनुष्य बेचारा किसपर क्या कृपा करे, वह तो स्वयं कृपाका भिखारी है। बस, भगवान्‌की अगाध कृपापर ही हम सबको विश्वास करना चाहिये।

भगवान्‌की कृपा सदा ही अमोघ है

'न मुझमें शक्ति–सामर्थ्य है, न अपने किसी साधनका भरोसा है'—ऐसा मानना भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेका सुन्दर तरीका है। जिसको अपने साधनका भरोसा है, वह किसीकी कृपा क्यों चाहेगा ? तुम्हारे मनमें जो प्रभुका ही भरोसा है, यह बहुत ही अच्छी बात है। यह भरोसा ही इस बातको स्पष्ट सिद्ध करता है कि 'तुमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है'। तुम्हारा यह भावमय मनोरथ अत्यन्त श्रेष्ठ और भगवान्‌को बहुत प्रिय है कि तुम सर्वदा, सर्वत्र, सभी दिशाओंमें, भारी–से–भारी कष्ट–दुःखमें भी भगवान्‌की अनन्त कृपाको देखते रहो, भगवान्‌का वरद हस्त सदा ही मस्तकपर रहे, वे कभी जरा भी पृथक् हों ही नहीं तथा सारी प्रतिकूलता भगवान्‌में समाकर अनुकूलता बन जाय। जिस भगवान्‌की कृपाने तुम्हारे मनमें यह इच्छा उत्पन्न की है, उसी भगवान्‌की कृपासे तुम्हारी यह सदिच्छा पूर्ण भी होगी। भगवान्‌की कृपा सदा ही अमोघ है। तुम्हारा सदा ही वह परम हित करनेमें लगी है। यह कृपा ही तुम्हारे विश्वासको अनन्य तथा अमिट करके तुम्हें भगवान्‌की नित्य संनिधिमें रख देगी।

भगवान् सदा अपनी पूर्ण कृपा ही देते हैं

तुम कहते हो—'मैं भगवान्‌की सारी कृपा नहीं चाहता, मुझे तो अपने हिस्सेकी ही चाहिये', पर कृपामय भगवान्‌की कृपामें हिस्सा–पाँती नहीं होती, वह तो सारी–की–सारी ही मिलती है। उसमें विलक्षणता यही है कि सारी दे देनेपर भी सारी बची रहती है। भगवान्‌के सम्बन्धमें उपनिषद्‌की वाणी है 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर पूर्ण ही बचा रहता है। जैसे भगवान्‌का स्वरूप नित्य पूर्ण है, उसी प्रकार भगवान्‌की दिव्य कृपाका स्वरूप भी नित्य पूर्ण है। अपनी उदारतावश यदि तुम अधूरी कृपामें प्रसन्न हो जाओ तो तुम्हारी इच्छा है। भगवान् तो सदा–सर्वदा अपनी पूर्ण कृपा ही देनेको प्रस्तुत हैं।

भगवान् सभीकी प्रार्थना सुनते हैं

मेरे भगवान् और तुम्हारे भगवान् दो नहीं हैं। वे एक ही सबके हैं और सभीकी प्रार्थना सुनते हैं, किसीकी उपेक्षा नहीं करते। भगवान्‌के लिये नगण्य जीव भी उतना ही प्रिय है, जितना कोई महान् प्राणी। पर जो कोई विश्वासपूर्वक अपनेको बिना शर्त उनके चरणोंपर चढ़ा देता है, उसके प्रति तो उनका स्नेह–सागर सहज

उमड़ पड़ता है। फिर वे उसको सर्वथा अपनाकर अपना बना लेते हैं और उसके अपने बन जाते हैं तथा उसके द्वारा वे ही सब कुछ करते—कराते हैं। वह तो केवल लोगोंके देखनेमें करनेवाला दीखता है। तुम भगवान्‌से प्रार्थना किया करो—मन—ही—मन अपनी मूकभाषामें; वे अन्तर्यामी अन्तरकी भाषाको बहुत जल्दी समझते हैं।

सारे पाप कट जाते हैं

अनन्त दयार्णव, सहज सुहृद् भगवान् कभी भी अपने सौहार्दसे हमलोगोंको वञ्चित नहीं करते। प्रेमावेशमें हम उन्हें उलाहना दें, निष्ठुर बतायें या और कुछ भी कहें तो वे इससे प्रसन्न ही होते हैं, कभी नाराज होते ही नहीं। वे हृदयके भावको देखते हैं, भाषाको नहीं । अटपटी भाषा तो उन्हें प्रिय हुआ करती है। पर यह निश्चय है कि वे न तो हमारी कभी उपेक्षा करते हैं, न हमारे हितसे कभी हाथ हटाते हैं, न कभी कठोर होते हैं। तुम प्रसन्न रहा करो। भगवान् परीक्षा नहीं ले रहे हैं। उनकी कृपाका पार नहीं है। वह तो सदा असीम है, अनन्त है। तुम चाहते हो कि तुमपर कृपा हो जाये, तो क्या इस समय तुमपर कृपा नहीं है ? तुम कृपापर विश्वास करो और निश्चिन्त हो जाओ। उनकी कृपापर विश्वास होनेपर तीन बातें अवश्य होती हैं—(१) बिल्कुल निश्चिन्तता आ जाती है, (२) स्मरण उत्तरोत्तर बढ़ता है तथा (३) परम संतोष हो जाता है—कुछ भी चाह नहीं रह जाती। भगवान्‌का कृपापात्र अनाथ, अभागा, दीन—हीन, मलिन—पतित कभी नहीं रहता। उसके सहवासे दूसरोंको भी भगवान्‌की कृपा प्राप्त हो जाती है और वे सनाथ बन जाते हैं। अतएव तुम ऐसी बात कभी न सोचा करो, न कल्पना ही किया करो। हाँ, उन्हें प्रेमका उलाहना देना हो, प्रेमवृद्धिके लिये तो दूसरी बात है। भगवान्‌के सम्मुख हो जानेपर सारे पाप कट जाते हैं। फिर पापका फल कहाँ रहता है। फिर तो भगवान्‌की लीला रहती है और रहता है उनके प्रेम भरे हृदयसे किया हुआ हमारे लिये प्रेमभरा मंगलविधान। उसमें जरा भी दुःख क्यों होना चाहिये।

मनमें वैराग्य नहीं होता—यही तो मोह है

संसारकी अनित्यता, क्षणभंगुरता तथा दुःखमयताको देखकर भी हमारे मनमें वैराग्य नहीं होता—यही तो मोह है। यह मोह मिट जाय तो फिर राग--द्वेष आदि जो बन्धन और दुःखके प्रधान कारण हैं, रहें ही नहीं। इसके लिये भगवान्‌की कृपा ही एकमात्र प्रधान उपाय है।

भगवत्कृपा सदा सर्वत्र पूर्ण होती है

भगवान्‌का मार्ग तो बहुत सुगम है, पर साथ ही बहुत कठिन भी है।

भगवत्-कृपाका भरोसा दृढ़ हो जानेपर बहुत सुगम है, नहीं तो बहुत कठिन है। अपनेको पता ही नहीं लगता और हम समझते हैं कि भगवान्‌की स्मृति हो रही है, पर मन किसी अनुकूलताकी उपासनामें लगा रहता है। इसीलिये प्रतिकूलता सहन नहीं होती——जरा-सी प्रतिकूलता मनमें तूफान पैदा कर देती है। पर जहाँ भगवान्‌की कृपापर दृढ़ भरोसा होता है, वहाँ प्रतिकूलतामें भगवान्‌के दर्शन होते हैं और वह दर्शन सारी प्रतिकूलताओंको अनुकूलतामें परिवर्तित कर देता है। भगवत्कृपाका दर्शन अमुक परिस्थितिमें हो, अमुकमें न हो- -इसका तो अर्थ होता है कि अमुक परिस्थितिकी अनुकूलताको भगवत्कृपा मानना और अमुक परिस्थितिकी प्रतिकूलताको भगवत्कृपा नहीं मानना। यह भगवत्कृपाका अखण्ड दर्शन नहीं है, जो भगवत्कृपापर दृढ़ भरोसा होनेपर हुआ करता है। तुनपर जो भगवान्‌की अनन्त, असीम कृपा है, वह कभी मिट या घट नहीं सकती। जो कृपा स्वरूपतः घटती, बढ़ती या हटती है, वह भगवत्कृपा नहीं है। हाँ, हमारा विश्वास जैसा होता है, वैसी ही वह दिखायी देती है—घटती, मिटती, हटती और बढ़ती हुई। पर वास्तवमें भगवत्कृपा सदा सर्वत्र पूर्ण होती है। इस महान् कृपापर दृढ़ विश्वास करो और उसपर भरोसा करो। तुम निरन्तर इस अनन्त कृपासमुद्रमें डूबे रहोगे। निस्संदेह मेरे पास तो यदि कोई बल-भरोसा है, तो बस, इस कृपाका ही।

प्रेम नित्य निर्मल है

जहाँ विशुद्ध प्रेम है, वहाँ तो प्रेम ही परम मूल्यवान वस्तु है, वहाँ निराशाका कोई प्रश्न ही नहीं है। वहाँ तो सब प्रेम-ही-प्रेम है और उसमें कामना, वासना एवं गुणदर्शनको कोई स्थान न होनेसे वह नित्य निर्मल है तथा उसमें नित्य नयी-नयी आशा-किरणोंका विकास होता रहता है। प्रेम कभी समाप्त होता ही नहीं, पूरा होता ही नहीं; यह तो बढ़ता ही रहता है। बस, सर्वोत्तम सम्बन्ध यही होना चाहिये, जिसमें केवल विशुद्ध प्रेमका अमृत भरा रहे।

भगवान् कभी क्षणभरके लिये भी मनसे न निकलें

मनमें निरन्तर प्रभुकी संनिधिका अनुभव होता है, यह बहुत ही उत्तम बात है। शरीर कहीं भी रहे, किसी भी स्थितिमें रहे, मन यदि सदा प्रभुके पास है तो हम सदा प्रभुके पास हैं। और जहाँ प्रभु रहते हैं, वहाँ जगत्‌के काम-क्रोधादि दूषित विकारोंकी तो बात ही क्या, जगत् भी नहीं कहा जा सकता। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—'संसार ! तुम मेरे समीप नहीं आ सकते। तुम वहाँ जाओ, जिसके हृदयमें नन्दनन्दन न बसते हों—

'सहित सहाय तहाँ बसि अब, जेहि हृदय न नंदकुमार।'

गोपियोंने तो संसारकी बातसे बहुत दूर ही परमात्मा तकके लिये हृदय में स्थानका अभाव बताया और दिन–रात सभी अवस्थाओंमें श्रीश्यामसुन्दरके हृदयमें बसे रहनेका अनुभव बताया–

नाहिंन रह्यो हिय महँ ठौर ।
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और ।।
चलत–चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदय तें वह स्याम मूरति छिन न इत–उत जात।।

उस व्यक्तिका महान् सौभाग्य है, जिसके हृदयमें प्रभु नित्य बसते हैं। तुम्हें जो जागते समय तथा स्वप्नमें भी प्रभुकी संनिधिका अनुभव होता है, यह बहुत ही उत्तम बात है। जो इस प्रकार भगवान्‌को नित्य–निरन्तर अपने मनमें बसाये रहते हैं—वैसे ही जैसे लोभी धनको बसाये रखता है, *'लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें'*– उनके भगवान् स्वयं प्रेमी बन जाते हैं और उसे सुख पहुँचानेमें ही स्वयं सुखका अनुभव करते हैं।

भगवान् कभी क्षणभरके लिये भी मनसे न निकलें, इसमें सावधानी रखना। जगत्‌का कोई भी विषय, कोई भी प्रलोभन, कोई भी दुःख, कोई भी सुख हमारे मनको क्षणभरके लिये भी अपनी ओर न खींच सके–इसके लिये सचेत रहना तथा भगवान्‌की असीम अतुलनीय कृपापर विश्वास रखकर नित्य निश्चिन्त रहना चाहिये।

हृदयमें भोगोंके बदले भगवान्‌का पवित्र निवास हो

मृत्यु बूढ़ा–बालक नहीं देखती। हम सभीके शरीरोंकी एक दिन ऐसी दशा होनी है। जैसा जिसका संसारमें रूप होगा, उसीके अनुसार कुछ दिन रो–गाकर संसार उसे भूल जाता है; अपने कर्म–संस्कार ही साथ जाते हैं। इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधानीके साथ नित्य–निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए भगवत्सेवाके भावसे ही यथायोग्य शुभ कर्मोंका आचरण करना चाहिये। मृत्युको देखकर संसारसे तथा भोगोंसे वैराग्य होना चाहिये। हृदयमें भोगोंके बदले भगवान्‌का पवित्र निवास हो। प्रभुकी स्मृति प्राणोंके साथ घुल–मिल जाय। इसलिये जीवनका एक क्षण भी पाप–चिन्तन और व्यर्थ–चिन्तनमें न खोकर सदा–सर्वदा प्रतिक्षण भगवत्स्मरणकी चेष्टा रखनी चाहिये। तुम सर्वदा–सर्वथा प्रभुपर ही निर्भर हो, यह बहुत ही अच्छी बात है। जो वास्तवमें प्रभुपर निर्भर होता है, परम–प्रेमास्पद, करुणासागर, अकारण कृपालु, सहज सुहृद हमारे वे प्रभु उसके जीवनको निर्विघ्न बनाकर अपना लेते हैं। उसके हृदयको अपना नित्य

निवास बना लेते हैं तथा उसको अपने हृदयमें लोभीके धनकी ज्यों बसा लेते हैं।

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें।
लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

—अपने हृदयको यदि हम और सब चीजोंसे खाली करके प्रभुके लिये उपयुक्त करदें तो प्रभु उसे अपना नित्य-निवास बनाकर एक क्षणके लिये भी वहाँसे नहीं हटते, इस बातपर विश्वास करके प्रभुके शरणापन्न हो जाना चाहिये।

नित्य-निरन्तर भगवान्‌का मधुर स्मरण करें

नित्य-निरन्तर भगवान्‌का मधुर स्मरण करते रहना। यह निश्चय रखना कि भगवान् अत्यन्त कोमलस्वभाव, दीनबन्धु, पतितपावन हैं। वे सहज ही क्षमाशील हैं। अपनी भूलोंके लिये पश्चात्ताप करते हुए यदि हम उनकी दयालुतापर विश्वास करके उनके शरणापन्न हो जायँ तो वे हमें तुरंत अपना लेते हैं। वे कुछ भी दोष-अपराध नहीं देखते। वे अकारण कृपालु और सहज सुहृद् हैं। अतएव उनके शील-स्वभावकी ओर देखकर निरन्तर उनके शरणापन्न होकर रहना चाहिये। जहाँतक बने, मनमें सांसारिक वासनाका, इन्द्रियतृप्तिकी इच्छाका लेश भी नहीं आना चाहिये। यह बहुत बड़ी बाधा है। इससे सदा बचना चाहिये और सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करके उन्हींकी स्मृतिमें चित्तको अखण्ड रूपसे लगाये रखना चाहिये। मनमें कभी निराश, उदास एवं विषादग्रस्त नहीं होना चाहिये। वे कहते हैं—'*मा शुचः*—मत सोच करो'। तब भी यदि हम सोच करते हैं तो दो ही बातें हैं—या तो हम शरणापन्न नहीं हैं या उनपर हमारा विश्वास नहीं है।

प्रभु-विरह आनन्दकी वस्तु है

प्रभु हमारे मनके भीतर-से-भीतरकी बातको, स्थितिको प्रत्यक्षवत् देखते हैं। उनसे कुछ छिपा भी नहीं है। सब कुछ देख-जानकर वे हमारे प्रेमास्पद परम सुहृद प्रभु हमारे लिये जो कुछ विधान करते हैं, वही हमारे लिये मंगलमय है। उसे सदा-सर्वदा परम प्रफुल्लित चित्तसे स्वीकार करना चाहिये। ऐसा होनेपर भी प्रभुके लिये विरह होना-प्राणोंका छटपटाना दोष नहीं है, परम वाञ्छनीय है। प्रभु-विरह प्रभुकी नित्य मधुर स्मृति करानेवाला होनेके कारण अत्यन्त ही आदरकी वस्तु है। इसलिये कुछ प्रेमीजन तो मिलनकी अपेक्षा भी विरहको अधिक आदर देते हैं और उसके सदा बने रहनेमें ही सुखका अनुभव करते हैं। कहीं-कहीं

मिलन–विरह दोनोंका मिलन भी हो जाता है। प्रेमकी बड़ी अटपटी स्थिति है।

प्रभु करते हैं अपने मनकी

प्रभु हम सबकी सुनते हैं, पूरी–पूरी सुनते हैं; पर वे करते हैं अपने मनकी। खास करके उनके लिये वे निःसंकोच होकर और भी अपने मनकी करते हैं, जिन्होंने अपने आपको उनके समर्पण कर दिया है। वे तो उन्हींके हाथके खिलौने हो गये हैं,वे चाहे जैसे खेलें–खिलायें। 'प्रभुकी इच्छामें मेरा कोई वश नहीं है'——यों न सोचकर प्रभुकी इच्छामें हमलोगोंको परम प्रसन्नताका अनुभव करना चाहिये। सदा–सर्वदा प्रभुका मंगलमय चिन्तन करना चाहिये तथा कभी भी, कहीं भी प्रभुको अपनेसे दूर नहीं समझना चाहिये। वे सदा–सर्वत्र हमारे साथ रहते हैं——सोते–जागते, खाते–पीते, सुख–दुःख, स्वर्ग–नरक——सभीमें, सभी समय। अतएव उन्हें निरन्तर अपने अत्यन्त समीप समझकर परम प्रसन्न रहना चाहिये और उनका चिन्तन करना चाहिये।

प्रभुकी मधुर स्मृति सदा समायी रहे

तुम्हारी यह कामना कि 'प्रभुकी मधुर स्मृति मेरे हृदयमें, मेरे रोम–रोममें, मन–बुद्धि–इन्द्रियमें सदा समायी रहे, कभी उनका मनसे वियोग न हो, कभी भी प्रभु मुझको छोड़कर इधर–उधर न चले जायँ, प्रेम कभी भी कम न हो, बल्कि बढ़ता चला जाय, गंगाकी धाराकी भाँति चित्तकी गति अनवरत प्रभुकी ओर बिना किसी रुकावटके निरन्तर बढ़ती रहे, कभी दूसरी ओर दृष्टि जाय ही नहीं, इसके लिये समय ही न मिले'——बहुत ही सुन्दर और सुखद है। जहाँ अहैतुक सहज प्रभु–प्रेम होता है, वहाँ प्रभु किसी भी परिस्थितिमें रक्खें, उनका संयोग रहे या वियोग–प्रेममें कमी हो ही नहीं सकती। प्रेमकी धाराके रुकने तथा कम होनेकी तो कोई कभी कल्पना ही नहीं। जहाँ नीच स्वार्थ होता है और केवल निज सुखकी इच्छा होती है, वहाँ प्रेमके कम होनेकी कल्पना होती है। दिव्य चिन्मय प्रेममें दूसरा रहता ही नहीं। फिर दूसरेकी ओर ताकनेका समय मिलनेका भी कोई प्रश्न ही नहीं है। इसीलिये भगवत्प्रेमी पुरुष प्रभुमें निमग्न हुए आनन्द–सुधा–रसका पान किया करते हैं, सदा मस्त रहते हैं।

कृपासिन्धु कृपा करेंगे ही

यह निश्चय समझो कि तुमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है और उन्होंने तुमको अपना लिया है। अतः तुम्हें भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके यह निश्चय कर लेना चाहिये तथा संतोष भी करना चाहिये कि भगवान् जब, जैसा, जो ठीक समझते हैं, वही करते हैं और वही करेंगे और उसीमें हमारा परम हित है। वे कृपासिन्धु कृपा करेंगे ही।

मनमें उदास, निराश तथा चिन्ताग्रस्त कभी नहीं होना चाहिये।

प्रेम अनन्त

मनकी साध तो प्रेमराज्यमें कभी पूरी होती ही नहीं; क्योंकि प्रेम अनन्त है। प्रेमीके हृदयकी जलन भी बड़ी मधुर होती है; क्योंकि वह प्रेमवैचित्त्यवश उनके नित्य पास रहनेपर भी नित्य वियोगका अनुभव कराकर प्रकट होती है। सचमुच ऐसे व्यक्ति जगत्‌के लिये बेकाम हो जाते हैं। उनका कौन स्पर्श करे और उन्हें स्पर्श करनेका अधिकार भी किसको है ? जिसे नित्य भगवत्–संस्पर्श प्राप्त है तथा जो भगवान्‌का है, उसकी ओर दूसरा देख ही कैसे सकता है ? उसके लिये तो सारा जगत् मिट गया। भगवान्‌के सिवा कुछ रहा ही नहीं। फिर वह किसका, कैसे स्पर्श करे ? जिनका स्पर्श उसे प्राप्त है, वे उसे छोड़ते ही नहीं—

चलत, चितवत, दिवस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदय ते वह स्याम मूरति छिन न इत–उत जात।।

और दूसरोंकी वह स्मृति ही क्यों करे ?

कृपापर हमारे विश्वासमें कुछ त्रुटि है

तुम्हारा यह कहना सचमुच ठीक ही है कि हम प्रभुकी कृपा तथा उनकी इच्छासे ही उन्हें याद कर सकते हैं। यह सर्वथा सत्य है कि भगवान्‌का भजन, भगवान्‌का स्मरण, भगवान्‌में मन–बुद्धिका समर्पण सब भगवत्कृपासाध्य ही है। अपने पुरुषार्थसे यह सब कुछ नहीं होता; परंतु बात इतनी ही समझनेकी है कि क्या हमपर भगवत्कृपा नहीं है ? भगवान्‌की कृपा नहीं है, ऐसा सम्भव ही नहीं है। उनकी अपार, अनन्त, असीम कृपा निरन्तर है। हम उस कृपा–समुद्रमें ही डूबे हैं; बस, कसर इतनी ही है कि उस नित्य, अपरिसीम कृपापर हमारे विश्वासमें कुछ त्रुटि है। विश्वास जितना ही दृढ़ और यथार्थ होगा, उतनी ही कृपाकी अधिक अनुभूति होगी और उनका स्मरण अधिक होगा और जगत्‌का चिन्तन घटेगा। जगत्‌की अनुकूलता–प्रतिकूलता भी तभीतक है, जबतक हम जगत्‌के दास बने हुए हैं, अपनेको विषयोंकी गुलामीमें समर्पण कर रक्खा है। जिस क्षण हम भगवान्‌के हो जायँगे, उसी क्षण सारी अनुकूलता–प्रतिकूलता मिट जायगी—भगवान्‌का मधुर स्मरणजनित परमानन्द ही हमारा जीवन बन जायगा। न जागतिक दुःख रहेगा, न सुख। ब्रह्माजीने भगवान्‌से कहा था—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः।।

(भागवत १०। १४। ३६)

'हे श्रीकृष्ण ! जबतक मनुष्य तुम्हारा नहीं हो जाता, तभीतक राग-द्वेष आदि चोर लगे रहते हैं, घर कैदखानेके समान हमें सदा बाँधे रखता है और हमारे पैरोंमें मोहकी बेड़ियाँ पड़ी रहती हैं।' अतः हमें उनकी कृपाका अनुभव करके उनका ही बन जाना चाहिये। यह अनुभव कृपापर विश्वास करनेसे ही हो जायेगा।

भगवान्‌का मंगलविधान मानकर प्रसन्न रहो

प्रभुकी मंगलमयी इच्छा समझकर प्रसन्न रहना चाहिये। प्रभुकी अहैतुकी कृपापर विश्वास करके मनमें तो सदा ही प्रसन्न रहना चाहिये। मनमें प्रतिकूलताका भाव न रहे तथा सभी समय, प्रत्येक अवस्थामें भगवान्‌का मंगलविधान मानकर प्रसन्न रहा जाय, तो बहुत उत्तम है। जब हम सब बातें सबके अनुकूल नहीं कर सकते, हमारी बात, हमारी क्रिया दूसरोंके मनके प्रतिकूल होती हैं, तब दूसरे हमसे प्रतिकूल आचरण करें, इसमें हमें बुरा क्यों मानना चाहिये ? क्यों सबसे अनुकूलताकी आशा करनी चाहिये ? फिर भगवान्‌की ओर चलनेवाले तथा विषयासक्त लोगोंके तो मार्ग ही दो होते हैं और वे एक-दूसरेसे उलटे होते हैं। भगवान्‌के मार्गपर चलनेवाले लोगोंको विषयी लोग मूर्ख मानते हैं। वे उनका उपहास करते हैं। लोक-प्रतिकूलता उनके अंगका आभूषण बन जाती है। अतएव सदा सब अवस्थामें खूब प्रसन्न रहकर मनसे भगवान्‌की स्मृतिमें निमग्न रहना और भगवान्‌को अपने समीप अनुभव करते रहना चाहिये—भगवान् अपने जनको कभी छोड़ नहीं सकते। भगवान्‌के सम्बन्धमें यह समझना चाहिये कि भगवान् हमारे हैं, उनपर हमारा अधिकार है। भगवान्‌से डरनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है उनको सुखी देखनेकी। हमारी प्रत्येक क्रियासे उनको सुख हो, बस यही साधना और यही साध्य है।

प्रभु ही मेरे सब कुछ हैं

सच्चा मूल्य आत्माका है और वह अपने प्रियतम भगवान्‌के साथ तादात्म्य प्राप्त कर चुकता है। फिर मन, इन्द्रिय तथा शरीरकी बात ही कहाँ है। सच्ची आत्मीयता प्राप्त हो गयी, उस भक्तका-प्रेमीका शरीर कहीं रहे, वह भगवान्‌से कभी विलग होता ही नहीं, हो सकता नहीं।

प्रभु ही मेरे सब कुछ हैं, वे सर्वसमर्थ हैं, वे भिखारियोंके दाता हैं, अनाश्रितोंके आश्रय हैं। वे ही मेरे सब कुछ हैं। पर भगवान् केवल सर्वसमर्थ दाता और आश्रय ही नहीं, वे प्रेमके भूखे हैं, प्रेमियोंको प्रेमास्पद मानते हैं और अपनेको उनका ऋणी मान लेते हैं। वे प्रेमी-सर्वस्व, प्रेमस्वरूप तथा आत्मस्वरूप हैं।

संसारमें जिसका कोई नहीं, उसीके भगवान् होते हैं

इस संसारमें जिसका कोई नहीं होता, उसीके भगवान् होते हैं। संसारमें कोई अपना न रहे—ऐसी स्थिति सौभाग्यका चिह्न तथा भगवत्कृपाका फल है। भगवान् तो कहते हैं—

जिसका कोई नहीं जगत्‌में, उसका प्रियतम होता मैं।
वह मेरे हियमें नित बसता, उसके हिय सुख सोता मैं।।
नहीं छोड़ता कभी उसे, मैं रहता नित्य उसीके पास।
वही हृदय—स्वामी है मेरा, मैं उसका निश्चय ही दास।।

'जिसका जगत्‌में कोई नहीं होता, उसका एकमात्र प्रियतम मैं होता हूँ। वह निरन्तर मेरे हृदयमें बसता है, मैं उसके हृदयमें सुखसे सोता हूँ। मैं उसे कभी नहीं छोड़ सकता, नित्य—निरन्तर उसीके पास रहता हूँ। वह मेरे हृदयका स्वामी है और मैं निश्चय ही उसका दास हूँ।'

इस प्रकार भगवान् ऐसे प्रेमीको केवल हृदयमें ही नहीं बसाते, उसके हृदयमें ही नहीं बसते, निरन्तर उसके पास रहते हैं, उसे कभी छोड़ते ही नहीं, वरं अपना हृदय—स्वामी बनाकर उसके दास हुए रहते हैं। दास, भला, स्वामीको छोड़कर कहाँ जाय ? अतएव जो भगवान्‌का हो जाता है और जिसको भगवान् स्वीकार कर लेते हैं, सचमुच उसका चित्त भगवान् सदाके लिये चुरा लेते हैं, और चित्त—वित्तके बदलेमें अपनेको दे डालते हैं—पूरा दे डालते हैं।

भगवान्‌में रमण करनेकी आदत डालनी चाहिये

यदि हमारे हृदयमें जरा भी भगवद्भक्ति या भगवत्प्रेम है तो भगवान् किसी रूपमें हमारे पास नित्य रहते ही हैं। हमारी बुद्धि, हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ पूर्णरूपसे नित्य भगवान्‌में ही रमण न करके जगत्‌में रमती हैं, इसीसे हमें उनके पास रहनेका अनुभव कम होता है। पर भगवान् कहते हैं, इससे हमें ऐसा ही मानना चाहिये और उनके नित्य पास रहनेका विश्वासपूर्वक निश्चय करना चाहिये, चाहे वे दीखें नहीं। साथ ही बुद्धि—मन—इन्द्रियोंको पूर्णरूपसे निरन्तर भगवान्‌में रमण करनेकी आदत डालनी चाहिये। यह काम मनके द्वारा ही हुआ करता है।

मनको विषय—चिन्तनसे हटाकर भगवच्चिन्तनमें लगायें

मनको सदा—सर्वदा विषय—चिन्तनसे हटाकर भगवच्चिन्तनमें लगाये रखना चाहिये। विशुद्ध भगवच्चिन्तन होनेपर विषयोंका चिन्तन अपने—आप ही छूट जाता है। परंतु कहीं—कहीं भ्रमवश भगवच्चिन्तनके नामपर भी

विषय–चिन्तन होता रहता है। इसे पता भी नहीं लगता कि विषय–चिन्तन हो रहा है और ज्यों–ज्यों विषय चिन्तन होता रहता है, त्यों–त्यों चित्त विषय–सागरमें डूबता जाता है और उसीमें मिथ्या आनन्दका बोध करता है। भागवतमें भगवान्‌ने कहा है–

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते।।
(११। १४। २७)

'बार–बार विषयोंका चिन्तन करनेसे चित्त विषयोंमें निमग्न होता है और मेरा चिन्तन होनेसे मुझमें ही तन्मय हो जाता है।' अतएव सदा–सर्वदा सावधानीसे विषय–गन्धसे रहित विशुद्ध भागवत्–चिन्तन करना चाहिये। जितना चित्त विषयोंमें आविष्ट होता है, श्रीकृष्णमें चित्तका आवेश उतना ही अधिक दूर हो जाता है–

विषयाविष्टचित्तानां कृष्णावेशः सुदूरतः ।।

भगवान्‌के चिन्तनमें एक मधुर आनन्दकी अनुभूति होनी चाहिये। फिर वह छूटता नहीं और दूसरे चिन्तनोंको नष्ट कर देता है।

भगवान्‌के मंगलविधानपर विश्वास रक्खो

तुम मनमें चिन्ता मत किया करो। भगवान्‌की कृपा तथा उसके मंगलविधानपर विश्वास रक्खा करो। वे हमारे लिये जब जो, जैसी व्यवस्था करें, उसीमें मंगल है। संसारकी तो सभी चीजें अनित्य और परिवर्तनशील हैं। उनके परिवर्तनमें भगवान्‌की लीलाका अनुभव करना चाहिये। संसारमें संयोग–वियोग होते ही रहते हैं। मनको, जहाँतक बने, प्रभुके चरणोंमें लगाये रखना चाहिये।

मनका मिलन अधिक महत्त्वपूर्ण तथा स्पष्ट होता है

मनका मिलन प्रत्यक्ष मिलनेसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण तथा स्पष्ट होता है। जिनको यह सौभाग्य प्राप्त है, वे ही इसे जानते हैं। शरीर दूर रहनेपर भी मनके मिलनमें कितना अधिक निकटका सम्बन्ध रहता है, कितनी अधिक सांनिधि रहती है, यह अनुभवका विषय है और मनका मिलन ही असली मिलन है। भगवान्‌ने गीतामें मन–बुद्धिके समर्पण–मनके मिलनपर ही विशेष जोर दिया है। शरीरका मिलन किसी भी कारणसे, किसीके द्वारा भी हट सकता या हटाया जा सकता है, पर मनके मिलनको हटानेकी शक्ति किसीमें नहीं है। यह चलते–फिरते, सोते–जागते, एकान्तमें–भीड़में, बाहर–भीतर, दिन–रात, घरमें–जंगलमें, मन्दिरमें–महलमें, पूजास्थलमें–रणक्षेत्रमें––सभी अवस्थाओंमें और सभी समय बना रह सकता है। उसमें न एकान्त स्थानकी आवश्यकता है, न एकान्त

समयकी। परम स्वतन्त्रतासे यह हो सकता है, रह सकता है। अर्जुनसे भगवान्ने कहा था—'तुम मनसे मुझमें मिले रहो और शरीरसे युद्ध करो।' अतएव शरीर घरमें रहे, घरके काममें रहे—मन भगवान्के पास सदा रहे या मनमें केवल भगवान् ही सदा बसे रहें।

सर्वसमर्पण

भगवान्को सर्वसमर्पण करनेके बाद मनुष्य निश्चय ही भगवान्की वस्तु हो जाता है। फिर भगवान् उसे अधिकारपूर्वक अपने इच्छानुसार बरतते हैं। इस प्रकार जो भगवान्की वस्तु हो जाता है और भगवान् जिसे इच्छानुसार बरतते हैं, उसीका जीवन धन्य है। फिर उसे न तो कुछ पानेकी चिन्ता रहती है न सोचनेकी ही कोई बात उसके लिये रह जाती है। उसके लिये सोचना, करना—कराना——सब प्रभु अपने जिम्मे ले लेते हैं। वह तो सर्वथा निश्चिन्त और योगक्षेमकी कल्पनाको छोड़कर नित्य-निरन्तर प्रभुके मधुर चिन्तनमें ही लगा रहता है। वह धन्य है।

प्रेमका आदर्श

भगवान्का स्वभाव एवं विरद है—'जो उनका हो जाता है, उसे सदाके लिये अपनाकर वे स्वयं उसके बन जाते हैं।' भूलना, त्यागना, हृदयमें न बसना, न बसाना—ये सब तब रहते ही नहीं। भगवान्ने दुर्वासासे कहा है——'ऐसे प्रेमी भक्त मेरा हृदय होते हैं, मैं उनका हृदय होता हूँ। वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते, मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता।' जब वे स्वयं ही हृदय हो जाते हैं और भक्त प्रेमीको अपनाकर अपना हृदय बना लेते हैं, तब त्यागकी तो कल्पना ही नहीं! वे उस प्रेमीके पराधीन हो जाते हैं। उसके मनमें अपने मनका प्रवेश कराकर एक-मन, एक-प्राण हो जाते हैं। यही प्रेमका आदर्श है। भगवान् इसमें कोई विलक्षण बात नहीं करते, उनका स्वभाव ही ऐसा विलक्षण है। वे जिसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं, वह चाहनेपर भी फिर उनसे अलग नहीं हो सकता। उसे तो वहाँ सदाके लिये बँधे रहना पड़ता है। यों प्रेमी और प्रेमास्पद भगवान् एक-दूसरेके द्वारा बाँधे जाते हैं और एक दूसरेको बाँध लेते हैं। यह बन्धन बड़ा ही अनोखा एवं मधुर होता है, अतएव इससे मुक्ति न भगवान् चाहते हैं, न प्रेमी चाहता है।

भगवान् सदा हमारे अपने हैं

भगवान्के साथ हमारा एक बार संयोग हो जानेपर फिर कभी वियोग नहीं हो सकता। थोड़ा-सा भी संयोग हो जाय तो भी भगवान् उसे छोड़ते नहीं। पर यह बात भगवान्की ही है। संसारकी वस्तु अथवा यहाँके प्राणि-पदार्थ तो

संयोग-वियोगशील हैं ही। जो सारी ममताको छोड़कर भगवान्‌का हो जाता है, भगवान् सदा उसको बड़े लोभसे अपने हृदयमें बसाये रखते हैं—

अस सज्जन मम उर बस कैसें।
लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

हमारे हृदयमें प्रभु रहें, हमारे हृदयका संयोग प्रभुसे सदा बना रहे, कभी बिछोह हो ही नहीं, तो भगवान्‌की भी ममता हमारे प्रति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(भागवत ९।४।६५, ६८)

अर्थात् 'जो स्त्री, मकान, पुत्र, बन्धु—बान्धव, प्राण—धन, इहलोक, परलोक आदि सभीको छोड़कर—सबकी ममता त्यागकर मेरे शरण आ जाता है, उसको मैं कैसे छोड़ दूँ ? ऐसा साधु मेरा हृदय है और मैं ऐसे साधुका हृदय हूँ; वह मेरे सिवा और किसीको नहीं जानता, मैं उसके सिवा और किसीको नहीं जानता।'

भगवान् सदा हमारे अपने हैं, पर हम उनके नहीं होते—हम अपनी सारी ममता उनको नहीं देते; इसलिये हम उनकी ममतासे वञ्चित रहते हैं, उनके हृदयमें लोभीके धनकी भाँति स्थान नहीं पाते।

केवल भगवान्‌का ही आश्रय

जगत्‌के पदार्थोंकी आशा रखना, किसी भी रूपमें इन्द्रिय—भोगोंमें सुख समझना और उनकी कामना करना, शरीरके आराम तथा मान आदिके लिये इच्छा करना—ये ही सब दुःख, अशान्ति और विषादके कारण हैं। नित्य—निरन्तर हर हालतमें भगवान्‌की कृपाका अनुभव करते हुए, प्रत्येक स्थितिमें संतोष मानते हुए केवल भगवान्‌का ही आश्रय करनेसे अशान्ति—दुःख मिट सकते हैं। बस, भगवान्‌का स्मरण—भजन होता रहे, फिर शरीर चाहे जिस हालतमें रहे। इन्द्रियसुखोंसे सर्वथा उपराम होकर मन भगवान्‌का चिन्तन करता रहे। यहाँकी प्रत्येक वस्तु अनित्य (नष्ट होनेवाली) और अपूर्ण (अभावका ही अनुभव करानेवाली) है। इनसे सुख कैसे हो सकता है ? सुख विषय—वैराग्य और भगवान्‌के भजनमें ही है। अतएव जगत्‌को भूलकर केवल भगवान्‌में ही रमे रहो। संसारका सुख केवल मृगतृष्णाके समान है। यहाँ सुखका लेश भी नहीं है।

भगवान् सदा मिले हुए हैं

संसारमें मिलन अमिलन तो प्रायः प्रारब्धाधीन है और इसमें महत्त्व ही क्या है ? सच्ची बात तो यह है कि हमारे मनमें सदा भगवान् से मिलनेकी चाह जाग्रत रहनी चाहिये और वे भगवान् सदा मिले हुए हैं ही। चाह उनकी मधुर स्मृति कराती है, जो मिलनसे भी बढ़कर सुखदायिनी होती है। इससे भगवत्प्रेमीजन भगवान्की वियोगजनित पीड़ामें उनकी मधुर स्मृतिका अति मधुर आस्वादन पाकर परमातिशय सुखका अनुभव करते हैं। हम सबको, बस, उन सच्चे सुहृद् परम प्रेमी, माधुर्य–सौन्दर्य–कारुण्य–औदार्य–सौशील्यके अगाध समुद्र भगवान्की स्मृतिमें ही डूबे रहना चाहिये। मनुष्य तो बालूकी भीत है; कब ढह जाय, क्या पता है। बिजलीकी चमकका क्या भरोसा ? बस, हमलोगोंके जीवनका एकमात्र आधार, आश्रय, लक्ष्य, गति––सब कुछ भगवान् ही होना चाहिये।

भगवान् ही मेरे हैं

प्रभु ही जीवनके सब कुछ बन जायँ, अपना कुछ रह ही न जाय'–ऐसी इच्छा बहुत ही ठीक है। सच्ची इच्छाको भगवान् अवश्य पूरी करते हैं। तुम ऐसा मानते ही क्यों हो कि भगवान्ने कुछ बाकी रखा है। तुम, बस, विश्वास करके यों मान लो कि भगवान् ही मेरे हैं और मैं उनका हूँ! उनकी कृपा तो अपार है ही और वह भी अहैतुकी। पर प्रेममें कृपाकी भी कोई महत्ता नहीं है। प्रेमीके प्रेम–रसास्वादनके लिये भगवान् स्वयं ही लालायित रहते हैं। हम ऐसे भगवान्के सुखमें सुखी रहनेवाले बन जायँ कि बस, भगवान्को ही हमारी सदा चाह बनी रहे। वे हमें अपने पास रखनेमें और हमारे पास रहनेमें ही सुखका अनुभव करें।

प्रभुका अधिकार

तुम्हारे ये शब्द मुझे बहुत अच्छे लगे–'अब तो प्रभुकी शरणमें आ गया हूँ। सब तरफसे मन–बुद्धि–इन्द्रियोंको समेटकर प्रभुके चरणोंमें रख देता हूँ, प्रभुके चरणोंमें लगा देना चाहता हूँ। मैं अब संसारके प्राणि–पदार्थोंके लिये नहीं रोता, अब तो प्रभुके लिये ही रोना रह गया है। मन– बुद्धि–प्राणोंपर, रोम–रोमपर, श्वास–श्वासपर प्रभुका अधिकार है। मेरा अपना कुछ भी नहीं है। प्रभुकी अखण्ड मधुर स्मृति ही मेरी है, उसमें अपने–आपको भूल जाऊँ, अपने- आपको सदाके लिये खो दूँ, अपनेको डूबो दूँ। मेरी अपनी अलग कामना, वासना, इच्छा आदि रहे ही नहीं।' भगवान्को ये भाव अत्यन्त प्रिय हैं। तुमपर भगवान्की बड़ी कृपा है, जो तुम्हारे मनमें ऐसे सद्भावोंकी उत्पत्ति होती है। भगवान्के शरणापन्न होनेवालोंके लिये ये परम आदर्श भाव हैं।

मंगलविधानपर विश्वास

मनुष्य भूलसे भगवान्‌की आशा न करके, भगवान्‌की शरण न होकर—सांसारिक प्राणि-पदार्थोंका आशा-भरोसा करते हैं, उनके शरणापन्न होना चाहते हैं; इसीसे उन्हें निराश तथा दुखी होना पड़ता है।

भगवान्‌की कृपा एवं उनके मंगलविधानपर विश्वास करनेवालेको सदा प्रत्येक परिस्थितिमें संतुष्ट तथा प्रसन्न रहना चाहिये। जीवन-मृत्यु, लाभ-हानि, मान-अपमान, प्राप्ति-विनाश, संयोग-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता—सभी मंगलमयकी मंगलमयी लीलाके मंगलमय दृश्य हैं। इन सभी दृश्योंमें मधुर आनन्द सुधासे परिपूर्ण लीलामयकी लीलाचातुरीको देख-देखकर सुप्रसन्न होना चाहिये।

जगत्‌में दुःख बना ही नहीं है

तुम मनमें बहुत-बहुत प्रसन्न रहना, किसी प्रकार भी दुखी मत होना। मैं तुमसे यह सुनना चाहता हूँ कि 'मेरे लिये जगत्‌में दुःख नामकी कोई वस्तु है ही नहीं।' भगवान्‌के प्रेम-राज्यमें तो दुःखकी कल्पना ही नहीं है। उनके जगत्‌में वस्तुतः दुःख नहीं है। उनका जगत् भी सच्चिदानन्दस्वरूप ही है। हम जगत्‌में उनको न देखकर भोगोंको देखते हैं, इसीसे जगत् 'दुःखालय'के रूपमें प्रतीत होता है। तुम यह मान लो कि तुम्हारे लिये जगत्‌में दुःख बना ही नहीं है। तुम परिस्थितियोंमें सुख-दुःखकी कल्पना क्यों करते हो?

अनन्य प्रेमकी प्राप्ति

अनन्य प्रेमकी प्राप्ति प्रभु-कृपासे ही होती है; पर प्रभु-कृपा तो अपनेपर असीम, अनन्त है ही। हमारे विश्वासकी ही कमी है। 'उनका भजन नित्य-निरन्तर होता रहे, कभी भी क्षणभरके लिये भी उन्हें भुला न जाय, अपने साधनका कोई बल न रह जाय'—यह मनोभावना बड़ी ही सुन्दर है तथा भगवान्‌को सुख देनेवाली और उनके अनन्य भजनकी स्थितिको समीप लानेवाली है। हम जो कहते हैं—हम सर्वथा प्रभुके बन जायँ और प्रभु हमारे बन जायँ—सो प्रभु तो नित्य हमारे हैं ही। हम प्रभुके पूरे बन नहीं पाते, इसीसे प्रभुके हमारे होनेका हमें अनुभव नहीं होता। रही पाप-तापकी बात, सो पाप-ताप तो उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं, जिस क्षण हम प्रभुके सम्मुख होते हैं।

वैराग्य

संसारकी अनित्यता, क्षणभंगुरता तथा दुःखमयताको देखकर भी हमारे मनमें वैराग्य नहीं होता, यही तो मोह है। यह मोह मिट जाय तो फिर राग-द्वेष आदि, जो बन्धन और दुःखके प्रधान कारण हैं, रहें ही नहीं। इसके लिये

भगवान्‌की कृपा ही एकमात्र उपाय है।

निमित्तमात्र

घरवालोंके सम्बन्धमें तुमको अपने मनमें जरा भी दुःख नहीं मानना चाहिये। वे तो बेचारे निमित्तमात्र हैं। घरवाले तुम्हारे साथ जो व्यवहार करते हैं, उसमें भी भगवान्‌का मंगलविधान ही काम करता है, जो तुम्हारे अच्छेके लिये ही होता है। इसपर विश्वास रखना।

मधुर स्मृति

जगत्‌की वस्तुका यह स्वभाव है कि जिस वस्तुको मनुष्य चाहता है, वह सहज नहीं मिलती। या अलग हो जाती है तो उसकी स्मृति बहुत बढ़ जाती है और कहीं-कहीं तो उस मधुर स्मृतिका निरन्तर अमृत-प्रवाह बहने लगता है, जो समीप रहनेकी अपेक्षा अधिक सुखद और सरस होता है। अवश्य ही सांसारिक प्राणि-पदार्थोंमें या सांसारिक प्राणि-पदार्थोंके लिये ऐसी वृत्ति होनेपर उसका नाम 'आसक्ति' होता है तथा उसका फल दृढ़ बन्धन होता है। वही भगवान्‌में या भगवान्‌के लिये होनेपर उसका नाम 'प्रेम' होता है। और प्रेम तो स्वयं फलरूप ही होता है, उसका कोई दूसरा फल नहीं होता। जिस प्रेमका कोई दूसरा फल हो सकता है, वह प्रेम नहीं है, प्रेमके नामपर कामकी ही वहाँ क्रीड़ा होती है। भगवत्प्रेमीगण भगवत्संगकी अपेक्षा भी भगवान्‌की नित्य स्मृतिको अधिक महत्त्वकी वस्तु मानते हैं। इसलिये कहीं कहीं भगवान्‌का वियोग भी भगवान्‌की मधुर स्मृतिका कारण होनेसे भक्तों- प्रेमियोंके लिये अधिक वाञ्छनीय माना गया है।

स्वाभाविक वत्सलतापर भरोसा रखना चाहिये

भगवान् हमारे गुणोंको देखकर हमें अपनाते हों, ऐसी बात नहीं है। वे केवल देखते हैं हमारी भावनाको। गुण-दोषका विचार उनके हृदयमें अपनोंके प्रति नहीं होता। हमें उनकी स्वाभाविक वत्सलतापर भरोसा रखना चाहिये।

निरन्तर भगवान्‌के प्रेममें विभोर रहना तथा किसी भी प्रकारकी कोई चाह या किसी भी स्थितिकी कोई परवाह न रखकर प्रतिपल उनके मधुर मुस्कानयुक्त मुख-कमलको हृदयके पवित्र तथा एकदर्शी नेत्रोंसे निहारते रहना चाहिये। तुमको इसमें बिना किसी संदेहके विश्वास रखना चाहिये कि 'भगवान्‌ने तुमको अपना लिया है।' अतः तुमको अब निश्चिन्त हो जाना चाहिये; अब चिन्ता या चिन्तन करना है, तो केवल चिन्तामणिचतुर प्रभुका। रात-दिन उन्हींके साथ घुल-मिलकर रहना है, उन्हींका स्मरण करना है तथा उनके सिवा जगत्‌का कोई चिन्तन रहे ही नहीं।

जगत्‌का कभी कोई चिन्तन हो तो वह भी केवल उन्हींके सम्बन्धसे केवल उन्हींको लेकर। अन्य किसीकी सत्ता न रहे और न किसीसे सम्बन्ध ही रहे। ऐसा विश्वास करो एवं ऐसा बार-बार निश्चय करो कि तुम ऐसे बन गये हो।

अकाट्य निश्चय होना चाहिये

संसारके चित्र कभी मनमें आयें तो या तो उन्हें ललकारकर निकाल दो या उन्हें प्रभुके बस दो। तुम कहोगे कि 'मुझमें कोई बल नहीं है, कोई सामर्थ्य नहीं है'। ठीक है। पर प्रभुमें तो सब सामर्थ्य है। तुम केवल इच्छा और निश्चय करो फिर सारा काम बना-बनाया ही है। तुम्हें अपने बलकी कोई आवश्यकता नहीं। तुम्हारी तो अनन्य इच्छा, अकाट्य निश्चय होना चाहिये; फिर प्रभु अपनी चीजको आप ही सँभालेंगे, उन्हें कहनेकी आवश्यकता नहीं है। हम केवल यही मानते रहें-'हम केवल उन्हींकी चीज हैं। उनके सिवा हमारा न कोई है न किसीसे किसी प्रकारका सम्बन्ध है। सारे नाते-नेह, सारी प्रीति, सारा अपनापन, आत्मीयताका सम्बन्ध एकमात्र उन्हींसे है। सब कुछ वे ही हैं।' बार बार सोचो, निश्चय करो, अनुभव करो- -ऐसा ही है, ऐसा ही है। तुम्हारे निश्चयसे ही तुम्हें अनुभव हो सकता है कि जीवन-मरण, सुख-दुःख भी वे ही हैं।

चाह

तुमने अपने विषयमें जो कुछ लिखा, उससे तुम्हारे मनमें चलते हुए दो भाव-प्रवाहोंका पता लगता है-(१) कभी तो तुम अपनेको बहुत दुःखी मानते हो तथा (२) कभी हृदयमें प्रभुकी बहुत मीठी स्मृतिके परमानन्दका अनुभव करते हो। तुम्हारी इस द्विविध मनोवृत्तिसे तुम्हारे हृदयके प्रभु-प्रेमका पता लगता है। प्रेम तो कभी यह कहना जानता ही नहीं-'मैं पूरा हो गया'; उसमें तो सदा कमीका अभाव ही अनुभव होता है। तुम्हारी यह चाह सचमुच प्रेमकी ही शुभ चाह है कि 'मेरी चित्तवृत्ति एकमुखी बन जाय। मेरे चित्तमें दूसरी बात रहे ही नहीं; नित्य निरन्तर प्रभुकी मधुर-मधुर स्मृतिमें ही मन डूबा रहे, दूसरी कोई बात सुहाये ही नहीं आदि।' यह चाह ही प्रभुकी नित्य अखण्ड स्मृति बनी रहनेका परम साधन है।

जीवनकी सफलता

'तुम्हारा श्रीभगवान्‌में मन समर्पित हो जाय, तुम भगवान्‌के हो जाओ, भगवान् तुम्हारे हो जायँ-यह मैं हृदयसे चाहता हूँ। मैं तो मानता हूँ कि तुम भगवान्‌के ही हो, भगवान्‌ने तुमको स्वीकार कर लिया है। हृदयमें भगवान्‌की स्मृति हो-इसका बहुत मूल्य है। मैं तो प्रत्येक व्यक्तिसे यही कहता हूँ कि 'मनमें

भगवान्‌की स्मृति निरन्तर बनी रहे और एक क्षणके लिये भी उनका विस्मरण न हो, तभी जीवनकी सफलता है।'

प्रभु अपनाकर आत्मसात् कर लेते हैं

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने जो कुछ कहा है, उसका अक्षर-अक्षर सत्य है। भगवान्‌ने जो कुछ कहा है, वे वैसा ही करनेको सदा तैयार रहते हैं और निश्चित वैसा ही करते भी हैं। जो उनके वचनोंपर विश्वास करके उनका बन जाता है, उसको वे तुरंत अपनाकर आत्मसात् कर लेते हैं, अपने हाथका यन्त्र बना लेते हैं—इसमें जरा भी संदेह नहीं करना चाहिये।

जब भगवत्प्रीति ही जीवनका परम सुख बन जाता है

मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियोंसे होनेवाली प्रत्येक क्रिया भगवत्प्रीत्यर्थ ही होनी चाहिये। शुरुसे कोई क्रिया भगवत्प्रीत्यर्थ न हो तो पीछे उसे भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये। इसी आशयसे श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(११। २। ३६)

जब भगवत्प्रीति ही जीवनका परम सुख बन जाता है, तब सहज ही सारे अंग—भीतरी और बाहरी—केवल भगवत्सेवामें ही लग जाते हैं और इस सेवामें इतनी रति, प्रीति या सुखोपलब्धि होती है कि फिर वह प्रेमी भगवान्‌के देनेपर भी उनकी इस सेवाको छोड़कर मुक्ति स्वीकार नहीं करता। भगवान् और भक्तका यह सम्बन्ध एक जन्मतक ही नहीं रह जाता, अनेक जन्म हो सकते हैं, पर सभी जन्मोंमें यह सम्बन्ध—भगवत्प्रीति-सम्पादनरूप सेवाका सम्बन्ध बना रहता है। इसीसे प्रह्लादने भगवान्‌से कहा था—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचलाभक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

(विष्णुपुराण १। २०। १८-१९)

'नाथ! मैं जिन-जिन हजारों योनियोंमें जाऊँ, उन सभी योनियोंमें तुम्हारे प्रति मेरी अचला भक्ति बनी रहे। अविवेकी मनुष्योंकी विषयोंमें जैसी नित्य प्रीति रहती है, तुम्हारा अनुस्मरण करते हुए वैसी ही मेरी प्रीति, हे अच्युत! तुममें बनी रहे। तुम्हारी प्रीति मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।'

जीवन–मरण, संयोग–वियोग, लाभ–हानि, सुख–दुःख—सभी प्रभुके प्रीत्यर्थ ही हों तथा सभीमें उन्हें सुखी देखकर सुखकी परम अनुभूति होती रहे।

हमारे मनमें प्रभुका नित्यनिवास हो

हृदयका जो अमूल्य धन है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। वह धन है–प्रभुकी मधुर स्मृति–हृदयमें नित्य प्रभुके सांनिध्यकी अनुभूति—रोम–रोमसे उनके नित्य स्पर्शसुखानुभवका आनन्द। शरीर कहीं रहे–हमारे मनमें प्रभुका नित्यनिवास हो या हमारा मन ही प्रभुकी लोभनीय सम्पत्ति बन जाय। प्रभुके समान प्रेमी प्रभु ही हैं। वे प्रेमीको प्रेमास्पद बनाकर नित्य उसको अपने हृदयमें बसाये रहते हैं, क्षणभर भी दूर नहीं करते और स्वयं तो सदा प्रेमीके हृदयमें बसे ही रहते हैं। प्रेमीके मनको सदा अपने पास रखते हैं और अपने प्रेम-तत्त्वज्ञ मनको प्रेमीकी सम्पत्ति बना देते हैं। भगवान् रामका संदेश है

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु रहत सदा तोहि पाहीं।
जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

तुम्हारी यह चाह प्रभुके लिये बड़ी ही सुखकर एवं मधुर है कि चाहे तुम कहीं भी रहो, कैसी भी स्थितिमें रहो, प्रभुकी स्मृतिरूपी धन तुम्हारे हृदयसे कभी न निकले। रात-दिन, सोते–जागते, उठते–बैठते, खाते-पीते, सदा–सर्वदा प्रभुके मधुर–मनोहर दर्शन हृदयमें होते रहें। प्रभु तो यह चाहते ही हैं। वे कभी अपने ऐसे प्रेमीको अपने हृदयसे दूर नहीं करते। यह उनका सहज स्वभाव ही है। धन्य है इन प्रेमी और प्रेमास्पदको।

भगवान्‌की नित्यलीला है

जगत्‌में जगत्‌की दृष्टिसे केवल दुःख और मृत्यु ही हैं। भगवान्‌की दृष्टिसे भगवान् और भगवान्‌की नित्यलीला है। जो भगवान् तथा भगवान्‌की नित्यलीला देखते हैं, वे हर हालतमें सदा सुखी रहते हैं। जो जगत्‌के भोग-विषयोंको देखते हैं, वे रात-दिन दुःखाग्निमें जलते रहते हैं। अतएव जगत्‌के भोगोंसे मनको हटाकर नित्य भगवान्‌में लगानेमें ही बुद्धिमानी है।

अभागा कौन ?

भगवान्‌की पवित्र स्मृति जैसे भी हो, परम मंगलमयी है। वह धोखेसे भी हो तो हर्ज नहीं। उनकी स्मृति सारे कलुष–कलंकोंको धोकर जीवनको विशुद्ध, उज्ज्वल एवं भगवान्‌के निजनिवासरूप बना देती है। अभागा तो संसारमें वह है,

जो भगवच्चरणोंमें प्रेम न करके भोगोंमें प्रेम करता है

सुनहु उमा ते लोग अभागी।
हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

जिनके भगवच्चिन्तन होता है, जिनका भगवच्चरणोंमें प्रेम है, वे जगत्‌की भोग-दृष्टिसे चाहे जैसे भाग्यहीन माने जाते हों, वस्तुतः वे ही सच्चे सौभाग्यशाली, सच्चे भाग्यवान् हैं। तुम भगवान्‌का नित्य चिन्तन करते रहो, अपनेको उनके श्रीचरणोंमें डाले रहो। फिर सारी बात आप ही सुधर जायगी। जबतक हम भगवान्‌के न होकर भोगोंके हैं, तभीतक सब बिगड़ी हुई है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३६)

ब्रह्माजीने कहा—'भगवन्! जबतक मनुष्य तुम्हारे नहीं हो जाते, तभीतक रागद्वेषादि चोर लगे रहते हैं, तभीतक घर जेलखाना बना रहता है और तभीतक मोहकी बेड़ियाँ पैरोंमें पड़ी रहती हैं।'

अतएव हमें चाहिये कि हम अपनेको भगवान्‌का बनाकर, जीवनको उनका अनुगत बनाकर, निश्चिन्त होकर उनका चिन्तन करें।

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम कौ, नामु जपु, तुलसी तजि कुसमाजु॥

परम सौभाग्यशाली कौन ?

भगवान्‌की कृपा तो समीपर है; परंतु जो उनका होकर, उन्हींके प्रेममें सब-कुछकी ममता त्यागकर रहना चाहता है, वह तो उनका प्रेमास्पद बन जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

अस सज्जन मम उर बस कैसें।
लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

जैसे धनके लोभीके मनमें धन अत्यन्त प्रियरूपमें निवास करता है, वैसे ही भगवान्‌में ही ममता रखनेवाला व्यक्ति भगवान्‌के मनमें लोभीके धनकी तरह नित्य निवास करता है। अतः उसके समान परम सौभाग्यशाली कौन होगा ?

भगवान्‌की मधुर स्मृति सबसे बड़ी मूल्यवान् है

भगवान्‌को क्षणभर भी न भूलनेकी तुम्हारी इच्छा बहुत ही श्रेष्ठ है। भगवान्‌की मधुर स्मृति सबसे बड़ी मूल्यवान् तथा परमप्रिय वस्तु है। 'स्मृति क्षणभरके लिये भी कहीं छूटी कि परम व्याकुलता हुई' ऐसा हो जाय तो फिर

स्मृति नहीं छूटती। हमलोग भगवान्‌की विस्मृतिको सह लेते हैं, इसीसे स्मृति छूटती है। भगवान् सब जगह रहकर भी एक ही जगह रह सकते हैं और रहते भी हैं तथा एक ही जगह रहकर भी अनन्त जगहोंको एक जगह बना सकते हैं। अर्थात् एक ही साथ अनन्त जगह रह सकते हैं और रहते भी हैं। वे सर्वसमर्थ हैं।

हर हालतमें ही सुखी रहना चाहिये

प्रतिकूल परिस्थितिमें भगवान्‌का मंगलविधान माननेकी बात कही जाती है, वह भी प्रेमकी दृष्टिसे तो नीची ही बात है। प्रेमी मंगल–अमंगल नहीं जानता, वह तो केवल प्रेमास्पदके सुखको ही जानता है। उसके लिये कभी कहीं प्रतिकूलता रहती ही नहीं, सर्वत्र सर्वदा अनुकूलता ही रहती है। वह निरन्तर और नित्य प्रेमास्पद प्रभुकी मधुर स्मृतिमें ही तल्लीन रहता है, शरीरका कुछ भी हुआ करे। जैसे सच्चा ज्ञानी नाम–रूपसे सदा पृथक्—ऊपर उठा हुआ होता है, वैसे ही सच्चा प्रेमी प्रेमास्पद प्रभुके मधुर स्मरणमें नाम–रूप (शरीर और शरीरके नाम) का परित्याग कर चुकता है। इससे वह सदा सुखी रहता है। अतएव हर हालतमें ही सुखी रहना चाहिये, दुःख करना भूल है। इससे प्रभुकी सतत् मधुर स्मृतिमें बाधा आती है। अपनी शारीरिक पराधीनताका ख्याल आनेसे मानस–दुःख होता है और इस प्रतिकूलतामें कभी–कभी दूसरोंको कारण मान लेनेसे उनके प्रति सद्भावनामें कमी आ सकती है। ये तीनों ही बातें अपने लिये हानिकर हैं।

प्रभु नित्य हमारे हैं

प्रभुका विरह–ताप होना सौभाग्यकी बात है। कई प्रेमी तो प्रभुके मिलनकी अपेक्षा प्रभुके विरह तापमें विशेष सुखका अनुभव करते हैं। प्रभुका विरह जहाँ अत्यन्त दुःखद है, वहाँ प्रभुकी मधुर स्मृतिमें नित्य सहायक होनेके कारण परम सुखरूप भी है। हमको यही मानना चाहिये और यही सत्य है कि 'प्रभुकी हमपर अनन्त कृपा है। प्रभु नित्य हमारे हैं। हमसे न्यारे वे कभी होते ही नहीं। सदा–सर्वदा, रात–दिन, जाग्रत–स्वप्न—सबमें साथ रहते हैं।' ऐसी दृढ़ मान्यता हो जानेपर यह केवल मान्यता नहीं रहती, यही वास्तविक रूपमें स्फुरित होने लगता है और प्रभुकी संनिधिका अनुभव होने लगता है। खाते, सोते, बैठते, बात करते आदि समय भी उनकी संनिधिका, उनके सामीप्यका अनुभव होने लगता है। जो विश्वास करते हैं, उन सभीको किसी न–किसी अंशमें होता है। तुमको भी अवश्य होना चाहिये। तुम और

भी दृढ़ विश्वास करो। यदि हम यह मानते हैं कि 'हम तो भगवान्‌को याद करते हैं, भगवान् हमको याद नहीं करते' तो यह मानना ठीक नहीं है। भगवान् यदि कृपापूर्वक हमें याद न करें तो हम उन्हें याद कर ही नहीं सकते। अतः निरन्तर भगवान्‌को अपना मानना चाहिये और बार-बार यह विश्वास तथा अनुभव करना चाहिये कि भगवान् तथा भगवान् की कृपा नित्य-निरन्तर हमारे साथ है और भगवान्‌का दिव्य मधुर अनन्य प्रेम हमें प्राप्त हो रहा है।

मन बड़ा ही दुष्ट है

हमारा मन बड़ा ही दुष्ट है। वह भाँति-भाँतिके बहाने बनाकर भोगोंमें रचा-पचा रहना चाहता है। प्रयत्न करते-करते भी वह चुपके-से हमारे जीवनमें भोगोंका दासत्व ला देता है। हम भगवान्‌को भूलकर भोगासक्त हो जाते हैं। यह बड़ी ही शोचनीय स्थिति है। अतएव हमें बड़ी सावधानीके साथ सदा-सर्वदा भोगासक्तिसे बचे रहकर पवित्र भावसे नित्यानन्दमय, सर्वमय तथा सर्वातीत भगवान्‌का स्मरण करते रहना चाहिये। सदा ध्यान रहना चाहिये—भगवान्‌के नामपर भी मनमें कहीं जगत् तो नहीं आ रहा है। यद्यपि जगत् भी भगवान्‌से ही भरा है, तथापि वह भगवान्‌को छिपाकर भोगोंके रूपमें आ धमकता है और हमारी मन-बुद्धिपर, शरीर-इन्द्रियोंपर अधिकार करके हमें भोगोंके नीच दासत्वमें लगा देता है। हमें पता नहीं रहता—हम कहाँ हैं और बैकुण्ठके नामपर नरकमें पहुँच जाते हैं। भगवान् सदा-सर्वदा बचावें।

सत्संगकी आवश्यकता है

यह सत्य है कि अच्छे-बुरे वातावरणका असर मनपर पड़ता है और यह भी सत्य है कि मनके विकारोंको, दुर्बलताओंको तथा दोषोंको दूर करने एवं भगवान्‌के प्रति दृढ़ विश्वास एवं आस्था उत्पन्न करनेके लिये सत्संगकी आवश्यकता है। अतएव सत्संगकी इच्छा तथा सत्संग प्राप्तिके लिये प्रयत्न भी करना चाहिये। परंतु यदि इतनेपर भी बाहरी सत्संग न मिले तो सत्संगके लिये व्याकुल रहते हुए इसे भी भगवान्‌का मंगल-विधान मानना चाहिये। वे प्रभु तो अलग होते नहीं। वे स्वयं ही ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देंगे, जिससे सत्संगसे बढ़कर लाभ उस विपरीत वातावरणमें ही हो जायेगा। वे चाहेंगे तो सत्संगका शुभ अवसर जुटा देंगे, किसी संतको भेज देंगे या स्वयं ही प्रकट अथवा अप्रकटरूपसे समस्त विकारों, दुर्बलताओं तथा दोषोंको हरकर तुम्हें भलीभाँति अपना लेंगे। अतः जरा भी निराश न होकर सदा-सर्वदा भगवान्‌की कृपापर विश्वास रक्खो और सदा-सर्वत्र उनकी कृपाको देखते रहो।

वह मनुष्य सचमुच अभागा है, जिसका मन भगवान्‌को भूलकर संसारके प्राणि–पदार्थोंमें आसक्त रहता है–

सुनहु उमा ते लोग अभागी।
हरि तजि होहिं विषय अनुरागी।।

जिसका मन संसारके प्राणि–पदार्थोंमें अटका नहीं है, जो मनसे भगवान्‌में प्रेम करना चाहता है, वह पवित्र मनवाला पुरुष अभागा कैसे ? एक वही तो असली भाग्यवान या सौभाग्यशाली है––

रमा बिलासु राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़भागी।।
अहह धन्य लछिमन बड़ भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी।।

जो मनुष्य रामका होकर या रामका होनेकी इच्छावाला होकर भी अपनेको अभागोंमें मानता है, वह भूलसे रामका तिरस्कार करनेवाला होता है।

सुहृदं सर्वभूतानाम्

तुम मनसे भी किसीका बुरा नहीं सोचना चाहते हो, वाणी और व्यवहारसे तो किसीका बुरा करते ही नहीं, यह बहुत ही उत्तम तथा भगवान्‌का प्रीति–सम्पादन करनेवाली बात है।

जिस प्रेममें किसी लौकिक, पारलौकिक कामना–वासनाका कलंक नहीं होता, जो शुद्ध तथा सूक्ष्मतर होता है, वह प्रतिदिन–प्रतिक्षण बढ़ता ही जाता है।

मनुष्यको कभी यह नहीं सोचना चाहिये कि वह भगवान्‌का नहीं है। तुम भगवान्‌के हो, भगवान् सदा तुम्हारे हैं, उनपर तुम्हारा पूर्ण अधिकार है–इसमें जरा भी संदेह कभी नहीं करना चाहिये। भगवान् तो प्राणिमात्रके सहज सुहृद हैं–

'सुहृदं सर्वभूतानाम्'।

भगवच्चर्चा बड़ी कल्याणमयी है

भगवत्कृपाका आश्रय करनेपर जीवनमें कभी कोई अपवित्रता, मलिनता, काम–क्रोधादि विकारोंके कारण होनेवाले दोष आदि नहीं आ सकते। भगवत्कृपासे अपने–आप वह सारी बड़ी–से–बड़ी कठिनाइयोंसे पार होता जाता है।

किसी भी बहाने कुछ भगवत्स्मृति तथा भगवच्चर्चा हो जाय, यह सौभाग्य समझना चाहिये। विषयचर्चा बड़ी सुखकर होनेपर भी परम हानिकर है तथा भगवच्चर्चा कहीं कुछ कठिन प्रतीत हो तो भी परम कल्याणमयी है।

भगवान्‌की अनन्त कृपा है–सभीपर है ! उस कृपाका सदा अनुभव

होता रहे तो मनुष्य कभी भी, किसी भी हालतमें दुःखी नहीं हो सकता। भगवत्कृपाकी ओर न देखकर मनुष्य संसारके प्राणि-पदार्थोंकी ओर देखता है तथा उनसे सुखी होना चाहता है, इसीसे उसको बार-बार दुःखोंका भोग करना पड़ता है; क्योंकि इनमें दुःख ही भरा है। सारी सुख-शान्ति तो एकमात्र श्रीभगवान्‌में है—आत्मामें है।

संसारका नग्न रूप है

मनुष्यका शरीर अत्यन्त क्षणभंगुर है- कमलके पत्तेपर जलकी बूँदके समान है। जरा-सा हिलते ही समाप्त। संसारका यही नग्न रूप है। इसे देखते हुए भी संसारसे वैराग्य नहीं होता--यही हमारा बड़ा प्रमाद है। संसारमें, बस, एक भगवान् ही सार हैं।

जगत्‌का स्वरूप तो सामने है; परंतु यह निश्चय समझो कि इसमें सब जगह भगवान् व्याप्त हैं और सर्वत्र भगवान्‌की लीला हो रही है। लीलामें सृजन भी होता है, संहार भी। दोनोंमें भगवान्‌की झाँकी करनी चाहिये।

जगत्‌से उपरति और भगवान्‌की अखण्ड स्मृति—ये ही दो चीजें जीवनमें आनी चाहिये। संसारको भूल जाय और भगवान् निरन्तर याद रहें—यही तो करना है। पर यह भगवान्‌की कृपासे ही होगा।

प्रभुकृपासे ही प्रेम मिलता है

प्रभुके प्रेमको कोई भी अपनी शक्ति-सामर्थ्यसे नहीं प्राप्त कर सकता, यह सर्वथा सत्य है; प्रभुकृपासे ही प्रेम मिलता है; पर प्रभुकृपा तो अनन्त है ही। उसपर विश्वास करना चाहिये। प्रभु नहीं सुनते, यह बात नहीं है। वे सब सुनते हैं, पूरा सुनते हैं, पर करते हैं अपने मनकी; क्योंकि वे वही करते हैं, जिसमें हमारा यथार्थ हित होता है। अतएव हमको उनके मंगलविधानमें सदा संतुष्ट तथा प्रफुल्लित रहना चाहिये।

अपना सारा प्रयोजन प्रभुसे ही होना चाहिये और उन्हींके नाते संसारके प्राणि-पदार्थोंसे प्रभुप्रीत्यर्थ ही केवल सेवाका सम्बन्ध होना चाहिये। प्राणि-पदार्थोंसे सुखकी आशा नहीं है, यह ठीक है, परंतु वे सुख दें तो भी प्रभुके सम्बन्धसे ही उनसे सम्बन्ध होना चाहिये।

दयामय तो सिर्फ भगवान् ही हैं

प्रेमके राज्यमें अपनेमें त्रुटि दिखाई देती है और त्रुटि ही दिखाई देनी चाहिये। प्रेममें कभी पूर्णता होती ही नहीं। परंतु प्रेम वही यथार्थमें प्रेम होता है, जो केवल भगवान्‌से हो। भगवान् ही एकमात्र प्रेम करनेयोग्य हैं। जो मनुष्य

भगवान्‌का आसन लेना चाहता है, वह तो नीच है ही; लोगोंको धोखा देनेके साथ ही वह स्वयं भी धोखा खाता है।

हमारे सबके परम सुहृद श्रीभगवान् सदा–सर्वदा सर्वत्र विराजमान हैं, वे नित्य तुम्हारे पास रहते हैं–इस बातपर विश्वास करके उनकी मधुरतम संनिधिका नित्य अनुभव करो। पहले ऐसी दृढ़ भावना करो; फिर अनुभूति होगी। दयामय तो सिर्फ भगवान् ही हैं, जिनकी दया सदा, सर्वत्र, सबके लिये बरस रही है।

जिसपर भगवान्‌की कृपा है, उसके सारे विघ्नोंका नाश हो जाता है

तुम्हारी भगवान्‌की ओर लगनेकी जो सच्ची लगन है, तुम्हारा दिन–रात अखण्ड भजन करनेका जो मनोरथ है, वह भगवान्‌की परम प्रसन्नताका हेतु है। जिसपर भगवान् प्रसन्न हैं, जिसपर भगवान्‌की कृपा है, उसके सारे विघ्नोंका नाश और सारी अनुकूलताओंकी प्राप्ति अपने–आप हो जाती है––

गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही।
राम कृपा करि चितवा जाही।।

तुम विश्वास करो, तुमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है। भगवान्‌की कृपासे तुम्हें उनपर विश्वास करके निश्चिन्त और निर्भय हो जाना चाहिये और किसी भी हालतमें अपनी इस निर्भय तथा निश्चिन्त स्थितिसे जरा भी विचलित नहीं होना चाहिये।

भगवत्–प्रसाद सारे दुःखोंका नाश कर देगा

हम कहीं भी रहें–भगवान् हमारे बड़े परम सुहृद हैं, सदा–सर्वत्र हमपर कृपा–दृष्टि रखते हैं। तुम निरन्तर सब स्थितियोंमें सर्वत्र उनकी कृपाके मंगल दर्शन करते रहो और प्रसन्नताका स्रोत सदा तुम्हारे मनमें बढ़ता रहे। यह भगवत्–प्रसाद तुम्हारी सारी व्यथाओं और सारे दुःखोंका नाश कर देगा–– *प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।* उनकी कृपा सारी दुर्गश्रेणियोंसे पार लँघा देती है, चाहे वे कठिनाइयोंके किले कितने ही ऊँचे और दुर्लंघनीय क्यों न हों––

'सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'

भरोसा करना है–भगवत्कृपाका

साधनका अभिमान करके साधन नहीं करना चाहिये। भगवत्प्रीतिके लिये तथा भगवत्प्राप्तिकी प्रेरणासे की जानेवाली प्रत्येक चेष्टा ही साधन है। साधनका भरोसा नहीं करना है, भरोसा करना है–भगवत्कृपाका।

प्रेम वाणीकी वस्तु नहीं है

प्रभु—प्रेम हृदयकी वस्तु है, गुप्त ही रहना चाहिये; तभी उसका मूल्य होता है। परंतु बाह्य चेष्टाओंसे कुछ तो अनुमान हो ही जाता है। जैसे वह किसी मन्दिर, तीर्थस्थान या महात्माके आश्रमपर जाता है, भगवान्‌की बात सुनता है, कुछ पूजा—पाठ करता है——इससे लोग यह अनुमान कर लें कि वह प्रभुका भजन करता है, प्रभुप्रेम चाहता है तो इसमें कोई आपत्तिकी बात नहीं है। हाँ, अपनी ओरसे प्रेमका ढिंढोरा नहीं पीटना चाहिये।

प्रेम वाणीकी वस्तु नहीं है, प्रेम उत्तरोत्तर बढ़नेवाला होता है। प्रेमका स्वरूप बतलाते हुए नारदजीने कहा है - 'प्रेम अनिर्वचनीय है, गूँगेके स्वादकी तरह वह बतलाया नहीं जा सकता। वह गुण नहीं देखता, उसमें कामनाका लेश भी नहीं रहता, उसका तार कभी टूटता नहीं तथा वह बड़ा सूक्ष्म होता है।' जो मिटता और रुकता है, वह तो प्रेम ही नहीं है। ऐसा प्रेम एकमात्र भगवान्‌से ही हो सकता है। उत्तरोत्तर बढ़नेवाला प्रेम सदा यही दिखलाता है कि मेरा प्रभुके चरणोंमें प्रेम कहाँ है। मेरे प्रेममें तो कमी—ही—कमी है।

अपने प्रेममें कमी दिखाई देना तो प्रेमका लक्षण है। पर प्रेमास्पद प्रभुको हमारे प्रति असीम प्रेम है——इसमें कभी भूलकर भी संदेह नहीं करना चाहिये। वे तो नित्य ही हमारे सहज सुहृद हैं, अहैतुक प्रेमी हैं। हम उनके प्रेमका अनुभव करें तथा सदा प्रफुल्लित रहें। प्रभुप्रेम प्रभुकी कृपासे ही मिलता है और वह कृपा सदा—सर्वदा हमपर है ही——हम इसपर विश्वास करें और कृतार्थ हो जायँ।

सच्चे प्रेमका ज्यों—ज्यों विकास होता है, त्यों—त्यों भय, सम्भ्रम, सम्मान, मर्यादा, पूज्यभाव आदि हटने लग जाते हैं। ये मरते नहीं, रहते हैं, दिव्य भावसे रहते है। दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर——इनमें मधुर भावमें दास्य, सख्य, वात्सल्य——तीनों रहते हैं और समय—समयपर इनकी क्रिया भी होती है; परंतु मधुर भावकी प्रधानतासे वहाँ इतनी समीपता हो जाती है कि भगवान्‌के साथ भक्त चाहे जैसा विनोद करता है, उन्हें चाहे सो कह देता है, चाहे जैसा बर्ताव कर बैठता है——अपने चरणोंतकका उनके उच्चांगसे स्पर्श करा देता है, उनके द्वारा की हुई मान—पूजा ग्रहण कर लेता है, उनकी भर्त्सना करता है, उनका अनादर करता है, उन्हें निकलवा देता है; पर यह सब करता है—मनमें अत्यन्त सम्मान, अत्यन्त पूज्य भाव, अत्यन्त आदर रखते हुए ही; करता है केवल उनके सुखार्थ ही। मान करता है, पर सदा मानरहित किंकर है; क्रोध करता है, पर सदा अक्रोधहीन—दीन है; अवज्ञा करता है, पर सदा पुजारी है। अत्यन्त विलक्षण भाव

है। कोई मधुरभावका प्रेमी ही इसको समझता है और अनुभव कर पाता है। इसकी नकल नहीं हो सकती। ऐसा नकली आचार पाप है, गिरानेवाला है। मधुर प्रेमका ऐसा असली आचार पवित्र दिव्य प्रेमका आनन्दविलास है और वह प्रभुके सुखको नित्य बढ़ानेवाला है। प्रभु भी नित्य निष्काम, आप्तकाम, पूर्णकाम होते हुए ही इस प्रेमकी मधुररस-धाराओंका स्वाद लेनेके लिये अत्यन्त सकाम-कामवश हो जाते हैं। परंतु उनकी यह सकामता-कामवशता उनका स्वरूप ही होता है; अतएव वह लौकिक कामका नाश करनेवाली होती है। लौकिक काम अंधकारमय नरक है, यह 'काम' नामक पवित्र प्रेम निर्मल प्रकाशमय भगवत्स्वरूप है। यह 'काम' जिस भक्तमें पैदा होता है, भगवान् उसके उस 'काम'का रसास्वादन करनेके लिये अपना सब कुछ भूलकर उस भक्तके वशमें हो जाते हैं और उसकी भगवदिच्छामयी इच्छाका अनुसरण करते हैं। भगवान् और भक्तकी यह पवित्रतम लीला ही यथार्थ 'रास' है। यह दिव्य, चिन्मय, वासना-कामना-राज्यसे सर्वथा अतीत, अत्यन्त विलक्षण, मुनिगणवाञ्छित, श्रुतिगणवाञ्छित, परमहंसगणवाञ्छित, देवदुर्लभ और भुक्ति-मुक्तिकी कल्पनासे परेकी वस्तु है।

भगवान्‌पर विश्वास करके उन्हें पुकारें

चातक और मछलीका प्रेम प्रसिद्ध है। ये प्रेमके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। हमलोगोंको प्रभुके प्रति ऐसा ही प्रेम करना चाहिये। अवश्य ही भगवान् जल और मेघकी भाँति जड नहीं हैं और न असमर्थ ही हैं। इसीसे भगवान्‌पर विश्वास करके उन्हें चाहने तथा पुकारनेकी बात कही जाती है। यह सत्य है कि प्रभु सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वनियन्ता, सर्वदर्शी और सर्वाध्यक्ष हैं; परंतु वे जहाँ प्रेमियोंके प्रेमास्पद हैं, वहाँ उनके सारे ऐश्वर्य अप्रकट हो जाते हैं। वहाँ तो केवल रस-ही-रस रह जाता है, रसमय प्रभु रसका 'रास' करते हैं, परंतु वह ऐश्वर्य तथा यह रसपूर्ण माधुर्य केवल भगवान्‌में ही हैं। किसी मनुष्यमें किसी मनुष्यका निःस्वार्थ तथा निष्काम प्रेम हो सकता है और ऐसा प्रेम पवित्र होनेके कारण प्रभुकी या प्रभुके प्रेमकी प्राप्तिमें सहायक होता है। परंतु इससे कोई मनुष्य भगवान्‌के पदपर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता और न उसे प्रतिष्ठित ही करना चाहिये।

सच्चे भगवदनुरागसे ही भोग-विराग होता है

मनमें अपार सुख-शान्ति भरी है, जीवन सुखमय है'—तुम्हारे इस वाक्यको पढ़कर बड़ी ही प्रसन्नता हुई। सारी सुख-शान्ति प्रभुके पादपद्मोंकी रज बन जानेमें है। जगतके प्राणि-पदार्थोंमें कहीं सुख-शान्ति है ही नहीं। इनके त्यागमें—इनकी

वासना—कामनाके समूल त्यागमें ही वास्तविक सुख—शान्ति है। भूल यह होती है कि कभी—कभी हमारी भोग—वासना या इन्द्रिय—सुखकामना बहुत धोखा देती है और वह भगवत्सुख—कामनारूप दिव्य प्रेमका स्वाँग बनाकर हमें ठग लेती है। उस चतुर ठगिनीसे सदा सावधान रहना चाहिये। भोग- वासनाका त्याग होनेपर ही भगवदनुरागका रंग खिलता है और सच्चे भगवदनुरागसे ही भोग—विराग होता है। निरन्तर काय -मन—वाणीसे भगवत्प्रेमके विशुद्ध भावको बढ़ाते रहना चाहिये। जब कभी भोग—वासना धोखा देना चाहे, तभी उसे सच्चे भगवत्प्रेमके द्वारा मारकर निकाल देना चाहिये। भगवान् इसमें पूरी सहायता करते हैं।

प्रार्थना और भगवन्नाममें बड़ा बल है

प्रार्थना और भगवन्नाममें बड़ा बल है। इसको केवल कल्पना मत मानो। ज्ञानीलोग कहते हैं, ज्ञान प्राप्त होनेपर—ब्रह्मका स्वरूप जान लेनेपर मुक्ति हो जाती है और यह बात है भी सर्वथा सत्य; परंतु इसके प्रमाण क्या है ? जिस कर्म—बन्धनमें सब लोग फँसे हैं, जिसके कारण बिना इच्छाके बाध्य होकर कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, उस कर्म—बन्धनकी सारी ग्रन्थियाँ ब्रह्मको जानते ही कैसे छूट जाती है ? ज्ञानमात्रसे बन्धनोंका नाश होना यदि सम्भव हो तो फिर नाममात्रसे पापोंका नाश क्यों सम्भव नहीं? भगवान्‌का नियम ऐसा ही है। दोनों ही बातें सत्य हैं। अतएव तुम मनमें विश्वास करके भगवन्नामकी शरण ग्रहण करोगे तो तुम्हारे संकटोंका नाश होना कोई बड़ी बात नहीं है, यद्यपि क्षणभंगुर सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये तथा विनाशी संसारके संकटोंके विनाशके लिये अविनाशी सनातन परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले, अविनाशी भगवन्नामका प्रयोग करना बुद्धिमत्ता नहीं है।

फलासक्तिको त्यागकर विहित कर्म करना चाहिये

सांसारिक क्षणभंगुर पदार्थोंके पानेकी इच्छा तथा प्रारब्धवश अपने कल्याणके लिये परमात्माके विधानसे प्राप्त हुए दुःखोंके विनाशकी कामना—दोनों ही अज्ञानके कारण होती हैं। जो वस्तु नाश होनेवाली है, प्रतिक्षण मृत्युको प्राप्त हो रही है, उस सतत मरणशील वस्तुकी चाह कैसी ? इसी प्रकार संकटोंके मूलभूत विषयों द्वारा संकटोंसे छूटकर सुखी होनेकी वासना कैसी ? मलसे मल कभी नहीं धुलता। इसलिये सांसारिक लाभ—हानिको प्रारब्धपर छोड़कर निश्चिन्त रहना चाहिये। आवश्यकतानुसार विहित कर्म करने अवश्य चाहिये, परंतु फलासक्तिको त्यागकर भगवत्सेवा ही कर्म करनेमें उद्देश्य होना चाहिये। कर्म—सम्पादन होते ही तुम अपने फर्जको अदा कर चुके, फिर चाहे उसका फल कुछ भी हो। उदाहरणके

लिये भूकम्प–पीड़ित एक आदमीको तुमने मकान बना दिया, फिर दूसरे ही दिन पुनः भूकम्प आया और उसका मकान गिर पड़ा। इससे जैसे तुम्हारा कर्म व्यर्थ नहीं गया, उसी प्रकार तुम भगवान्‌की सेवा समझकर जो कार्य करते हो उसके द्वारा तुम्हारी पूजा स्वीकार हो गयी। तुम्हें उसके फलसे क्या मतलब। तुमने तो पूजाके लिये कर्म किया था, फलके लिये नहीं। और फलमें मनुष्यका अधिकार भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें न तो फलकी इच्छा करनी चाहिये और न कर्म या कर्म–फलमें ही आसक्ति होनी चाहिये। विचारपूर्वक जो विषय–मोहको छोड़कर और इस प्रकार फलासक्तिको त्यागकर विहित कर्म करता है, वही यथार्थ बुद्धिमान् है और वही परम सुख और शान्तिको पाता है। तुम बुद्धिमान् हो, जगत्‌का क्षणभंगुर स्वरूप जान रहे हो। जिनको तुम सुखी मानते हो, वे भी अंदर–अंदर जलते हैं; उनकी जलनका कारण अवश्य ही दूसरा है, यह भी तुम जानते हो। अतएव तुम्हें विषयासक्तिका त्याग करनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये और प्रेमपूर्वक भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवन्नामका जप निष्काम भावसे करना चाहिये।

गुरु–गोविन्दकी बात यथार्थ है। मैं तो इन दोनोंमेंसे कोई भी नहीं हूँ। 'गुरु' होनेकी तो मैं अपनेमें किसी प्रकारकी योग्यता नहीं समझता और 'गोविन्द' मैं हूँ नहीं। हाँ, सब कुछ गोविन्द है—'*वासुदेवः सर्वमिति*'—भगवान्‌के इस वचनके अनुसार सभी भगवत्स्वरूप हैं। इस नाते सभी सबीको नमस्कार कर सकते हैं—आप भी और मैं भी।

भगवान् श्रीकृष्णकी चरणधूलिकी अभिलाषा रखना ही भगवत्कृपा है

भगवान् श्रीकृष्णकी चरणधूलिकी अभिलाषा रखना ही भगवत्कृपा है। भगवान् कृपा करके जिसको अपनी धूलि देते हैं, वही अपनी चरणधूलिसे जगत्‌को पवित्र करनेकी योग्यता प्राप्त करता है। दूसरी बात यह है कि आज हम किसी मनुष्यमें गुण देखकर उसपर श्रद्धा करते हैं, आगे चलकर उससे कोई दोष बन जाता है, अथवा हमारी दृष्टिमें परिवर्तन हो जानेके कारण उसमें दोष दीखने लगता है, तो उसमें अश्रद्धा हो जाती है, जो होनी भी चाहिये—और वैसी अवस्थामें अपने पहले कर्मपर पश्चात्ताप होता है। इसलिये भगवान्‌पर श्रद्धा करना और उनकी चरण–धूलिकी आकांक्षा करना ही सुरक्षित पथ है। तीसरे—भक्त, संत या ज्ञानी इसीलिये बड़ा है कि वह भगवान्‌का भक्त है, भगवान्‌का प्रेमी है या भगवद्भक्तिका ज्ञाता है। महान् परमात्माके सम्बन्धसे ही उसमें महात्मापन आया

है। इस दृष्टिसे भी भगवान् सर्वोपरि वन्दनीय हैं।

कर्तव्य–पथपर दृढ़ रहा जाय

देशके अधिकांश मासिक और साप्ताहिक पत्र धार्मिक लेखोंको नहीं छापना चाहते, यह सत्य है। युग–प्रभाव और वर्तमान शिक्षा-प्रणालीका यह अवश्यम्भावी परिणाम है। हमें अपने कर्तव्यमार्गपर धीरता और दृढ़ताके साथ अग्रसर होते रहना चाहिये। श्रीभगवान्पर विश्वास रखकर कर्तव्य–पथपर दृढ़ रहा जाय तो भगवत्कृपासे हमारा कल्याण निश्चित है और ऐसी अवस्थामें जिस देश, समाज और समयमें हम रहते हैं, उसपर भी उसका किसी–न–किसी अंशमें असर होना अनिवार्य है। कारण, हमारी क्रियाओंका स्वाभाविक ही प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। प्रकृतिके जिस वातावरणमें जो कुछ क्रिया होती है, शक्तिके तारतम्यके अनुसार उसका प्रभाव उसपर होता ही है और इस प्रकार वह सबको प्रभावित करती है।

ऐसे पापोंके होनेमें प्रधान कारण तो विषयासक्ति है

आपने अपने हृदयकी बात मुझे लिखी और उसमें आपका कोई दोष मेरे सामने आ गया, इससे मेरे मनमें आपके प्रति कोई घृणा नहीं हुई। आपने विश्वास करके अपना दिल खोला, यह तो मेरे साथ आपने प्रेमका ही व्यवहार किया है। रही दोषकी बात, सो इस जमानेमें ऐसे आदमी विरले ही हैं, जिनसे जवानीकी उन्मत्ततामें दोष न घटा हो। दोषको स्वीकार कर लेना और आगे दोष न करनेका निश्चय ही मनुष्यके लिये कर्तव्य है। भूलसे, प्रमादसे, इन्द्रियपरवशतासे, बदमाशीसे या परिस्थितिमें पड़कर जो पाप भूतकालमें हो गये, उनके लिये सिवा पश्चात्तापके और उपाय ही क्या है। पूर्वके पापोंके लिये हृदयमें पश्चात्ताप हो और भविष्यमें पाप न करनेका दृढ़ निश्चय हो और उस निश्चयपर डटे रहनेके लिये पर्याप्त साधनोंका संग्रह हो––बस, यही मनुष्य कर सकता है तथा यही करना चाहिये। सत्संग, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय और भगवन्नाम--जप-- -इसमें प्रधान सहायक हैं। यों तो बड़े–से–बड़ा फल मोक्ष भी इन्हीं साधनोंसे मिलता है। इसलिये इनको श्रद्धापूर्वक करना चाहिये।

ऐसे पापोंके होनेमें प्रधान कारण तो विषयासक्ति है। गौण कारण कर्महीन जीवन, कुसंग, आलस्य और स्त्रियोंसे एकान्तमें मिलना है। जिसको कामोंसे फुरसत ही नहीं मिलती, जो कभी कुसंग नहीं करता, जो आलस्यवश कर्मका परित्याग नहीं करता और जो स्त्रियोंके साथ मिलने–जुलनेमें दृढ़ताके साथ परहेज रखता है—वह मनुष्य विषयासक्त होनेपर भी क्रियात्मक पापसे बच जाता है। भागवतमें कहा है—

'तमोद्वारं योषितां संगिसंगम्।'

(५। ५। २)

'स्त्रीणां स्त्रीसंगिनां संगं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।'

(११। १४। २९)

'स्त्रियोंके संगियोंका संग भी नरकका द्वार है। स्त्रियोंके और स्त्री-संगियोंके संगको आत्मवान् पुरुष दूरसे त्याग दे।' जो बात पुरुषोंके लिये है, वही बात स्त्रियोंके लिये भी है। स्त्रियोंको भी पुरुषोंका संग नहीं करना चाहिये।

पाप न होने देनेका चित्तमें निश्चय रखना चाहिये

भगवान्‌का नाम-जप बढ़ाना चाहिये तथा दैवी सम्पदाके गुण अधिक-से-अधिक बढ़ सकें, इसका भी प्रयत्न सदा-सर्वदा करते रहना चाहिये। पाप न होने देनेका चित्तमें निश्चय रखना चाहिये। निश्चय पापोंसे बचानेमें बहुत सहायक होता है।

रास-लीला और राम-लीला केवल भगवद्भावसे ही देखना चाहिये

आपको रासमण्डलीके एक श्रीकृष्णस्वरूप बहुत ही सुन्दर जान पड़ते हैं और उनकी बोलनि, हँसनि, मुस्कान, चाल आदि मनको बरबस हर लेती हैं, आपका यह भाव श्रीकृष्ण-सम्बन्धी होनेके कारण बहुत उत्तम है। किसी-किसी स्वरूपमें कुछ विशेषता होती है और ऐसा भी सुना है कि किसी-किसीमें लीलाके समय भगवान्‌का आवेश भी होता है। जैसे मूर्तिमें भगवान् मानकर मूर्ति-पूजा होती है और उससे भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होकर भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो सकते हैं, उसी प्रकार किसी भी सजीव प्राणीकी भगवद्भावसे उपासनाकी जा सकती है; परंतु इसमें आगे चलकर कई तरह के दोष उत्पन्न होने, अश्रद्धा होने, मार्गच्युत होनेकी आशंका रहती है। इसलिये सदा ऐसा करना ठीक नहीं मालूम होता। लीलाके समय अवश्य ही उन्हें भगवत्स्वरूप ही समझना चाहिये। ऐसा समझनेसे आनन्द तो विशेष आता ही है, साथ ही बहुत-से दोषोंसे मनुष्य बच जाता है और आनन्दमें सात्त्विकता आ जाती है। जिस आनन्दमें इन्द्रियके साथ विषयका सम्बन्ध है, अर्थात् जो आनन्द इन्द्रिय-तृप्तिजन्य या विषयजन्य है, वह आनन्द सात्त्विक नहीं है और उसका परिणाम बहुत बुरा है; एवं जहाँ भगवद्भाव नहीं है, वहाँ इन्द्रियजनित आनन्द ही होता है। इसलिये रास-लीला और राम-लीला, चाहे वे कैसी भी हों, कभी देखनेका अवसर मिले तो किसी भी नाट्यकलाकी ओर न देखकर केवल भगवद्भावसे ही उन्हें देखना चाहिये। इससे देखनेवालेकी कोई हानि नहीं होती और विशेष लाभ पहुँचता है। परंतु अन्य समय

रासलीलाके स्वरूपको भगवान् समझकर उनके प्रति भगवान्का-सा व्यवहार करना युक्तिसंगत नहीं जँचता। मेरी समझसे लीलाके बालकका ध्यान और चिन्तन भी नहीं करना चाहिये। इसमें भी हानिकी गुंजाइश है। चित्र और प्रतिमाके ध्यानमें वह बात नहीं है; क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष कोई परिवर्तन नहीं होता। परंतु बालकके तो सौन्दर्य, स्वास्थ्य, स्वभाव, आचरण, व्यवहार और स्थिति आदिमें न जाने कितने प्रकारके परिवर्तन हो सकते हैं। उसमें सदा एक-सा भाव बनाये रखना या बना रहना असम्भव-सा है। हाँ, एक बात इस प्रसंगमें लिखनी आवश्यक है कि बहुत-से लोग इस प्रकारका व्यवहार करने जाकर आचरणभ्रष्ट हो जाते हैं। अतः इसमें विशेष सावधानीकी आवश्यकता है। रासकी सभी मण्डलियोंके सभी श्रीकृष्ण-स्वरूपोंमें भक्ति और आकर्षण रासके समय होना चाहिये। नहीं तो एक छिपा दोष मनमें रह सकता है-वह यह कि बालकके सौन्दर्य आदिपर चित्त आकर्षित होता है, श्रीकृष्णपर नहीं। इस दोषको ढूँढ़ना चाहिये। यदि पता लगे तो उसे तुरंत दूर करना चाहिये। बहुत स्थानोंमें मनुष्य भ्रमवश भगवान्के नामपर विषयोंकी उपासना कर बैठता है।

श्रीकृष्णका आकर्षण अवर्णनीय है

श्रीकृष्णके आकर्षणकी बात कौन कह सकता है। जिनके भावसे रासलीला देखनेमें श्रीकृष्णका स्वरूप धारण करनेवाले बालकके भाव हमारे मनको हर लेते हैं—जिस बालकका रूप मायिक, क्षणभंगुर और कृत्रिम है, तब उस अखिल सौन्दर्यकी निधि रसराज श्रीकृष्णके सौन्दर्यकी तो महिमा कैसे कही जा सकती है। समस्त ब्रह्माण्डोंमें जितना सौन्दर्य और माधुर्य जहाँ-जहाँ बिखरा है, वह सब एक स्थानपर एक रूपमें संग्रह कर लिया जाय—अखिल विश्वकी समस्त रूपराशिकी एक जीवित प्रतिमा बना ली जाय तो वह जीवित रूप-प्रतिमा सौन्दर्यमय श्रीकृष्णके रूप-समुद्रका एक अंश भी नहीं हो सकती। उस कायाकी इसे छाया कहनेमें भी दोष होता है। जब भ्रमसे भासनेवाली छायामें इतना आकर्षण होता है, तब वास्तविक कायामें कितना आकर्षण होगा-उसकी कल्पना ही कौन कर सकता है। समस्त ब्रह्माण्डोंके महान् मुनियोंके मनोंको भी आकर्षित करनेवाले श्रीकृष्णके रूप-समुद्रके एक कणकी भी झाँकी हो जाय तो मनुष्य उसके हाथ सदा-सर्वदाके लिये बिक जाता है; फिर उसे किसी भी वस्तुकी प्राप्तिकी आवश्यकता नहीं रहती, वह उसके पीछे मतवाला हो जाता है। इस स्थूल विश्वमें जो रूप है, उससे अधिक सुन्दर सूक्ष्म जगत्में है और कारण जगत्के रूप तो जगत्के रूपोंकी अवधि-सीमा हैं। कामदेवका रूप कारण-जगत्का

ही है। भगवान् श्रीकृष्णका रूप तो इन तीनोंसे परे है।

जो भजन करता है, उसका जीवन सफल है

आपके पूर्वज भगवद्भक्त थे। इसीसे आपको भी भगवान्‌की ओर अनुराग हुआ है। परन्तु शान्ति तो इतनी जल्दी नहीं मिलती। जीवके अनन्त जन्मोंके कुसंस्कार कुछ महीनोंमें कैसे दूर होंगे ! वास्तवमें शान्तिकी शर्तके साथ भजन करना ही सच्चा भजन नहीं है। यदि कोई विद्यार्थी यह शर्त रखे कि "मैं तो तभी पढूँगा, जब मुझे परीक्षामें उत्तीर्ण होनेकी 'गारन्टी' दे दी जाय", तो उसकी यह शर्त उचित नहीं मानी जा सकती। उसे तो यह चाहिये कि वह पूरे मनोयोगके साथ पढ़े। यदि वह परिश्रम करेगा तो उत्तीर्ण भी हो ही जायेगा। इसी प्रकार भजनके साथ कोई भी शर्त रहनेसे सच्चा भजन नहीं हो सकता और न उससे कभी शान्ति ही मिल सकती है। भजन तो इसलिये होना चाहिये कि वही जीवनका सबसे प्रधान कर्तव्य है, वही उसके जीवनका लक्ष्य है। जो भजन करता है और उसके सिवा कोई काम नहीं करता, उसका जीवन सफल है। इसके विपरीत जो भजन नहीं करता, किंतु संसारमें बहुत बड़ा आदमी समझा जाता है, उसका जीवन व्यर्थ है। आपने कई प्रकारके साधन किये, किंतु शान्ति न मिलनेके कारण छोड़ते गये—यह उचित नहीं हुआ। आपने बार-बार इसीलिये साधन बदले, इसलिये शान्ति नहीं मिली। यदि आप कोई-सा भी एक साधन करते रहते तो आपको ऐसा अनुभव नहीं होता। वास्तवमें साधनका छोड़ना तो किसी भी निमित्तसे उचित नहीं है। जिस साधनको पकड़ें, सारी आयु उसीमें खपा दें। इस जन्ममें नहीं तो दूसरे जन्ममें वह आपको पूर्ण पदपर प्रतिष्ठित करा ही देगा।

भगवान् शिवको ही अपना गुरु मानें

आपने कोई सद्गुरु बनानेके लिये लिखा तो किसीके बतानेसे तो सद्गुरुका मिलना प्रायः असम्भव है। जिस प्रकार साधकको साधन करते-करते ही भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं, कोई दूसरा व्यक्ति भगवान्‌से मिला नहीं सकता, उसी प्रकार सद्गुरुकी प्राप्ति भी साधनके बलसे ही होती है। भगवान् साधककी सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हैं। जब वे देखते हैं कि अब ठीक अवसर आ गया है, तब वे स्वतः ही उसे गुरुदेवसे मिला देते हैं। किसी भी एक महापुरुषसे सबको लाभ पहुँचे—यह नियम नहीं है। जिस प्रकार पिता-पुत्र एवं पति-पत्नीका सम्बन्ध पूर्वजन्मके संस्कारोंके अनुसार निश्चित है, उसी प्रकार गुरु-शिष्यका सम्बन्ध भी प्रायः संस्कारोंके अनुसार ही होता है। बहुत सम्भव है कि जिन महापुरुषोंमें मेरी श्रद्धा है, उनसे आपको कोई लाभ न हो। इसलिये जबतक स्वयं

ही कोई महापुरुष न मिलें, जिनकी ओर स्वतः ही आपका गुरुभाव हो जाय, तबतक आप 'शिव-मन्त्र'का जप करते रहें तथा भगवान् शिवको ही अपना गुरु मानें। वे स्वयं गुरुदेवसे आपको मिला देंगे।

मन-ही-मन जप करते रहिये

आपने अस्वस्थताके कारण जप कम होनेकी बात लिखी, सो ठीक है। नियमसे एक स्थानपर बैठकर जप करनेमें तो अस्वस्थता बाधक हो सकती है; किंतु यदि कोई ऐसा नियम न रखा जाय तो हर समय, हर स्थितिमें मन-ही-मन जप ही किया जा सकता है। मेरे विचारसे तो आपको प्रत्येक क्षण भगवत्स्मरणके साथ ही बिताना चाहिये। इसमें न कोई स्वास्थ्यका प्रतिबन्ध हो सकता है और न समयाभावकी ही आपत्ति हो सकती है। आप किसी भी स्थितिमें हो और कुछ भी करते हों, मन-ही-मन जप करते रहिये। मैंने ६४ माला नियमसे जप करनेको कहा था; उसमें नियम केवल इतना ही था कि मालाद्वारा जप गिन लिया जाय। एकान्त स्थानपर बैठनेकी बात उसमें नहीं थी। अब भी यदि आप उतनी माला तो गिनकर शेष समय बिना गिने मानसिक जप करें तो विशेष लाभ होगा।

जप करते समय मन भी भगवान्‌का स्मरण ही करे यह तो बहुत ही अच्छी बात है; परन्तु यदि ऐसा न हो, वह इधर-उधर भटके, तो भी घबराना नहीं चाहिये। उसे भगवान्‌में लगानेका प्रयत्न करते रहिये। धीरे-धीरे वह अपनी चंञ्चलता छोड़ देगा। यह काम जल्दी होनेवाला नहीं है, कुछ अधिक समयतक अभ्यासकी आवश्यकता है।

नामका मीठा लगना यह भी प्रेम ही है

कुछ समय निश्चित और एकान्त स्थानमें भी भजन करना चाहिये। उस समय जपके साथ श्रीभगवान्‌के रूपका भी ध्यान कीजिये। यदि बिल्कुल प्रयत्न नहीं किया जायगा तो केवल जप करते-करते ध्यान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता; क्योंकि इसके लिये जप जितना बढ़ाना चाहिये, उतना इस जीवनमें बढ़ेगा या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता!

आपकी ६४ मालाएँ ४ घंटेमें पूरी हो जाती हैं, यह असम्भव तो नहीं; परन्तु ऐसा तभी हो सकता है, जबकि या तो जपका अधिक अभ्यास हो या मन्त्र अधूरा बोला जाय। आप यह ध्यान रखियेगा कि मन्त्र अधूरा न बोला जाय।

नाम जपते-जपते आँसू बहने लगें, यह प्रेम अवश्य है; परंतु नामका मीठा लगना यह भी प्रेम ही है। अभी मीठा लगता है तो सम्भव है कि भविष्यमें आँसू भी आने लगें। इसके लिये निरन्तर जप करनेकी आवश्यकता है।

जप करते–करते भी ध्यान हो सकता है

विचित्र अनुभव सदा नहीं हुआ करते। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अब चित्त साधनसे गिर गया है या आगे कोई और अनुभव नहीं होंगे। अनुभवोंकी ओर न देखकर भगवत्स्मरणकी निरन्तरताका ही प्रयत्न करना चाहिये।

ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। घरमें एकान्त स्थान न हो तो कुछ देरके लिये गाँवसे बाहर किसी बगीचेमें जाकर अभ्यास करें। जप करते–करते भी ध्यान हो सकता है; परंतु हमें इस प्रतीक्षामें ध्यानका आनन्दमय साधन क्यों छोड़ना चाहिये।

साधनमें न्यूनाधिकता होना साधनसे गिरना नहीं है। गिरना तो तब समझा जाय, जब न्यूनता ही हो। चित्त त्रिगुणमय है और उसमें जन्म–जन्मान्तरके अच्छे–बुरे––सभी प्रकारके संस्कार हैं। उनके कारण उसकी सात्त्विकतामें न्यूनाधिकता तो आती ही रहती है। इससे घबराना नहीं चाहिये। अपना लक्ष्य और उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न बराबर बनाये रखना चाहिये।

निर्मल प्रेमकी महिमा

निर्मल प्रेमका अर्थ है–'वह प्रेम जिसमें अनन्यता हो, केवल प्रभुके सुखकी इच्छा हो तथा शरीरसुख अथवा लोक–परलोकके भोगोंकी कोई भी वासना न हो। सुख और दुःख––दोनों ही प्रभुके सुखार्थ ही स्वीकार किये जाँय, संयोग और वियोग––दोनोंमें ही प्रभुके सुखको देखकर आत्यन्तिक आनन्दकी अनुभूति हो। मलिन वासनाओंकी तो कहीं गन्ध भी न रहे। प्रभुके समर्पित पदार्थोंपर अपना अधिकार माना ही न जाय। प्रभुका नित्य–निरन्तर मधुरतम स्मरण होता रहे।' यद्यपि यह परम सत्य है कि प्रेमास्पद प्रभु अपने प्रेमीको कभी भूलते ही नहीं, नित्य–निरन्तर अपने मनमें उसे बसाये रखते हैं और सदा–सर्वदा उसके समीप ही बसे रहते हैं, तथापि यदि प्रभुको इसीमें सुख मिले कि वे प्रेमीको भूले रहें तो प्रेमी यही चाहता है कि 'मुझे वे भूलकर भी सुखी रहें।' पर ऐसा होता नहीं; प्रभु तो प्रेमीके नित्य ऋणी रहते हैं और लालायित रहते हैं ऐसे प्रेमीके पवित्रतम एवं मधुरतम प्रेम–रसका आस्वादन करनेके लिये। वे कभी तृप्त होते ही नहीं, उनकी कामना कभी पूर्ण होती ही नहीं। नित्यतृप्त, नित्य निष्काम, नित्य पूर्णकाम, सदा अकाम पूर्णतम प्रभु प्रेमीके पवित्र प्रेमरसका पान करनेके लिये सकाम बने रहते हैं। यही निर्मल प्रेमकी महिमा है। प्रेमका मूल 'त्याग' है; जितना ही जहाँ त्याग होता है, उतनी ही प्रेममें निर्मलता आती है। प्रेमका कहीं अन्त तो है ही नहीं। प्रेम और किसी भी योग्यताको नहीं देखता, केवल त्यागमय आकर्षणसे

ही वह खिंचा चला जाता है। प्रेम—प्रभुका स्वरूप यही है।

भगवान्‌का मंगलमय स्मरण होता रहे

मनको सदा ही प्रभुके स्मरणमें, उनके सांनिध्यमें लगाया रखकर उसे आनन्दमय रखना चाहिये। भगवान्‌का मंगलमय स्मरण होता रहे और चित्त विषयोंकी ओर न जाय—बस, ठीक है।

भगवान्‌के सिवा कहीं सुख है ही नहीं

तुम्हारा मन बहुत ही प्रसन्न है, यह प्रसन्नताकी बात है। आत्यन्तिक सुख केवल श्रीभगवान्‌में ही है। उनको छोड़कर जो अन्यत्र सुखकी आशा रक्खी जाती है और सुख खोजा जाता है, यही हमारी बड़ी भूल है। इसीको तुलसीदासजीने जीवकी जड़ता कहा है—

और आस बिस्वास भरोसो हरौ जीव जड़ताई।

(विनयपत्रिका १०३। १)

भगवान्‌के सिवा कहीं सुख है ही नहीं—इस दृढ़ निश्चयसे ही भगवान्‌में रुचि हुआ करती है और फिर भगवान्‌का प्रेमयुक्त मधुर स्मरण नित्य—निरन्तर सुखकी वृद्धि करता रहता है। इस सुख—वृद्धिका कभी विराम होता ही नहीं; क्योंकि प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है। इसीसे प्रेमका निर्मल, निर्द्वन्द्व सुख भी प्रतिक्षण वर्धमान ही होता है। हमें उस विशुद्ध प्रेमकी सेवा करनी चाहिये, जो अखिल आचारको प्रियतम प्रभुके अर्पण करवाकर मनुष्यको प्रभुका स्मरणरूप ही बना देता है। क्षणभरके लिये भी विस्मरण फिर नहीं होता। नारदजीने कहा है—

'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।'

(नारदभक्तिसूत्र १९)

अतएव भगवान्‌का जितना ही पवित्र मधुर स्मरण होगा, उतनी ही खरी तथा सच्ची प्रसन्नता बढ़ती चली जायगी।

भगवान्‌के चरणकमलोंमें मन सदा——सर्वदा लगा रहे

भगवान्‌की कृपा हम सभीपर असीम है। रात—दिन लगातार उनकी कृपा—सुधा बरस रही है। भगवान्‌की इस महती कृपापर विश्वास करते ही सारा वर्तमान—भविष्य मंगलमय और आनन्दमय बन जाता है। जन्म—मृत्यु, लाभ—हानि, सुख—दुःख——सभीमें उनका अपार लीलानन्द ही अभिव्यक्त हो रहा है। अतः सदा—सर्वत्र, सब अवस्थाओंमें आनन्दमग्न रहना चाहिये। जगत्‌का कोई चित्र ही न आये और आये तो बस, भगवान्‌की लीलाके रूपमें ही; अन्य सब कामना—वासनाओंका सर्वथा नाश हो जाय।

भगवान्‌के चरणकमलोंमें मन सदा–सर्वदा लगा रहे, भगवान्‌के मधुर दर्शन होते रहें, भगवान्‌का मधुर आलिंगन--सुख सदा प्राप्त होता रहे, जीवनमें कोई भी अन्य कामना–वासनाका बीज ही न रह जाय–यह बहुत ही अच्छी अभिलाषा है। मनुष्य जब अनन्य–अभिलाषायुक्त होकर भगवान्‌की ओर बढ़ता है, तब संसारसे उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। फिर संसारका कोई मोह उसे रोक नहीं सकता। बँधा हुआ ही रुकता है। भगवान्‌के साथ प्रेम–बन्धनका अर्थ है--विषय–बन्धनका टूट जाना। भगवान्‌में अनन्य ममताका अर्थ है---अन्य सबके साथ ममताके सम्बन्धका विच्छिन्न हो जाना।

विषयविरक्ति तथा भगवदनुरक्ति

जगत्‌के भोगोंमें वितृष्णा अवश्य होनी चाहिये। मनके भीतर घुसकर देखते रहना चाहिये कि वह किसी वासनाको तो छिपाये नहीं बैठा है। अन्तर्मनमें भी विषय–वासनाका रहना तथा पोषण प्राप्त करना हानिकारक है। सत्य तथा गम्भीर भावसे भगवान्‌का आराधन होना चाहिये।

विषयविरक्ति तथा भगवदनुरक्ति–ये दो प्रधान चीजें हैं, जो हमें प्राप्त करनी हैं। संसारसे ममता–आसक्ति हटकर सारी सच्चिदानन्दघन प्रभुके श्रीचरणोंमें हो जाय, इसीके लिये प्रयत्न तथा भगवत्कृपाके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी है।

भगवान्‌का स्मरण सदा बना रहे, जीवनमें पवित्र भगवद्भावोंका ही विस्तार रहे, यह चेष्टा करनी चाहिये। 'स्वस्थ' मनका अर्थ है–निरन्तर उसका भगवान्‌में लगे रहना।

प्रेमका पता ही नहीं लगना चाहिये

प्रेमकी भीख प्रेममय प्रेमस्वरूप श्रीभगवान्‌से ही माँगनी चाहिये। पर अपनेको प्रेमसे शून्य क्यों मानना चाहिये ? विश्वास करना चाहिये कि प्रेमस्वरूप भगवान् निश्चय ही अपना दिव्य प्रेम मुझको दे रहे हैं, अनवरत देते रहे हैं, देते ही रहेंगे। प्रेमका अन्त तो है ही नहीं। जैसे भगवान् अनन्त हैं, वैसे ही उनका प्रेम भी अनन्त है। पर प्रेमीका स्वरूप यही है कि उसे अपने प्रेममें सदा त्रुटि दीखती रहे। अपनेमें प्रेम लक्षित न होना गुण है—प्रेमका शुभ लक्षण है। प्रेमका पता ही नहीं लगना चाहिये।

श्रीभगवान्‌की अखण्ड स्मृति बनी रहे

श्रीभगवान्‌की अखण्ड स्मृति बनी रहे तथा जगत्‌के प्राणि–पदार्थोंसे ममता–आसक्ति निकल जाय—ऐसा प्रयत्न सदा करते रहना चाहिये। मंगलमय भगवान्‌की नित्य अखण्ड कृपा बरस रही है। हम सब सदा उससे भीगे रहते हैं,

परमानन्द तथा परम शान्ति हमारे साथ सदा रहती है– ऐसा निश्चय रखना चाहिये।

भगवान् भगवान् ही है

कोई भी मनुष्य भगवान् नहीं है। यों तो शिष्य अपने गुरुको, पुत्र अपने पिताको, पत्नी अपने पतिको, पूजक अपने श्रीविग्रहको भगवान् मानता है और उसके लिये वे भगवद्रुप फल भी देनेवाले होते हैं, तथापि किसीको वैसे न तो भगवान् मानना चाहिये न कहना चाहिये कि 'अमुक भगवान्' हैं। इससे कोई भी लाभ नहीं होता। भगवान् भगवान् ही हैं।

मनको भगवान्के अर्पण करें

मनुष्यका परम ध्येय एक ही है–भगवान्के पावन प्रेमकी प्राप्ति। विषयासक्ति तथा विषय–कामना इसमें बड़ी बाधक है। किसी प्रकार–प्राणोंकी बाजी लगाकर भी विषयासक्ति तथा विषय–कामनाका परित्याग करना है। ये छिपी रहती हैं और कभी–कभी भगवान्के प्रेमके नामपर भी धोखा दे जाती हैं। मनको भगवान्के अर्पण करके, उन्हींको निरन्तर उसमें विराजित रखना चाहिये, जिससे संसार और संसारकी विषय–वासना मनमें घुसने ही न पायें। बड़ी सावधानी तथा बड़ी मजबूतीके साथ यह कार्य करना है–भगवान्की अखण्ड मधुर स्मृति और विषयोंसे आत्यन्तिक उपरति। यही साधना है।

श्रीभगवान्की कृपाका सदा अनुभव करते रहना चाहिये। भगवत्कृपा कभी–कभी बड़े प्रतिकूल रूपमें आया करती है। उस समय भी कृपाकी अनुभूति तथा कृपामय प्रभुके प्रति कृतज्ञता होनी चाहिये। जगत् क्षणभंगुर है, यहाँ कुछ भी स्थिर और नित्य नहीं है। प्रभुका दर्शन हर समय, हर हालतमें करते रहना चाहिये। यह भगवत्कृपापर विश्वास करके उसका अनुभव करते रहनेसे ही होता है।

श्रीभगवान्की बड़ी ही कृपा है। भगवान्का इतना अगाध प्रेम है हम जीवोंपर कि उसकी कहीं तुलना ही नहीं है। वे सदा ही हमसे मिलनेको आतुर रहते हैं—नहीं–नहीं, मिले ही रहते हैं। नित्य–निरन्तर, सर्वत्र, सर्वथा उनकी संनिधिका अनुभव करते रहना चाहिये। भगवत्प्रेम–रस–सुधाका पान करते–करते कभी तृप्त नहीं होना चाहिये।

जीवनके दिन बीते जा रहे हैं। कितने साथी–परिचित चले गये, मानो वे थे ही नहीं। यही दशा हम सबकी होनेवाली है। भगवान्के स्मरणमें–भगवद्भजनमें ही जीवनका प्रत्येक क्षण बीतना चाहिये। संसारके पदार्थोंकी अनित्यता हमारे सामने है। धन–जन सभी क्षणभंगुर है। इस स्थितिमें विशेष चेष्टा करके हमलोगोंको भगवद्भजनमें लगना चाहिये।

भगवान्‌का स्मरण सदा बनाये रखना। जीवन अत्यन्त क्षणभंगुर है। इसे किसी भी तरह, किसी भी भावसे विषय–सेवनमें नहीं लगाना चाहिये। जीवनका एक–एक पल भजनमें ही बितना चाहिये, तभी मानव–शरीरकी सार्थकता है।

मनुष्यका मन जहाँ है, वहीं वह है

मनुष्यका मन जहाँ है, वहीं वह है। मन यदि भगवान्‌में है तो वह भगवान्‌में ही है। मनमें नित्य–निरन्तर भगवान्‌को रखना या मनको नित्य–निरन्तर भगवच्चरणोंमें ही संलग्न रखना चाहिये। फिर देह कहीं भी रहे, नित्य आनन्द–नित्य शान्ति रहेगी। देह समीप है, किंतु मन यदि पास नहीं है—विषयोंमें भटकता है तो वह समीपता नहीं है। चित्तका सर्वथा संयोग रहना चाहिये भगवान्‌के साथ। विषयचिन्तन ही विष है। उससे सदा बचे रहना चाहिये।

जीवन सर्वथा भगवन्मय हो जाना चाहिये

वास्तवमें जीवन सर्वथा भगवन्मय हो जाना चाहिये, संसारके सृजन–संहार तथा अच्छे–बुरे परिवर्तन तो होते ही रहेंगे। मरते ही यहाँका सारा सम्बन्ध छूट जाता है, अतएव पहलेसे ही इससे सम्बन्ध छोड़कर भगवान्‌से––केवल भगवान्‌से ही सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये।

प्रियतमकी झाँकी ही जीवनका सर्वोत्तम लाभ है

श्रीराधामाधव—प्रिया–प्रियतमकी झाँकी ही जीवनका सर्वोत्तम लाभ है। बार–बार मनमें आये, उसीके अनुसार लीलाकी भावना करनी चाहिये; फिर वास्तविक लीलाकी अनुभूति होने लगेगी। मनमें भाँति–भाँतिकी लीलाओंकी स्फूर्ति होनी चाहिये। तुम्हारे लिये क्या चाहता हूँ, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। मेरा तो मन करता है कि सदा–सर्वदा श्रीभगवद्–रस–पानमें ही प्रमत्त रहो। यह जगत् तुम्हारे लिये रह ही न जाय; केवल तुम्हारे प्रभु रहें और तुम रहो। पवित्र सच्चिदानन्दघन–सुधा–रसका नित्य आस्वादन करते रहो। जब जगत् ही न रहेगा, तब जगत्‌के विषय कहाँसे रहेंगे। फिर तो तुम एकमात्र विशुद्ध चिन्मय रस–राज्यमें स्थित होओगे। यही जीवनका परम ध्येय होना चाहिये। तुम इच्छाको प्रबल, एकान्त और अनन्य करो। भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर विश्वास करो। जीभको उनके नाम–रटनमें तथा मनको उनके मधुरतम चिन्तनमें लगा दो। शरीरके द्वारा होनेवाली प्रत्येक चेष्टाको उनकी सेवा अनुभव करो तथा निरन्तर उनकी लीलाओंका अपने इच्छानुसार चिन्तन करते रहो। उनकी कृपा तो है ही, वह शीघ्र ही फलवती होकर तुमको निहाल कर देगी। मनुष्य जब भगवान्‌का हो जाता है, तभी वह निहाल हो जाता है। उसकी सारी बिगड़ी सुधर जाती है। तुम

विश्वास करो–

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबही आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु।।

(दोहावली २२)

भगवान्‌का प्रेमी कभी दुःखी होता ही नहीं

अपने ऊपर भगवान्‌की अनन्त कृपा समझनी चाहिये। भगवान् सर्वत्र हैं, सब समय हैं; अतएव निरन्तर उनकी संनिधिका अनुभव करके पल–पलमें प्रसन्न होना चाहिये। भगवान्‌का प्रेमी कभी दुःखी होता ही नहीं। उसके पास परम सुखकी एक अटूट निधि होती है––परम प्रेमास्पद प्रभुकी पवित्रतम और मधुरतम स्मृति। यह निधि सदा उसकी सेवामें रहती है। इसलिये वह सदा–सर्वदा सर्वत्र प्रेमानन्द–सुधा–रसका मधुर आस्वादन करता हुआ नित्य प्रसन्न रहता है।

शरीर क्षणभंगुर है

शरीर क्षणभंगुर है। इसलिये इस शरीर तथा शरीरसे सम्बन्धित प्राणी–पदार्थोंके प्रति ममता–आसक्ति रखना तथा इन प्राणी–पदार्थोंसे सुखकी आशा रखना सर्वथा मूर्खता है। यह संसार 'दुःखालय' ही है। इसमें आगे–पीछे सर्वत्र दुःख–ही–दुःख भरा पड़ा है। अतएव यहाँ सुख खोजनेपर निराशा ही होती है। पर यह दुःखालय अनित्य संसार परम सुखस्वरूप सच्चिदानन्दघन भगवान्‌से भरा है। उन भगवान्‌में मन लगानेपर––भोगोंसे सुखकी आशा छोड़कर, भोगोंसे आस्था हटाकर भगवान्‌में ही आस्था रखनेपर सदा, सर्वत्र सुखकी ही उपलब्धि होती है। भोगोंपर आस्था और भोगोंसे सुखकी आशा ही महामोह है, इसीसे मनुष्य रात-दिन––कहीं–कहीं कर्तव्य, धर्म तथा भगवान्‌के नामपर भी भोग–सेवनमें लगा रहता है। यह बड़ा प्रमाद है। इस मोह तथा प्रमादसे बचकर––इस मोहको भंग करके श्रीभगवान्‌के परम मंगलमय चरण–कमलोंमें पवित्र निःस्वार्थ प्रेम करना ही मनुष्य–जीवनका परम ध्येय है। जो ऐसा सहज प्रेम करता है, उसके हृदयमें भगवान् अपना घर बनाकर सदाके लिये बस जाते हैं–

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु।।

(मानस २। १३१)

जो सब ओरसे ममता हटाकर श्रीभगवान्‌के चरण–कमलोंमें ही सारा ममत्व जोड़ देता है, उसे भगवान् लोभीके धनकी भाँति अपने हृदयमें बसा लेते हैं–

अस सज्जन मम उर बस कैसें।
लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

(मानस ५। ४७।३)

मानव-जीवनकी सफलताके सूत्र

जीवनमें यही होना चाहिये, तभी मानव-जीवनकी सफलता है—

(१) भगवान्‌में प्रेममूलक पवित्र अनन्य ममता। (२) भगवान्‌का मनसे नित्य स्मरण। (३) वाणीसे भगवान्‌के नामका जप। (४) शरीरसे जो कुछ कार्य किया जाय, सबमें भगवत्सेवाकी भावना।

असली स्वस्थता नित्य भगवान्‌में स्थिति होनेमें है

असली स्वस्थता नित्य भगवान्‌में स्थिति होनेमें है। भगवान्‌के साथ नित्य एकीभाव रहे— यह नित्य आत्म-परमात्म-मिलन ही वस्तुतः 'स्वस्थता' है। जबतक मनमें संसार है—भोगासक्ति है, तबतक भगवत्प्रेम नहीं प्राप्त होता। भगवत्प्रेम तथा भोगासक्तिका परस्पर बड़ा विरोध है। भोगासक्त मनुष्य भोगोंकी लाभ-हानिको ही यथार्थ लाभ-हानि मानता है तथा अपने प्रत्येक कार्यको इसी कसौटीपर कसता है। भगवत्प्रेमीकी आँखें दूसरी होती हैं। वह प्रत्येक कार्यको भगवत्प्रीतिकी कसौटीपर कराता है। इसीसे भगवत्प्रेमीको संसारके शरीर, मान, बड़ाई, धन आदिके अभावसे दुःखकी अनुभूति नहीं होती। वह नित्य भगवत्प्रेम-रस-सुधा-सागरमें निमग्न रहता है। वह अपनी प्रेममयी वृत्तिसे संसारके महान् दुःखकी स्थितिमें भी उससे ऊपर उठा हुआ जिस सुखकी अनुभूति करता है, भोगमयी वृत्तिवाला पुरुष उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता।

भगवान्‌की नित्य स्मृति सदा बनी रहे

नित्य हर हालतमें, अनुकूलता या प्रतिकूलता—दोनोंमें ही भगवान्‌की कृपाके दर्शन करना—दर्शन न हो तो विश्वास अवश्य करना। भगवान्‌को नित्य अपने साथ समझना। भगवान्‌की नित्य स्मृति तथा उनकी समीपताकी अनुभूति सदा बनी रहे— बीमारी आदिमें विशेषरूपसे।

वे हमारे इतने अपने हैं कि उन्हें हमारा जरा भी दुःख सहन नहीं होता। वे पूर्ण परमात्मा होकर भी भक्त-प्रेम-वश हैं। उनके कोमल स्वभावकी बड़ी विचित्रता है। उनके शील-स्वभावको देखकर अहैतुकी प्रीति करनी ही पड़ती है। जो नहीं करता, उसका जगत्‌में जन्म लेना ही व्यर्थ है—

तुलसी राम-सनेह-सील लखि, जौं न भगति उर आई।

तौ तोहि जनमि जाय जननी जड़ तन–तरुनता गवाँई।।

(विनय० १६४। ७)

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।।

(भागवत १। ७। १०)

अपने लिये तो संत वज्रसे भी कठोर होते हैं

तुमने लिखा– 'संतोंका हृदय कोमल होता है–नवनीतसे भी अधिक कोमल; क्योंकि वह दूसरोंके तापसे पिघल जाता है। वे बड़ी दया करते हैं।' सो प्रथम तो यह संतोंकी बात है, मेरे–जैसे आदमीकी बात नहीं; दूसरे, दया दूसरोंपर हुआ करती है, अपनेपर नहीं। दूसरोंके तापसे हृदय पिघलता है, अपने तापसे नहीं। अपने लिये तो संत वज्रसे भी कठोर होते हैं और दुःखमें भी प्रसन्न रहा करते हैं। पर जहाँ आत्मीयता–अपनापन है, वहाँ 'स्व' की ही अनुभूति है। वहाँ दयाका प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो दुःख–सुख सब अपना ही होता है, अपनेमें ही होता है। रोना–हँसना सब अपनी ही अनुभूति होती है। मनका यह नित्य संनिधान ही असली मूल्यवान् वस्तु है। तन–वचनका कोई महत्त्व नहीं, उनमें तो दम्भ तथा दिखावा भी हो सकता है; पर मनका अनुभव मनमें ही रहता है, उसमें दिखावा नहीं रहता। इसीसे उसका महान् मूल्य होता है। पर उसका वह मूल्य भी अपनी ही चीज है। मूल्यांकन तो बिकनेवाली वस्तुका होता है। यहाँ तो खरीद–बिक्री, मोल–तोल है ही नहीं।

चढ़त न चातक चित कबहुँ, प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधिकी, ताते नाप न जोख।।

भगवान् हमें भूलना नहीं जानते

भगवान्‌को सारा जगत् ही परमप्रिय है, पर वे अम्बरीषसे कहते हैं– 'भक्तोंके मैं पराधीन हूँ।' उद्धवसे कहते हैं–'तुम मुझे जितने प्रिय हो, उतने प्रिय शंकर, ब्रह्मा और लक्ष्मी तो क्या, मेरी आत्मा भी नहीं है।' भगवान् सबमें समान हैं, पर उनके प्रिय भक्त तो निरन्तर उनमें घुले–मिले रहते हैं। वे उनसे कभी अलग होते ही नहीं– *'मयि ते तेषु चाप्यहम्'*। भगवान्‌को हम भले ही भूल जायँ, भगवान् हमें भूलना नहीं जानते; वे तो भक्तको अपने हृदयमें ही नित्य बसाये रहते हैं लोभीके धनकी तरह— *लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें*।

संसार क्षणभंगुर है, विनाशी है, परिवर्तनशील है। इसका सम्बन्ध तो मिथ्या है और कल्पित है। परंतु भगवान्‌से हमारा नित्य सम्बन्ध है, वह कभी भी

विच्छिन्न नहीं हो सकता। वे हमारे हैं—हमारे ही हैं; हम उनके हैं, उनके ही हैं—यह ध्रुव सत्य है। सदा–सर्वदा इसकी अनुभूति होती रहनी चाहिये। वे हमारी चीज हैं। हम अपनेको उनसे दूर मान लें तो वे भले ही दूर दीखें; पर वे तो सदा ही हमारे समीप, अत्यन्त निकट, नितान्त अपने ही रहेंगे— इसमें जरा भी संदेह नहीं है। बस, दो बातें बनी रहें—

(१)— भगवान्‌की अखण्ड स्मृति।

(२)— संसारके प्राणी–पदार्थोंसे अत्यन्त उपरति।

भगवान् नित्य–निरन्तर हमारे साथ रहते हैं

भगवान् श्यामसुन्दर नित्य–निरन्तर हर हालतमें, हर जगह हमारे साथ रहते हैं—मनकी यह अनुभूति प्रत्यक्षमें भी मिलनका अनुभव करा देती है। मनकी अत्यन्त संलग्नता होनेपर ऐसा अनुभव होता है। श्यामसुन्दरके साथ भक्तोंका इसी प्रकार नित्य मिलन होता रहता है। फिर भगवान् तो नित्य, सत्य, सर्वत्र, सर्वदा स्थित हैं ही। अतएव मनसे होनेवाली काल्पनिक अनुभूति यहाँ सत्य हो जाती है; क्योंकि भगवान् कल्पनामें नहीं हैं, वे तो हैं ही। जहाँ, जब, जिस रूपमें हम उन्हें देखना चाहें, वहाँ, उस समय, उसी रूपमें वे हमें दीख पड़ते हैं। आँखोंसे दर्शन–सौन्दर्य–माधुर्यकी मधुरतम झाँकी, कानोंसे मधुर मुरली या नूपुर ध्वनि—–उनके श्रीमुखसे उच्चरित मधुर शब्द, शरीरसे उनका मधुर स्पर्श–उनके चरणोंका स्पर्श, जिह्वासे उनके प्रसादका रस–सेवन, नासिकासे उनके मधुर अंग–सुगन्धका प्रत्यक्ष अनुभव–ये सर्वत्र, सभी समय हमारी इच्छाके अनुसार हो सकते हैं और निश्चय ही होते हैं।

असली मिलन मनका होता है

संसारका स्वरूप ही संयोग–वियोगात्मक है। यहाँ सभी कुछ अनित्य है। फिर स्थूलशरीर तो क्षणभंगुर है ही। इसका मिलना–बिछुड़ना कोई महत्त्व नहीं रखता। असली मिलन मनका होता है, सो मन निरन्तर भगवान्‌में लगाये रखनेका प्रयत्न होना चाहिये। भगवान् सहजमें दर्शन नहीं देते; कभी सामने आते हैं तो फिर तुरंत ही भाग जाते हैं। इससे प्रेमी लोग प्रेमकी मधुर भाषामें उन्हें 'छलिया', कहते हैं, 'चालाक' और 'कठोर' कहते हैं। परंतु सचमुच भगवान्‌की यह चालाकी, छलियापन तथा कठोरता प्रेमी भक्तके प्रेमरसको बढ़ाने तथा उसका मधुर आस्वादन करानेके लिये ही होती है। ये भी पवित्र प्रेमके ही अंग हैं। चाहे जितनी ऊपरी कठोरता हो, वे निरन्तर प्रेमीके हृदयमें बसनेको बाध्य होते हैं। उसे छोड़कर कभी भाग ही नहीं सकते। इसीसे भक्त सूरदासने उन्हें ललकारा था—

हाथ छुड़ाए जात हौ, निबल जानि कै मोय।
हिरदै तें जब जाहुगे, सबल बदौंगो तोय॥

इससे भी एक और बड़ी बात करनेको प्रेमास्पद भगवान् बाध्य होते हैं—वे स्वयं प्रेमी बनकर प्रेमीको प्रेमास्पद बना लेते हैं और निरन्तर उसे अपने हृदयमें बसाये रहते हैं और प्रतिक्षण उसको मन-ही-मन देखते, उससे लीला करते रहते हैं। उसके बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता। वे उसमें समाये रहते हैं—उसको अपनेमें समाया रखते हैं। *'मयि ते तेषु चाप्यहम्।'*—वे मुझमें रहते हैं, मैं उनमें रहता हूँ।' यह उनकी प्रेमपरवशता है, उसे मिटानेकी सामर्थ्य उन सर्वसमर्थमें नहीं है; क्योंकि वे प्रेमस्वरूप हैं। वे यदि अपने प्रेमीका कोई अनुकूल कार्य करते हैं तो क्या वे उसपर कोई अहसान करते हैं ? वे स्वयं उसमें सुखका अनुभव करते हैं। उनके प्रेम-मधुर स्वभावकी बड़ी ही विचित्र महिमा है। पर इससे ऊँची बात एक यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस स्वभावमें भी अपनी महिमा नहीं मानते। वे कहते हैं—'हे प्राणाधिके राधिके ! यह भी तुम्हारे ही प्रेमकी महिमा है, जो मेरे स्वभावमें स्फुरित हो जाती है।'

भगवान् अपने प्रेमीके प्रति क्या भाव रखते है ?

भगवान् अपने प्रेमीके प्रति क्या भाव रखते हैं, इसको वे ही जानते हैं, हम बता नहीं सकते—वैसी कल्पना भी नहीं कर सकते; क्योंकि भगवान् निष्काम हैं, पूर्णकाम हैं, सच्चिदानन्दघन परिपूर्णतम हैं। उनमें प्रेमीके प्रति प्रेमभावको लेकर होनेवाला उद्वेग या मिलन-लालसाका भाव समझमें नहीं आता। परंतु बात यह है कि वे अपने प्रेमीके पास वैसे तो नित्य रहते ही हैं—कभी उससे क्षणभरको भी अलग नहीं होते—तथापि वे छटपटाते रहते हैं। उनके मनमें जो पवित्र भगवद्रूप राग उत्पन्न होकर प्रेमीके प्रति उनके मनको आकर्षित करता है, उससे होनेवाली विकलताका अनुमान हम नहीं लगा सकते। सर्वशक्तिमान् होते हुए भी, उद्विग्न तथा विकल होकर भी मिल क्यों नहीं पाते—यह विलक्षण बात है। उनकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता आदि स्वरूपशक्तियाँ यहाँ प्रेमराज्यमें कुण्ठित हो जाती हैं और उनका अन्तर्हृदय प्रेमप्लावित होकर प्रेमीकी ओर बहता हुआ भी प्रेमीके मनकी आत्यन्तिक प्रेम-मिलन-लालसाजनित महान् पीड़ाकी प्रतीक्षा करता है। इस प्रतीक्षामें ही वे मिल नहीं पाते—जितनी ही देर होती है—उतनी ही उनकी पवित्र रागमद्रूपा प्रेममयी विकलता और उद्विग्नता बढ़ती रहती है और उससे उनके अपने मनमें तथा उसीकी शक्तिसे प्रेमीके मनमें भी वियोगसे होनेवाली मधुरातिमधुर स्मृति एक अपूर्व आनन्दका सृजन तथा अनुभव कराती रहती है और

यह आनन्द बढ़ता ही रहता है। इसीसे वे कहते हैं -

राधा ! तेरे दर्शनको मैं उत्सुक रहता सदा अधीर।
कोई नहीं जान सकता यह मेरे मनकी भीषण पीर।।
पीड़ा वह अति व्यथित बनाती, व्याकुल करती अति स्वच्छन्द।

सीमासे अतीत तव स्मृतिसे होता उदय अमित आनन्द।।
वह आनन्द नित्य पल—पल नव पीड़ाका उद्भव करता।
पीड़ासे फिर स्मृति बढ़ती, फिर नवानन्द मनमें भरता।।
यों ही पीड़ा—दुःख—स्मृति—सुखका सागर नित लहराता।
उसमें सहज प्रिये ! मैं रहता सतत डूबता—उतराता।।
बीच—बीचमें मिलनाकांक्षा बढ़, जब उग्ररूप धरती।
तब हो उदित रूप—माधुरि मधु मनके सारे दुख हरती।।

इस प्रकार परम प्रेमास्पद प्रभु अपने प्रेमीसे मिलनेके लिये व्याकुल प्रयास करते रहते हैं। प्रभुकी इस प्रेमाधीनताका स्मरण आते ही हृदयमें एक विलक्षण आकर्षण प्रभुके प्रति होता है। कहाँ हम नगण्य दीन—हीन जगत्के जन्तु और कहाँ अखिलब्रह्माण्डाधीश्वर सर्वगुण—गण—वारिधि सर्वातीत परमैश्वर्यसम्पूर्ण प्रभु ! पर वे जहाँ, जब, निर्मल प्रेम देखते हैं, तब वहाँ सारे ऐश्वर्यज्ञानको भूलकर प्रेमाधीन होकर प्रेमीके लिये व्यथित—विकल हो जाते हैं।

उनकी कृपासे असम्भव भी सम्भव हो जाता है

मैं हृदयसे क्या चाहता हूँ—तुम जानते हो; वह है—तुम्हारा एक—एक पल तथा एक—एक श्वास श्रीभगवान्‌की स्मृतिमें बीते। तुम्हारा जीवन परम पवित्र, परम मंगलमय, परम आनन्दमय हो, वह संसारसे ऊपर उठकर भगवान्‌के साथ नित्य मिला रहे। संसारके भोग तथा सांसारिक अनुकूलता—प्रतिकूलताका तुमपर जरा भी असर न हो। संसार की कोई भी आसक्ति और चाह तुम्हारे मनमें न रह जाय। तुम सदा—सर्वदा श्रीभगवान्‌के परमानन्दमें निमग्न होकर परम सुखी रहो। तुमने अपने स्वभावकी बात लिखी, सो भगवान्‌की कृपासे स्वभावके दोषोंका नष्ट हो जाना कौन बड़ी बात है। उनकी कृपासे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। दोष दीखनेकी बात लिखी, सो भगवान्‌में तो कभी किसी दोषकी कल्पना ही नहीं है। उनमें जो कुछ है, सब भगवान्—ही—भगवान् है।

मुझमें कहीं किसीको दोष दिखाई दे तो वह ठीक ही है। मैं अपनी ओर देखता हूँ तो मालूम होता है—दोषोंसे भरा हुआ हूँ। जिनको मुझमें गुण दीखते

है-या दोष नहीं दीखते—यह तो उनकी राग या प्रेममयी आँखोंका गुण है, मेरा गुण नहीं। मुझमें तो इतने दोष हैं कि उतने कोई देख ही नहीं सकता।

सदा—सर्वत्र प्रभुकी संनिधिका अनुभव हो

प्रभुकी स्मृति हमारे हृदयसे कभी क्षणभरके लिये भी न निकले तथा सदा—सर्वत्र प्रभुकी संनिधिका अनुभव होता रहे—यही सर्वोत्तम साधन है और यही वस्तुतः साध्य भी है। प्रभुकी स्मृति मनमें निरन्तर अत्यन्त पवित्र तथा मधुर रूपमें बढ़ती ही रहे—इसमें दूसरेको पता लगानेका प्रश्न ही नहीं होता। प्रभु—प्रेम दिखावेके लिये तो होता ही नहीं। वह तो हृदयका अमूल्य गुप्त धन है। प्रभुही जानते हैं; अन्य किसीके जानने—मानने या देखने—सुननेकी क्या आवश्यकता है। ऐसा गुप्त अमूल्य निर्मल प्रेम सदा—सर्वत्र रह सकता है। प्रभु तथा उनके प्रेमकी सदा—सर्वत्र स्थिति है तथा अबाध गति है।

प्रेमकी ऊँची साधना

अपनेमें निरन्तर दोष, अभाव, बुराई, त्रुटि आदि दीखना और प्रेमास्पद प्रभुका इस ओर जरा भी ध्यान न देकर सदा—सर्वदा अपने स्वभाववश ही अनन्त प्रेम करते दीखना—यही तो प्रेमकी ऊँची साधना है। अपने में यदि कभी कोई अहंकार आता है तो वह इस बातका आता है कि प्रेमास्पद परम प्रभु स्वभाववश मुझसे प्रेम करते हैं; अपने किसी गुणको लेकर कभी अभिमान आता ही नहीं। श्रीराधा कहती हैं—

मैं अति कुटिल, कुरूप, कुमति, सब बिधि गुणहीन, दीन नारी।
वे प्रभु प्रेमानन्द सुधानिधि, गुणनिधि, शुचि, सुन्दर भारी।।
मेरी ओर देखना भी है नहीं उचित उनको पल एक।
पर वे मुझपर ही न्योछावर रहते सदा बिरदकी टेक।।

निरन्तर प्रभुके शील, सौजन्य, सौहार्द, कारुण्य, औदार्य, सौन्दर्य तथा माधुर्य स्मृति रखते हुए उनके चरणोंमें अवनत रहना ही हमारा कार्य है। वे प्रभु अपनी शक्ति—सामर्थ्यसे, अपनी गुणगरिमासे, अपनी स्वभाव—महिमासे सर्वथा विशुद्ध, निर्मल, अपने योग्य बनाकर स्वीकार कर लेंगे। उनके स्वभावको देखकर हमें मुग्ध, आनन्दित, उल्लसित और परम आशावान् होना चाहिये--

हम बुरे हैं, अति बुरे हैं, बुरोंके सरदार हैं।
पर हमारे नाथका हमपर अनोखा प्यार है।।
हैं नहीं वे देखते कोई बुराई भी कभी।
सौंपनेको है सदा तैयार अपनेको अभी।।

भगवान्‌की अहैतुकी प्रीतिकी सुधावर्षा निरन्तर हमारे ऊपर हो रही है—यही समझकर सदा प्रसन्न तथा परम आशावान् रहना चाहिये। आशावान् ही नहीं, प्रभुकी अपार प्रीतिका सदा अनुभव करना चाहिये।

किसीका कोई दोष नहीं देखना चाहिये

मनुष्य अपने भावके अनुसार सोचता है। सबके दृष्टिकोण अलग अलग होते हैं। रुचि, समझ, अनुकूल–प्रतिकूल भाव—सबके एक–से नहीं होते। इसलिये अपनेको किसीका कोई दोष नहीं देखना चाहिये। मानना ही नहीं चाहिये। अपने 'निजजन' तो एकमात्र प्रभु हैं; अतः यह निश्चय–परम निश्चय रखना चाहिये कि वे कभी क्षणभरके लिये भी 'पर' हो ही नहीं सकते। वे सदा–सर्वदा समीप रहते हैं—रहेंगे। हम कभी उन्हें देख पाते हैं, कभी नहीं। पर हमारे न देख पानेपर भी वे रहते ही हैं—सोते–जागते, घर बाहर, यहाँ–वहाँ सभी समय तथा सभी स्थानोंमें, जहाँ हम रहते हैं, वहीं वे रहते हैं। व्यापक ब्रह्मरूपमें नहीं, भक्तके भगवान् तथा प्रेमीके परम प्रियतम रूपमें। तुमने यह बहुत ठीक लिखा है कि 'इस सुखको कोई कभी भी छीन नहीं सकता। यह तो सदा एकरस, अखण्ड, नित्य और पूर्ण है।' अतएव प्रभुको सदा सर्वत्र अपने समीप समझकर खूब–खूब प्रसन्न रहना चाहिये। यह केवल भावुकताकी या मन भुलानेकी बात नहीं है; वास्तवमें ही भगवान् भक्तके साथ अपना ऐसा ही सम्बन्ध रखते हैं। वे उसे लोभीके धनकी भाँति हृदयमें बसाये रखते हैं तथा उसके हृदयको अपना निजगृह मानकर नित्य उसमें बसे रहते हैं तथा प्रत्येक अंगसे सदा अपनी संनिधिका अनुभव कराते रहते हैं। अपनेमें प्रेमकी कमी देखना तो वास्तवमें प्रेमका लक्षण है। हृदयमें गंदगी भी दीखती है, पर श्रीभगवान् स्वयं उस गंदगीको साफ करके उसमें बस जाते हैं। हृदय उनको दे देना चाहिये। उनकी चीज वे आप सँभालेंगे, सुधारेंगे, रक्षा करेंगे, उसको सुरम्य बनायेंगे।

कृपापर विश्वास करो

भगवान्‌ने जो मंगलविधान रचा है, वही परम मंगलमय है। उसीमें सदा प्रसन्न रहना चाहिये। मनमें कोई भी विचार नहीं करना चाहिये। भगवान् सदा–सर्वत्र हैं, उनके स्मरणमें ही परम कल्याण है—निरन्तर उन्हींका पवित्र मधुर स्मरण करते रहना चाहिये।

भगवान्‌की तुमपर बड़ी ही कृपा है। फिर तुम इतना विचार क्यों किया करते हो। उस कृपापर विश्वास करो। तुम्हारे मनमें जो कुछ भगवत्प्रेमकी अभिलाषा है, उसे भगवान् अवश्य पूर्ण करेंगे—निश्चयपूर्वक ऐसी दृढ़ अनुभूति

करो। भगवान्‌के प्रति जो अपनेको सौंप देता है तथा सब जगहसे ममत्व हटाकर भगवान्‌में ही ममत्व कर लेता है, वह निरन्तर लोभीके धनकी तरह भगवान्‌के हृदयमें बसता है। उसे भगवान् हृदयमें बसाये रखते हैं। उन्हें उसके बिना चैन ही नहीं पड़ती। भगवान्‌की इस महान् प्रीतिके प्रति हमलोगोंको आस्था-विश्वास करके सदा परम प्रसन्न होना चाहिये।

भगवान्‌की प्रेममयी ममताकी स्मृति रहे

भगवान्‌का सौहार्द, भगवान्‌का स्वभाव, भगवान्‌की कृपा, भगवान्‌का प्रेम, भगवान्‌की निजजनपरायणता एवं प्रेमवशता ऐसी विलक्षण है कि उस ओर देखनेपर मनुष्य अपनी सारी कमजोरियाँ, सारी त्रुटियाँ तथा सारी भूलोंको भूलकर सचमुच उन्हींमें रम जाता है, अपनेको खो देता है, केवल प्रभु ही रह जाते हैं। भगवान्‌की ऐसी ही प्रेममयी ममता है। भगवान्‌से यही प्रार्थना है कि उनकी इस प्रेममयी ममताकी सदा स्मृति बनी रहे, जिससे जगत्‌का सब कुछ विस्मृत होकर एकमात्र परम प्राणप्रियतम प्रभु ही रह जायँ; न जगत् रहे न जगत्‌को कोई देखनेवाला; न विषय रहे, न विषयासक्ति और न विषयासक्त।

'हेरत हेरत, हे सखी ! हेरन गयो हेराय।'

ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ढूँढ़नेवाला खो गया और जिसे ढूँढ़ रहा था, केवल वही रह गया।

भगवान् सुहृद हैं

तुमने भगवान्‌के स्वभावके सम्बन्धमें लिखा, वह तुम्हारा लिखना ठीक ही है। वे कभी अत्यन्त ही कोमल दीखते हैं—फूलसे भी कोमल और कभी वज्रसे भी अधिक कठोर। पर दोनों ही भावोंमें उनके हृदयमें स्नेह-सुधा ही छलकती रहती है—यह हमें दृढ़ विश्वास करना चाहिये। सारा जगत् ही भगवान्‌का है, सभीके प्रति भगवान्‌की ममता है। इससे यह कहना कि भगवान्‌के अनेक प्रेमी भक्त हैं, ठीक ही है। अनेक ही नहीं, सभी वास्तवमें भगवान्‌के हैं। परंतु जो भक्त अपनेको केवल भगवान्‌के अर्पण कर देता है, एकमात्र उन्हींको अपना सर्वस्व मानकर प्रेम करता है, उसपर भगवान्‌की ममताके साथ ही विशेष ममता हो जाती है। ऐसा भक्त भगवान्‌को वैसे ही वशमें कर लेता है, जैसे सती स्त्री अपने सत्पतिको—

वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।

अतएव उस क्षेत्रमें जैसे वह प्रेमी भक्त केवल प्रेमास्पद भगवान्‌को ही जानता है, वैसे ही भगवान् भी केवल उसीको जानते हैं तथा उसके अधीन और ऋणी हो जाते हैं -

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।' आदि।

भगवान्‌की स्मृति नित्य बनी रहे, इसके लिये सदा-सर्वदा उनके स्वरूप, गुण तथा लीलाओंका अपने भावके अनुसार चिन्तन करना चाहिये। भगवान् सत्य हैं, सदा हैं, सर्वत्र हैं इसलिये हम उनकी लीलाओंकी अपने मनसे जैसी कल्पना करेंगे, वैसे ही रूपमें वे सत्य-सत्य अपना अनुभव हमें करा देंगे। हमें प्रत्यक्ष ही सब-कुछ—लीलाके प्रसंग दीखेंगे। तुमको यह चेष्टा करनी चाहिये। यह सत्य है कि तुम्हारे किये कुछ नहीं होगा। ऐसी मान्यता ठीक है, पर भगवान्‌के किये तो सब कुछ हो ही सकता है। इस बातपर विश्वास करके, जरा भी निराश न होकर अपनी जानमें लीला-चिन्तनका प्रयत्न करना और उसमें उत्तरोत्तर स्पष्ट अनुभूति करते रहना।

तुम्हें भगवान्‌के सौहार्द तथा स्नेहपर विश्वास नहीं होता, तुम्हारी दृष्टिसे तुम्हारा यह लिखना ठीक ही है। सौहार्द तथा स्नेहपर विश्वास हो जानेपर निश्चय ही अत्यन्त विलक्षण स्थिति हो जाती है। भगवान् सुहृद हैं, यह जानते ही शान्ति मिल जाती है—यह सत्य है। परंतु भगवान् परम-प्रेमास्पद, महान् विशाल हृदयके हैं। तुम यह संदेह क्यों करते हो कि 'जब मेरा भगवान्‌के स्नेहपर विश्वास नहीं, तब मेरा जीवन सफल कैसे होगा?' क्या तुम अपनेको भगवान्‌के समर्पित नहीं मानते? समर्पित नहीं अनुभव करते? और यदि समर्पित-जीवन है तो जीवनकी सफलता इससे बढ़कर और क्या होगी? भगवान्‌के समर्पित हो जानेपर सारी चिन्ता स्वयं भगवान् करते हैं। सारा 'योगक्षेम' वहन वे स्वयं करते हैं। प्रेमीका तो एक ही काम रहता है कि निरन्तर उनके मधुरतम तथा पवित्रतम चिन्तनमें डूबे रहना, क्षणमात्रके लिये भी उनका स्मृति-वियोग असह्य हो जाना। शरीर चाहे कहीं रहे, कहीं जाय—प्रियतम प्रभु छायाकी भाँति सदा अन्तरमें घुले-मिले रहते हैं, क्षणभर भी नहीं हटते। पर प्रेमीका यह स्वभाव होता है—वह मिलनेमें भी मिलनाकांक्षा करता हुआ व्याकुल रहता है। मिलनेके बाद भी स्मृतिमें डूबा रहता है। पास रहता हुआ भी दूर समझकर पुकारता रहता है। प्रभु प्रेमीके पास उसे असहाय समझकर, दीन समझकर दयामय स्वभाववश सहायता करने नहीं आते। वे निरन्तर उसके प्रेमसे खिंचे रहकर उसके पवित्र निर्मल मधुर प्रेम-सुधारसका आस्वादन करनेके लिये अपनी गरज दौड़े आते हैं और इतने प्रेमरसास्वादनपरायण हो जाते हैं कि एक क्षणके लिये भी वहाँसे हटना नहीं चाहते। तुम भगवान्‌के इस प्रेम-स्वरूपका अनुभव करो तथा नित्य-निरन्तर उनकी मधुरतम झाँकी करते हुए आनन्दमें डूबे रहो।

भगवान्‌का विरह-ताप बड़े ही सौभाग्यकी चीज है

निश्चिन्त रहना चाहिये। भगवान्‌ जिसको अपना लेते हैं, वह कभी निराश्रय होता ही नहीं। वे नित्य, सत्य, सनातन, सर्वत्र, सर्वदा हैं। उनका सांनिध्य कभी हटनेवाला है ही नहीं। उनकी कृपा अहैतुकी तथा प्रीति अनन्त है। उन-रातीखे वे ही हैं; वे सदा तुम्हारे हैं, तुम्हारे रहेंगे—इस बातपर विश्वास तथा नित्य इसका मधुरानुभव करते रहना चाहिये। तुमने लिखा, 'कोई सुननेवाला नहीं है' पर बात ऐसी नहीं है। वे सदा प्रतिक्षण तुम्हारी बात सुनते हैं, तुम्हें देखते हैं, तुमसे घुले-मिले रहते हैं, *'चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात'*—कभी क्षणभरके लिये भी वे इधर-उधर नहीं जाते। हाँ, कभी जो उनकी अनुभूति नहीं होती है, वह उनकी लीलाका मधुर रसास्वादन अधिक करानेके लिये ही नहीं होती। वियोगकी तीव्र स्मृति मधुनयी होकर वियोग-विषको मधुरतम सुधारसके रूपमें परिणतकर परम मधुर हो जाती है। यह अधीरता श्यामसुन्दरके दर्शन करानेवाली हो होती है। भगवान्‌का विरह-ताप बड़े ही सौभाग्यकी चीज है।

प्रेमराज्यका एक मधुर लक्षण है

तुम प्रशंसाके योग्य नहीं हो, यह बिल्कुल ठीक है। तुम जिसको 'मैं' समझकर ऐसा लिखते हो, उसकी प्रशंसा कौन करता है। प्रशंसा तो भगवदर्पितहृदय संहृतचित्त उस प्रेमीकी है, जिसकी प्रशंसा करनेमें भगवान्‌को भी आनन्द मिलता है; प्रेमी भक्तकी प्रशंसा प्रकारान्तरसे उसके भगवान्‌की प्रशंसा है। *'राम न सकहिं नाम गुन गाई।'* इसमें 'नाम' की प्रशंसा दीखती है, परंतु प्रकारान्तरसे है रामकी ही प्रशंसा। इसी प्रकार प्रेमीकी प्रशंसा प्रभुकी प्रशंसा होती है। प्रभु अपनी प्रशंसा सीधे न करके प्रेमीके नामपर किया करते हैं। यह भी प्रेमराज्यका एक मधुर लक्षण है।

मनमें सदा खूब प्रसन्न रहना चाहिये

मनमें सदा खूब प्रसन्न रहना चाहिये। प्रियतम प्रभुको कभी अलग मानना चाहिये ही नहीं। सचमुच वे कभी अलग होते ही नहीं। दिन-रात—आठों पहर हृदयमें बसे रहते हैं। यह प्रेम-वैचित्र्यकी मधुर स्थिति होती है, जो नित्य उनके समीप—अति समीप रहते हुए भी—सदा संस्पर्श प्राप्त होते रहनेपर भी वियोगका अनुभव होता है। वियोग और संयोग—दोनों इस मधुरतम प्रेम-सरिताके तट हैं। कभी इस तटपर, कभी उस तटपर आना-जाना लगा रहता है। इसीसे रसास्वादन, चिन्तन, दर्शनमें तीव्रतर मधुरता आती रहती है—संसारका सर्वथा अभाव हो जाता है। लोगोंके लिये जिस रूपमें संसार है, उस रूपमें वहाँ नहीं रहता। बस, श्यामसुन्दर और उनकी मधुरतम लीला ही रह जाती है—

काँकर—पाथर—ठीकरी भए आरसी मोहि।
प्रेम मधुर लीला निरत, जित—तित देखूँ तोहि।।

इसके अतिरिक्त कभी यदि पूर्व संस्कारवश संसार दीख जाता है तो वह बुरा लगता है, उसको मन ललकारता है कि 'तुम यहाँसे हट जाओ, वहाँ जाओ, जिस हृदयमें श्रीनन्दलाल न बसते हों'। अतएव संसार जो बुरा लगता है—उसमें प्रतिकूलताका जो बोध होता है, यह तो शुभ लक्षण है। मनमें कभी भी निराश नहीं होना चाहिये। अपनी चीजको वे आप देख—सँभालेंगे! अपने क्यों चिन्ता करें! क्यों अपने दोषोंका चिन्तन करें। दिन रात उन्हींकी सौन्दर्य माधुर्य—सुधाका पान करते रहें। हम कैसे भी हों, कहीं भी रहें, कुछ भी करें, वे प्राण—प्रियतम कभी हमें छोड़ते नहीं, अलग होते नहीं; चाहे हममें प्रेमगन्ध भी न हो, पर उनकी यह सहज प्रीतिपूर्ण कृपा तो हमपर है ही, रहेगी ही। उससे हम कभी वञ्चित हो ही नहीं सकते, यह दृढ़ अनुभव करते रहना चाहिये।

'स्वार्थका तात्पर्य'

तुमने लिखा—'मैं प्रभुको निरन्तर मन्द रक्खूँ, स्वार्थसे भी उनको निरन्तर हृदयमें बसाये रहूँ, कभी भूलूँ नहीं—इतना ही मेरे लिये बहुत है।' यह बहुत ही सुन्दर है। बस, 'स्वार्थ' शब्दका अर्थ होना चाहिये 'श्रीकृष्णप्रभुका सुख—उनका सुख ही अपना परम 'अर्थ' है। यही स्वार्थ हो और इस स्वार्थसे प्रभुको सदा सर्वदा हृदयमें बसाकर परम सुखका अनुभव करना—यही प्रियतम भगवान्‌का सुखरूप प्रेम है।

मनुष्यका शरीर क्षणभंगुर है

मनुष्यका शरीर क्षणभंगुर है, कब चला जाय, कुछ पता नहीं। अतएव सदा तैयार रहना चाहिये। तैयार रहनेका अर्थ है—संसारके किसी भी प्राणी पदार्थमें तथा अपने शरीरमें भी आसक्ति—ममता न रह जाय। आसक्ति—ममता होनेपर भी मृत्यु छोड़ेगी नहीं, वह तो ले ही जायगी। पर आसक्ति ममता होनेसे दुःखमय मृत्यु होगी और मृत्युके पश्चात् लोकान्तरमें भी दुःख ही भोगने पड़ेंगे। अतएव, बुद्धिमानी इसीमें है कि आसक्ति—ममताका नाश कर दिया जाय अथवा सारी आसक्ति—ममता सब जगहसे हटाकर एकमात्र श्रीभगवान्‌में ही जोड़ दी जाय।

मृत्युको अत्यन्त समीप मानकर मनुष्यको शीघ्र—से—शीघ्र यह काम कर लेना चाहिये। इसकी ओर ध्यान न देकर विषयासक्ति तथा प्राणी—पदार्थोंकी ममतामें बँधे रहना महान् प्रमाद है।

भगवान्‌का स्मरण ही जीवनका परम धन

भगवान्‌का स्मरण ही जीवनका परम धन, परम लाभ और परम सौभाग्य है।

यही परम सुख और परम बुद्धिमत्ता है। भगवान्‌की विस्मृति ही सबसे बड़ा अपराध है। भगवान्‌की मनमानी लीलाकी कल्पना करके निरन्तर उसका चिन्तन करना चाहिये। भगवान् सत्य हैं, सर्वत्र हैं; हम जिस रूपमें उनकी लीलाका चिन्तन करेंगे, वे लीलामय सचमुच उसी रूपमें हमारी अनुभूतिमें आने लगेंगे। तुम बार-बार उनकी मंगलमयी लीलाका चिन्तन किया करो। उन्हींमें मनकी सारी आसक्ति तथा ममता हो जानेपर वे कभी हृदयसे निकलेंगे ही नहीं। वे हमारे हृदयमें छिपे तो अब भी हैं ही, फिर तो उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगेगी।

भगवान्‌का स्मरण सदा होता रहे, मनमें सांसारिक विषयोंका आकर्षण एकदम न रहे तथा भगवान्‌के मंगलमय स्मरणमें मन लगा रहे—यही परम सौभाग्य है।

प्रियतम प्रभुकी चीज

'मनमें कहीं बुराई दीखनेपर अवश्य ही उसे ललकारना चाहिये। प्रियतम प्रभुकी चीजपर दूसरा क्यों दृष्टि डाले ? इसके लिये प्रभुसे यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं कि 'प्रभो ! तुम्हारे घरमें चोर क्यों घुसना चाहते हैं—इन्हें तुम हटाओ।' बुरी बात तो तब होती है, जब ये चोर प्यारे लगते हैं—पर यह भी पता नहीं कि इन चोरोंके वेषमें भी प्रियतम ही आते हों और इस रूपमें आकर हृदयके बचे खुचे कलुषको हरते हों। उनकी विचित्र लीला भंगिमा हुआ करती है। वे नये-नये स्वाँग रचा करते हैं। पर प्रेमीके हृदयके पास उनके सिवा दूसरा कोई आ नहीं सकता; उसके पवित्रतम हृदय-देशके चारों ओर प्रभुका पहरा रहता है; क्योंकि वह उनका लीला-विहार-स्थल, पवित्र अन्तःपुर है। वहाँ दूसरे किसीका प्रवेशाधिकार नहीं है।

मेरे प्रभु सर्वत्र मेरी रक्षा करते हैं

तुमने लिखा है—'मैं दिन-रात संसारमें ही रहता हूँ और यहीं रहना है।' पर तुमको इसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये। किसी भी अवस्थामें, कहीं भी रहना हो—तुम्हें यह मानना चाहिये कि मेरे प्रभु सर्वत्र मेरी रक्षा करते हैं और करेंगे। अपनेको कभी निराश्रय, असहाय नहीं मानना चाहिये। अनन्त योगक्षेमका वहन वे सदा-सर्वदा करेंगे, कर रहे हैं—यह दृढ़ विश्वास मनमें रखना चाहिये।

भक्तसे भगवान् तो कहा करते हैं—

हो रहो मेरे, निरन्तर चरणसे चिपटे रहो।
दूर मत होओ कभी, बस, हृदयसे लिपटे रहो।।
पकड़कर फिर छोड़ना मुझसे न बनता है कभी।
रस पिलाता दे मधुरतम भाव मैं उरके सभी।।

अतएव संसारकी ओरसे मनमें सदा उपेक्षा रखकर नित्य नयी-नयी मधुरतम और पवित्रतम भाव-सुधा-तरंगोंमें उछलते कूदते रहना चाहिये। जगत्‌में मन शान्त रहे तथा प्रेमसमुद्रमें सदा विक्षुब्ध रहे और नयी-नयी तरंगोंसे भगवान्‌को नहलाता रहे।

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ

भगवान् सदा अपनी ओर ही देखते हैं। जो उनका हो गया है, उनके दोषोंकी ओर वे देखते ही नहीं, यह उनका सहज स्वभाव, विरद है *'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।'* पर यथार्थ बात तो यह है कि जिसने अपनी सारी ममता प्रभुके चरणोंमें केन्द्रित कर दी है और जिसको भगवान्‌ने लोभीके हृदयमें बसनेवाली धनराशिकी भाँति अपने हृदयमें बसा लिया है, उसमें भी क्या कभी कोई दोष रह सकता है। जिसको भगवान् अपनी स्मृतिमें रखते हैं, वह भगवान्‌को कैसे भूल सकता है। उसके समान परम भाग्यशाली तो वही है।

भगवत्प्रेमी सदा अपनेको दीन-हीन मानता है

प्रेम न होनेपर ही अपनेमें प्रेम दीखा करता है; पर जहाँ नहीं दीखता और सदा कमी ही दीखती है, वहीं प्रेम हुआ करता है। भगवत्प्रेमी सदा ही अपनेको दीन-हीन मानता है और प्रेमास्पद प्रभुकी अपने प्रति अकारण प्रीतिका अनुभव करता है। प्रेम वस्तुतः गुणरहित तथा कामनारहित ही होता है। मुझमें गुण है, इसलिये प्रभु मुझसे प्रेम करें-यह गुणाभिमान प्रेमीमें नहीं होता। न वह गुण दिखाकर प्रीति चाहता है, न वह प्रेमास्पदमें गुण हैं-इसलिये प्रेम करता है।

चिन्ता करनेमें कोई लाभ नहीं

शरीर तो पाञ्चभौतिक है वह तो नष्ट होगा ही; अतएव इसकी चिन्ता करनेमें कोई लाभ नहीं। जबतक रहना हो, रहे; जाना हो चला जाय। क्षणभर भी भगवान्‌के साथ सम्पर्क न छूटे।

एकमात्र श्रीश्यामसुन्दर ही सारे हृदयमें सदा छाये रहें।

तुम्हें अपनेमें दोष दीखते हैं, यह तो गुण है। जिसको अपने दोष दीखते हैं, वही दोषोंसे मुक्त हो सकता है। जिसको अपने दोष नहीं दीखते या जो दोषोंको गुणरूप देखता है, वह कभी दोष-मुक्त नहीं हो सकता। अपनेमें कितने ही दोष हों, भगवान् इन दोषोंको देखकर हमसे कभी घृणा नहीं करते, कर सकते नहीं। हमारे दोषोंका पार नहीं, उनके प्रेमका पार नहीं। उनकी आदतकी ओर देखकर-उनके विरदकी ओर देखकर हमें सदा परम उत्साहवान् रहना चाहिये।

मनमें यह दृढ़—अतिदृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि उन परम सुहृद श्यामसुन्दरने हमको अपना लिया है, अपना बना लिया है; अतएव अब हमें जरा भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। आगेकी चीजको वे आप ही ठीक करेंगे। अपना काम तो, बस, उनका मधुर चिन्तन करना ही है। यह चिन्तन उत्तरोत्तर बढ़ता रहे, पवित्रतम, मधुरतम होता रहे। जगत्, जगत्के भोग, जगत्के लोग—सब हृदयसे निकल जायँ। एकमात्र श्रीश्यामसुन्दर ही सारे हृदयमें सदा छाये रहें।

परमानन्दकी अनुभूति

नित्य-निरन्तर श्रीभगवान्के स्मरणमें ही परमानन्दकी अनुभूति होती रहे। जगत् तथा जगत्के विषयोंकी स्मृति हो ही नहीं। विषयासक्ति, विषयकामना बहुत छिपकर भी रहा करती है—अपनेको त्यागी मान लेनेवाले तथा बाहरसे विषयोंका त्याग कर देनेवाले लोगोंमें भी। अतएव इनसे सावधान रहना चाहिये। सदा-सर्वदा विषय-वैराग्ययुक्त चित्त केवल भगवच्चरणोंमें अनुरक्त रहना चाहिये। इसीमें परम हित है। हम सारे संसारको भूल जायँ! कभी संसार याद आवे ही तो वह भगवान्के सम्बन्धको लेकर। हम केवल इतना ही चाहें कि सब कुछ चला जाय—और चला जाना ही चाहिये, यदि वह परम प्रभु भगवान्की विस्मृतिमें हेतु हो—पर भगवान्के साथ सदा मनका अटूट सम्बन्ध बना रहे। हम कहीं भी जायँ, किसी भी योनिमें जायँ, उनके साथ हमारा सम्पर्क प्रत्यक्ष रहे—

कुटिल करम लै जाहिं मोहि, जहँ—जहँ अपनी बरिआई।
तहँ—तहँ जनि छिन छोह छाड़ियो कमठ—अंड की नाई।।

समर्पण

मन निरन्तर भगवान्की स्मृतिमें ही लगा रहे, दूसरेका चिन्तन हो ही नहीं; समर्पण पूर्ण होना चाहिये। जिस मनमें भगवान् बस गये, उसमें कभी किसी भी हालतमें दूसरेको स्थान नहीं मिलना चाहिये। गोपियोंने तो उद्धवजीसे कहा था कि परमात्माके ध्यानके लिये भी मनमें स्थान नहीं रहा। इसी प्रकार दिन-रात, स्वप्न-जागरणमें, सदा-सर्वदा एकमात्र प्रभु ही चित्तमें रहें, प्रभुमें ही चित्त रहे। प्रभुका चित्त ही अपना चित्त बना रहे।

प्रभु-प्रेमका जीवन

मेरे लिये तुमने जो कुछ लिखा, यह तुम्हारी अपनी धारणा है। मैं अपनेको जानता हूँ। जहाँतक मेरा अनुभव है—मैं एक साधारण प्राणी हूँ। हाँ, एक विशेषता तो अवश्य है—वह यह कि श्रीभगवान्की मुझपर अहैतुकी कृपा अनन्त है, अपार है। यह मेरे किसी गुण या साधनसे नहीं है, उनके स्वभावसे ही है। यही

मेरा सर्वस्व, धन, साधन, सिद्धि- सब कुछ है। मैं कुछ करता हूँ, कर सकता हूँ, ऐसा कुछ भी नहीं है। हाँ, मैं हृदयसे चाहता हूँ-तुम्हारा जीवन प्रभुके चरणोंमें सदाके लिये विलीन हो जाय। तुम्हें प्रभुके पवित्र प्रेम-समुद्रमें सदाके लिये डूब जानेका परम सौभाग्य मिले। तुम्हारे जीवनका प्रत्येक क्षण परमपवित्र, सर्वथा निर्मल, उज्ज्वल, जगत्स्मृति-शून्य, केवल मधुर भगवत्स्मृतिमय हो जाय। दुःख, विषाद, शोक, निराशा, चिन्ता, दोष, पाप तथा काम क्रोधादि दुर्गुणोंका गन्ध-लेश भी तुम्हारे जीवनमें न रहे। तुम्हारा जीवन सदा-सदाके लिये पवित्रतम प्रभु-प्रेमका जीवन बन जाय!

भगवान् मेरे हैं

भगवान्‌की बड़ी कृपा है। उनकी कृपाके अनुभवसे बहुत आनन्द रहता है। हर अवस्थामें उनकी अहैतुकी प्रीति तथा अकारण कृपाका अनुभव करते रहना चाहिये। संसारकी सभी परिस्थितियोंमें उनकी कृपा देखकर लाभ उठाना चाहिये। मनमें सदा इस बातको लेकर परम प्रसन्न होना चाहिये कि भगवान् मेरे हैं तथा उन्होंने मुझको पूर्णरूपसे अपना लिया है; अतएव सदाके लिये वे मुझे अपनाये ही रहेंगे, क्योंकि वे अपनाकर छोड़ना जानते ही नहीं। जीवन-मृत्यु—सभीमें उनका संग रहेगा, सचमुच रहेगा ही। भगवान्‌को हम ही भूलते हैं, वे तो कभी भूलते नहीं। छोड़ना तो वे जानते ही नहीं। पर हमारे मनमें विश्वासकी कमी होनेसे हम ऐसा अनुभव नहीं कर पाते।

भगवत्स्मृति

भगवत्स्मृति अधिक-से-अधिक हो, अधिक-से-अधिक मधुर हो, अधिक-से-अधिक जगत्‌की चिन्ताको हरनेवाली हो, अधिक-से-अधिक संनिधिका अनुभव करानेवाली हो, अधिक-से-अधिक पवित्रतम भावोंका उदय करनेवाली हो, जगत्‌के शोक, भय, विषाद, मोह, ममता, अहंता- सबको सर्वथा नाश करनेवाली हो। ऐसी स्मृतिके लिये मनमें दृढ़ संकल्प करके भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

मंगलविधान

भगवान्‌के मंगलविधानके अनुसार जब जहाँ रहनेका विधान होगा, तब वहाँ रहना-जाना होगा ही। अतएव कर्तव्यबोधसे यथायोग्य चेष्टाकी जाती है, मनमें बड़ी शान्ति है। भगवान्‌की बड़ी कृपा है और वह कृपा सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा सबपर है। इससे सदा ही प्रसन्नता और निश्चिन्तता है।

आँसू प्रेमकी प्राप्तिका परम साधन हैं

भगवान्‌से मिलनेके लिये भगवद्विरहके जो आँसू आते हैं, वे तो नयनजल

हैं और बड़े सौभाग्यसे आते हैं, उक्त प्रकारके आँसू तो वाञ्छनीय हैं। परंतु जिन आँसुओंमें दुःख होता है, वे बड़े दुःखद हैं। तुम विश्वास करो- तुम्हारे आँसुओंको भगवान् देखते हैं और वे पोंछते भी हैं तथा पोंछेंगे भी और उन्हींके पोंछनेसे आँसू पोंछे भी जायँगे। पर राधाजी तो आँसुओंको बहुत पसंद करती हैं। वे कहती हैं—

अरी सखि मेरे तन-मन, प्रान।
धन-जन, कुल-गृह—सब ही, वे हैं, सील, मान, अभिमान॥
आँसू-सलिल छाँड़ि नहिं कछु धन है राधा के पास।
जा के विनिमय मिलें प्रेमधन नीलकांत-मनि खास॥
जानि लेहु सजनी, निस्चै यह परम सार को सार।
स्याम-प्रेम को मोल अमोलक सुचि अँसुवन की धार॥

आँसुओंकी पवित्र धारा प्रेमास्पद श्रीकृष्णकी मधुर स्मृति कराती है, इसलिये प्रेमीजन उसे प्रेमास्पद तथा प्रेमकी प्राप्तिका परम साधन मानते हैं।

प्रेमराज्यमें प्रभु सदा साथ रहते हैं

प्रभुके लिये जो अपने मनको खाली कर देता है, उस मनमें प्रभु सदाके लिये आ विराजते हैं और उसपर अपना एकाधिकार कर लेते हैं। फिर निकाले भी नहीं निकलते! प्रेमी भक्तको निरन्तर केवल उनकी स्मृति ही नहीं होती—केवल संनिधिका ही अनुभव नहीं होता, निरन्तर लीलादर्शन भी होता रहता है तथा लीलामें सहयोगका भी सौभाग्य प्राप्त होता है। वह लीलाका भी अनुभव करता है। प्रभुके इस नित्य-मिलनको कोई हटा नहीं सकता, बल्कि इसकी प्रगाढ़ता और स्पष्टता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। प्रेमराज्यमें प्रभु सदा साथ रहते हैं—यह सर्वथा निश्चित बात है। हमारी ही कमी है, जो हम प्रभुसे अनन्य प्रेम करके उनके नित्यसंगका सुख प्राप्त नहीं करते।

'सखी-भाव' पूर्ण समर्पणका भाव है

भक्तगण अपनी रुचिके अनुसार भगवान्से विविध प्रकारके सम्बन्ध स्थापितकर उनका भजन करते हैं। इनके अनन्त भाव हैं, परंतु आचार्योंने उनमेंसे पाँच भावोंको मुख्यरूप दिया है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। कोई महानुभाव शान्तको सबसे अन्तिम भाव मानते हैं तो कोई सबसे प्रथम; रुचिवैचित्र्य है। साथ ही शान्तभावके स्वरूप भी दो तरहके हैं। अस्तु, अब रहे दास्यसे लेकर माधुर्यतक चार भाव। इन चारोंमें उत्तरोत्तर प्रगाढ़ता है, परंतु यह नियम नहीं कि क्रमसे ही इन भावोंका प्रयोग किया जाता हो। माधुर्य-भावको पूर्ण समर्पणका भाव मानते हैं। जैसे पतिके चरणोंमें पत्नी अपने आपको पूर्णतया समर्पित करके, उसीको अपनी परमगति, परम

आश्रय, परम लाभ, परम आदर्श मानकर तन, मन, धनसे सेवा करती है, उसी प्रकार भक्त भी भगवान्‌को ही अपना एकमात्र स्वामी मानकर सर्वात्मभावसे सर्वार्पण करके उन्हें ही भजता है। इस प्रकारके भजनका नाम ही 'सख्यभाव' है।

भगवत्प्रेरित कर्म करें

जिस प्रकार कोई नौकर मालिकके ही सब काम करता है, लेकिन मालिकके आदेशकी परवाह न करके यदि वह मनमाना आचरण करने लगे तो मालिक उसे सजा देता ही है, उसी प्रकार हमने भी ईश्वरकी ईश्वरता भुला दी है और उसकी प्रेरणापर ध्यान न देकर अपनेको ही ठीक करनेवाला—कर्ता मान लिया है। इस मिथ्या अभिमानसे प्रेरित होकर ही हम कर्म करते हैं और इसीलिये उसका फल भी भोगते हैं। यदि हम अपने कर्तृत्वाभिमानको छोड़कर भगवत्प्रेरित कर्म करें तो अवश्य कर्मफलसे मुक्त हो सकते हैं; उस समय हमारे अंदर स्वार्थबुद्धि नहीं रहेगी और स्वार्थ न रहनेसे हम पापमें भी प्रवृत्त नहीं होंगे।

सदा उनके हाथके इशारेपर सब कुछ होता रहे

अपना जीवन तो प्रभुके चरणोंमें सदाके लिये समर्पित ही है ! जीवन—पुष्प उनके चरणोंमें चढ़ा ही हुआ है। अब नया समर्पण और नया चढ़ाना क्या होगा। थोड़ी—सी सीमामें हम क्यों आबद्ध रहें। प्रभुके चरण सर्वत्र हैं, सदा हैं और हमारा अनन्त जीवन भी सर्वत्र है, सदा है, जहाँ प्रभु रक्खें, वहीं उनको समर्पित है। अतएव हमको निश्चिन्त रहना चाहिये। प्रभुके चरणोंपर चढ़े जीवनके लिये हम क्यों चिन्ता करें। जैसे उनकी इच्छा हो, वैसे ही वे करें—करायें। अपने तो उनके हाथकी कठपुतली बने रहना है। वे नचायें, घुमायें, ऊपर करें, नीचे करें, सुला दें, बिठा दें, भगा दें—जो कुछ भी करें, सदा उनके हाथके इशारेपर सब कुछ होता रहे।

सदा—सर्वदा पवित्र प्रेम—रसका सेवन करें

भगवान्‌में जो तुम्हारा अतुलनीय प्रेम है और प्रेमके स्वभाववश तुम अपनेमें प्रेमका अभाव देखते हुए भगवान्‌से सदा पवित्र प्रेमके लिये ही प्रार्थना करते हो, यह तुम्हारा परम सौभाग्य है। प्रेम भगवान्‌की अखण्ड और मधुर सुखमयी स्मृति कराता है। प्रभुकी स्मृति स्वभावतः ही दूरी, भेद और विस्मृतिका विनाश कर देती है और दिनोंदिन प्रेम—रसको परिमाण तथा माधुर्यमें बढ़ाती रहती है। प्रेम ही एक ऐसा रस है, जो सारी नीरसताका नाश करके जीवनको रसमय बना देता है। जीवनमें जबतक नीरसता है तबतक कामका नाश नहीं होता; क्योंकि नीरसता रस प्राप्त करनेकी इच्छासे निरन्तर कामका सेवन कराती है और कामसे नये-नये दोष, विकार, दुःख, निराशा, विषाद आदि उत्पन्न होते

रहते हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको सदा–सर्वदा पवित्र प्रेम–रसका सेवन करना चाहिये, जो रसरूप, रसमय, रसराज प्रभुका दूरी तथा सन्देह भेदोंको मिटाकर–नित्य स्पर्श, नित्य मिलन करा देता है।

श्रीकिशोरीजी और श्रीश्यामसुन्दर एक ही हैं

श्रीकिशोरीजीका पृथक् ध्यान न करके केवल श्रीश्यामसुन्दरका ध्यान करनेसे या उन्हींसे प्रेम करनेसे भी श्रीकिशोरीजीकी अवश्य प्राप्ति हो सकती है। वास्तवमें श्रीकिशोरीजी और श्रीश्यामसुन्दर एक ही हैं। श्रीश्यामसुन्दर शक्तिमान् हैं और श्रीकिशोरीजी उनकी शक्ति हैं। वे पृथक् और अपृथक् दोनों रूपोंमें रहते हैं। जब साधक श्रीश्यामसुन्दरको ही अपना ध्येय समझता है, तब श्रीकिशोरीजी उनसे अपृथक्भावसे उनके साथ रहती हैं। साधक इस बातको जानता हो तो ठीक है, न जानता हो तो भी कोई हर्ज नहीं है। इसलिये केवल श्रीश्यामसुन्दरको ध्येय माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। जो लोग श्रीकिशोरीजीको श्रीश्यामसुन्दरसे पृथक् मानते हैं, उनकी उपासना भगवल्लीला प्रधान है। लीलामें श्रीकिशोरीजी पृथक्–रूपसे ही रहती हैं। इसलिये उनका कहना भी ठीक है। परंतु जिनकी उपासनामें भगवत्स्मरणकी प्रधानता हो, उनके लिये वैसा मानना जरूरी नहीं है।

क्रोधसे किसीका कोई लाभ सम्भव नहीं है

आप क्रोधको व्यक्त होनेसे रोक लेते हैं, यह बहुत अच्छा है। मनसे क्रोध दूर करनेके लिये आप उसके कारणपर विचार न करके इस बातपर विचार करें कि क्रोध करनेसे आपका या जिसपर आप क्रोध करना चाहते हैं, उसका क्या लाभ होगा। यदि किसीका भी भी कोई लाभ होता दिखाई दे तो अवश्य क्रोध कीजिये और यदि किसीका भी लाभ नहीं जान पड़ता हो तो अपने चित्तको क्रोधाग्निसे जलाना व्यर्थ ही है।

ममताका त्याग ही सच्चा त्याग है

यह बात निश्चित है कि संसारमें हमारा कुछ नहीं है, सब भगवान्‌का ही है। यदि यह निश्चय दृढ़ हो जाय तो हमारे पास त्यागनेको कोई चीज तो नहीं रहती। तब तो हमारा जीवन त्यागमय ही है। इस प्रकार ममताका त्याग ही सच्चा त्याग है और निर्मम जीवन ही सच्चा त्यागमय जीवन है।

सबसे बड़ा भगवान्‌का बल है

हिंदुओंको बलवान् बनना चाहिये तथा समयपर धर्म और आत्मरक्षाके लिये तैयार रहना चाहिये–यह ठीक है। पर बल ऐसा हो, जिससे किसीपर अत्याचार न हो, किसीके साथ अन्याय न हो, दुर्बल न सताये जायँ, स्वार्थवश

किसीपर आक्रमण न हो, परंतु जिसका प्रयोग बिना किसी द्वेषके दुर्बलकी रक्षामें, धर्मरक्षा या आत्मरक्षामें किया जा सके। सबसे बड़ा भगवान्‌का बल है, जिसके भरोसे श्रीलक्ष्मणजीने ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह उठाने, मूलीकी तरह तोड़ने और शिवधनुषको छत्रकी भाँति नष्ट कर डालनेकी साहसपूर्ण वाणी कही थी। यह बल भगवान्‌की सच्ची शरणागतिसे ही प्राप्त होता है; क्योंकि शरणागत भक्तमें भागवती शक्ति अवतीर्ण होकर अपनी लीला करने लगती है। उस सर्वशक्तिके सामने समस्त शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं; तथापि शारीरिक बल, धन-बल, विद्या-बलकी उपेक्षा नहीं है। इनका भी यथेष्ट अर्जन करना यथायोग्य उचित है, परंतु इनका ही आश्रय नहीं होना चाहिये। जो इन्हींके आश्रित हो जाते हैं, वे तो असुर हैं और असुरोंका दैवबलके सामने पराजित होना निश्चित है, समय चाहे अधिक लगे।

भगवत्प्रेमकी प्यास शान्तिका सबसे बड़ा साधन है

भगवत्प्रेमकी प्यास शान्तिका सबसे बड़ा साधन है। वस्तुतः संसारके सभी जीव अतृप्तिकी आगसे जल रहे हैं। उनमेंसे अधिकांशने तरह-तरहके सांसारिक भोगोंको ही अपनी शान्तिका साधन मान रखा है। इसलिये विश्वम्भर श्रीश्यामसुन्दर भी उनको अभीष्ट भोग देकर उन्हें बहला देते हैं। परंतु जो बड़भागी इन भोगोंकी ओरसे मुँह मोड़कर एकमात्र श्रीश्यामसुन्दरके लिये मचल जाते हैं, उनपर उनकी मायाका वश नहीं चलता। उनके लिये तो उन्हें स्वयं ही आना पड़ता है।

जप, ध्यान और स्वाध्यायका समय निश्चित होना चाहिये

स्वाध्याय भी भजनका ही अंग है। इसलिये नियमित रूपसे स्वाध्याय भी अवश्य करना चाहिये। जप, ध्यान और स्वाध्यायका समय निश्चित होना चाहिये। शेष समय मानसिक जप चलता रहे। दैनिक कार्यक्रमका निश्चय तो अपनी सुविधाके अनुसार आप ही कर सकते हैं। मोटे रूपमें यों समझना चाहिये—स्वाध्यायमें अर्थपर ध्यान रखते हुए कम-से-कम एक अध्याय गीता और श्रीरामायणजीका मास-पारायण रहे तो अच्छा ही है। श्रीमद्भागवतका भी कम-से-कम एक अध्याय तो रहना ही चाहिये। ध्यानके लिये कम-से-कम आधा घंटा सबेरे और आधा घंटा शाम रखिये। उसके लिये आधे घंटेतक निश्चल आसनमें बैठनेका अभ्यास होना चाहिये। दिनभरमें कम-से-कम पाँच माला बैठकर जप करना चाहिये।

भगवान् कभी निराश नहीं करते

आप भगवत्प्रेम पानेके लिये उत्सुक हैं तो भगवान् आपपर अवश्य कृपा करेंगे। उनकी कृपासे ही तो यह उत्सुकता प्राप्त हुई है। इसलिये मनमें यह

निश्चय रखिये कि जिन्होंने यह ज्वाला लगायी है, वे ही इसे शान्त भी करेंगे। भगवान् कभी निराश नहीं करते।

भगवन्नाम, रूप और लीला—ये आपके साथी बने रहें

आपके यहाँ सत्संगका अभाव है तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। आप भगवन्नामको ही अपना चिर-सहचर बनाइये, फिर आप ऐसा अभाव अनुभव नहीं करेंगे। भगवान्के नाम, रूप और लीला—ये आपके साथ बने रहें; और किसीके संगकी आपको क्या जरूरत होगी। इनसे बड़ा और कोई संत भी आपको कहाँ मिलेगा। जपसे नामका, ध्यानसे रूपका और गीता भागवतादिके स्वाध्यायसे भगवल्लीलाओंका संग हो सकता है।

गृह, सम्पत्ति तथा सम्बन्धियोंके साथ भगवान्के नाते सम्बन्ध रखिये

सूर्योदयसे पूर्व जैसे उषाकी लाली उसके आनेकी सूचना देती है, उसी प्रकार भोगोंके प्रति उदासीनता प्रभुकृपाके आविर्भावका ही पूर्वसंकेत है, इसलिये आपके हृदयमें सांसारिक भोगोंकी ओरसे जो निर्वेद है, वह तो प्रभुकी परम कृपा ही है। परंतु प्रभुकी पूर्ण कृपाका अनुभव तबतक नहीं होता, जबतक जीवके अन्तःकरणका सारा मल निर्वेदकी ज्वालामें जल नहीं जाता। यह जलन अवश्य ही मनको अच्छी नहीं लगती। इसके कारण चित्तमें एक प्रकारका विक्षेप, अशान्ति और निराशा-सी भी बनी रहती है। परंतु ऐसा हुए बिना मनका मैल भी तो नहीं जलता। जिस दिन मन निर्मल हो जाता है, उस दिन प्रभु स्वयं ही प्रेम-दान कर देते हैं। परंतु प्रेमीकी प्यास कभी शान्त नहीं होती। हाँ, उस प्यास और इस अशान्तिमें अन्तर अवश्य है। इस समय तो मन विस्मृति होनेपर इधर-उधर भटकता है, परंतु तब स्मृति-विस्मृति—दोनों ही भगवन्मयी होती हैं। हाँ, स्मृतिमें प्यारा आँखोंके सामने रहता है और विस्मृतिमें आँखें उसीको ढूँढ़ती रहती हैं—इतना अन्तर अवश्य होता है। इस लुका-छिपीमें भी चित्त अनेकों बार विषादमें डूबता है, परंतु वे निराशा और विषाद भी परम आनन्दमय होते हैं; क्योंकि ये भी प्रेमकी ही एक अवस्थाविशेष हैं।

अतः आप जिस साधनमें लग रहे हैं, उससे घबराइये मत। दूने उत्साहसे प्रभुका स्मरण कीजिये। सब काम करते हुए भी निरन्तर नाम जप और उनका चिन्तन करते रहें। बच्चे और घर भी उन्हींकी सम्पत्ति है। जब सारा संसार उन्हींका है तब ये क्या उससे बाहर हैं? इन्हें उन्हींकी चीज समझकर प्रेमपूर्वक इनकी देखभाल कीजिये। इन्हें छोड़ देनेपर भी आपकी आँखोंके सामने कुछ

पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे और गृह आदि आयेंगे ही। केवल ममता न होनेसे ही आप उनके कारण अपने लिये कोई बाधा नहीं समझेंगे। इसी प्रकार आज इन गृह, सम्पत्ति और सम्बन्धियोंसे भी ममताके नाते नहीं, बल्कि भगवान्‌की वस्तुके नाते सम्बन्ध रखिये और उनकी यथोचित देखभाल और सेवा कीजिये। यों करनेसे आपका प्रभु–चिन्तन अखण्ड हो जायगा और फिर प्रभु–कृपाका अनुभव होनेमें भी देर नहीं लगेगी। परंतु यह सब होते हुए भी प्यारे श्यामसुन्दरके नाम और रूपका चिन्तन हर समय होते रहना चाहिये।

और अधिक क्या लिखूँ। भगवान् आपको जल्दी–से–जल्दी अपना प्रेमदान करें, यह मेरी आन्तरिक अभिलाषा है।

भगवान्‌को पानेके लिये जैसी स्थितिमें रहना पड़े, उसीमें रहिये

जीवनमें हँसने–खेलनेकी और गम्भीर रहनेकी–दोनों ही बातोंकी आवश्यकता है। दोनोंसे ही प्रत्येक जीवका पाला भी पड़ता है। जो लोग हँसने–खेलने और मौज उड़ानेको ही सार समझते हैं, उन्हें जब विपत्तिका सामना करना पड़ता है, तब उदास होना ही पड़ता है और जो जीवनकी गुत्थीको सुलझानेकी समस्या लेकर सर्वदा गम्भीर रहते हैं, उन्हें भी कभी–कभी दैवकी अटपटी चालपर हँसी आती है। असलमें जीवनका लक्ष्य हँसना–खेलना या उदासीन रहना–इन दोनोंमेंसे कोई नहीं है। जीवनका लक्ष्य है––भगवान्‌को पाना। उन्हें पानेके लिये जैसी स्थितिमें रहना पड़े, उसीमें रहना अच्छा है।

सदा सर्वत्र भगवान्‌को देखना चाहिये

संसारमें जहाँ–जहाँ मन दौड़कर जाय, वहाँ–वहाँ ही श्रीभगवान्‌को देखना चाहिये। मनसे कह देना चाहिये कि या तो तुम बिना भटके श्रीभगवान्‌के मधुर दिव्य स्वरूपमें तथा उनके लीला–गुण–नामकी स्मृतिमें ही निरन्तर अटके रहो या फिर जहाँ–कहीं भी जाओ, वहीं आगे–से–आगे मिलेंगे तुम्हें मेरे प्रभु ही, क्योंकि वे ही सर्वत्र–सदा हैं। तुम उनको छोड़कर जाओगे कहाँ ?

सखीभावसे भजन करना बहुत बड़े अधिकारकी बात है

सखीभावका एक रूप है––भगवान्‌की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति श्रीसीताजी–श्रीराधाजी प्रभृति दिव्य भगवत्स्वरूपा भगवत्प्रेममयी महारानियोंकी अपनेको सखी समझकर भगवान्‌को भजना। यह बहुत ही ऊँचा भाव है। इसमें अपने लिये कहीं किसी भी कामनाका लेश नहीं है। बस, प्रिया–प्रियतमके मिलनमें ही इनको सुख मिलता है और उनकी मिलन–लीलामें सहायक होना ही इनका एकमात्र कर्तव्य है। यह भाव व्रजकी महामहिमामयी कतिपय

गोपदेवियोंमें था, जिसके कारण वे प्रेममार्गकी आचार्यरूपा मानी जाती हैं। सखीभावके और भी कितने ही स्वरूप महाभाग भक्तोंने माने हैं। परंतु इतना ख्याल रहे कि सखीभावमें सर्वत्र स्वसुख इन्द्रिय-सुखका सर्वथा त्याग और श्रीकृष्ण (भगवान्) में सर्वथा भगवद्भावका निश्चय अवश्य होना चाहिये। यह भाव बहुत ही श्रेष्ठ है। इस भावका साधक जगत्के समस्त पदार्थोंको अपने इष्टदेवके प्रति समर्पण कर देता है और उसका उपभोग अपनी इन्द्रिय-तृप्तिके लिये न करके भगवान्की सेवाके लिये करता है। संसारसे पूर्ण विराग होनेपर ही इस भावकी साधना सम्भव है। इसमें लहँगे, साड़ी या चूड़ी-जूड़ेकी जरूरत नहीं है; जरूरत है समर्पणपूर्ण सखीभावकी। सखीभावसे भगवान्का भजन करनेवाला पुरुष भोजन करनेकी भाँति ही, शास्त्रसे अविरुद्ध अन्यान्य आवश्यक विषयोंका ग्रहण भी करता है; परंतु उसका लक्ष्य इन्द्रिय-सुख-भोग कदापि नहीं रहना चाहिये। वह तो अपनेको स्वयं श्रीभगवान्का 'भोग्य' बना चुका रहता है; फिर वह भोक्ता किसका और कैसे होगा? उसके लिये तो जगत्में एकमात्र श्रीराम या श्रीकृष्ण ही भोक्ता पुरुष हैं, उनके अतिरिक्त सभी कुछ भोग्य—प्रकृति है। भोग्य भोग्यका भोग क्या करेगा? कहनेका तात्पर्य यह है कि सखीभावसे भगवान्का भजन करना बहुत बड़े अधिकारकी बात है। सबके लिये यह भाव सम्भव नहीं है। इसलिये यदि इस भावसे कोई महानुभाव भजन करना चाहें और वैसी योग्यता उनमें न हो, तो उन्हें इस पथपर पैर नहीं रखना चाहिये।

भगवान् सदा हमारे रहेंगे ही

तुमने अपने हृदयको मलिन बताया और श्रीभगवान्के परम अनन्य प्रेमकी इच्छा प्रकट की, ये दोनों ही बातें आदर्श हैं। अपने हृदयकी मलिनता मनुष्यको ठीक-ठीक दिखाई देने लगे और वह सहन न हो तो भगवत्कृपासे वह सारी मलिनता धुल सकती है; और भगवत्प्रेमकी चाह तो अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना होती ही नहीं। सारी चाहोंको खा जाती है—भगवत्प्रेमकी चाह। और भगवान् तो—जो उनके प्रेमकी चाह करता है, उसके हाथों बिना मोल बिके रहते हैं। वे उसके सर्वथा अपने बन जाते हैं, इसमें जरा भी संदेहकी बात नहीं है। प्रेमीको तो कभी इसमें संदेह होता भी नहीं; वह तो नित्य-निरन्तर अपने प्रभुको अपना ही मानता है, अपना ही देखता है, अपना ही अनुभव करता है। भगवान्ने उनको सर्वथा अपना लिया है, हम भगवान्के हो चुके हैं, भगवान् हमारे हैं—यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। शरीर कहीं रहे, रहे न रहे, भगवान् सदा हमारे रहेंगे ही, हमारे पास रहेंगे ही। उन्हें छोड़ना न हमारे लिये सम्भव है न वे ही हमें छोड़

सकते हैं—यह दृढ़ निश्चय रहे।

प्रभुकी प्रसन्नतामें ही सदा प्रसन्न रहना चाहिये

हमारे सबके मनोंकी बात प्रभु पूरी-पूरी जानते हैं और वे सर्वशक्तिमान् होते हुए भी हमारे परम सुहृद् भी हैं। अतएव वे वही करते हैं, जो हमारे लिये उचित तथा आवश्यक होता है। हमें उनकी कृपा तथा उनके विधानपर विश्वास करना चाहिये। प्रभु हमारे मनकी नहीं होने देते, इसका अर्थ ही है कि वे अपने मनकी करते हैं और हमें उनके मनकी प्रसन्नतामें ही सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

अशान्तिका कारण है—भगवान्में विश्वासकी कमी

मनमें अशान्ति रहनेका कारण है—भगवान्में उनके मंगलविधानमें पूर्ण विश्वासकी कमी। भगवान्पर पूर्ण विश्वास हो जानेपर चित्त सर्वथा शान्त और सुखमय हो जाता है, फिर उसपर किसी भी बाहरी परिस्थितिका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भगवान् हमारी योग्यताकी ओर नहीं देखते, अपने विरदकी ओर देखते हैं

तुमने श्रीमहाप्रभु तथा उनके भक्तोंकी बात लिखी, सो उनका तो स्मरण ही हमलोगोंके लिये कल्याणप्रद है। उन-जैसी स्थिति, निष्ठा, साधना, रति-विरति—हम लोगोंमें कहाँ है। कभी प्रभु-कृपासे किसी अंशमें वैसी स्थिति हो जाय तो बड़े ही सौभाग्यका विषय हो। पर हम चाहे कैसे भी हों, भगवान् तो हमारे अकारण सुहृद् हैं ही, तथा उनका सौहार्द हमारी योग्यताकी अपेक्षा नहीं रखता। वह तो सहज, स्वाभाविक ही है। भगवान् हमारी ओर नहीं देखते—वे तो अपने विरदकी ओर देखा करते हैं—

'बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति।।'

प्रेमीमें तनिक भी अभिमान नहीं आना चाहिये

तुमपर भगवान्की सचमुच बड़ी ही कृपा है, जो तुम्हें उनकी पवित्रतम मधुर लीलाओंके चिन्तन-दर्शनका सौभाग्य प्राप्त है। भगवान्की इस महान् कृपाके लिये उनके सदा कृतज्ञ रहो और उनके चरणोंमें अपनेको न्योछावर करके धन्य हो जाओ। तुमने लिखा कि 'लीलामें सांसारिक दृष्टि या किंचित् विकार बिल्कुल नहीं आता' सो यह बहुत ही अच्छी बात है। इस पथके असावधान साधक यहीं गिर जाया करते हैं। मनमें तनिक भी अभिमान नहीं आना चाहिये। यही समझना चाहिये कि यह सब प्रभुकी अहैतुकी कृपाका ही सुफल है, मेरे किसी साधन या पुरुषार्थका तनिक भी नहीं; और वास्तवमें यही बात है भी।

प्रेमीके मनके तीन स्तर

तुम्हारे लीला दर्शनका क्रम चलता होगा। प्रेम-राज्यमें जब कोई प्रेमी आगे बढ़ जाता है, तब उसके मनमें प्रेमास्पदका मन आकर उसके मनको मिटाकर अपना एकाधिकार कर लेता है। उस अवस्थामें उसके मनमें प्रतिकूलता नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती।

प्रेमके तीन स्तर हैं--

(१) भगवान्का प्रत्येक विधान मंगलमय है। वे जो कुछ विधान करते हैं, उसीमें हमारा निश्चय ही परम मंगल निहित है--यह समझकर, विश्वास करके प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिके प्राप्त होनेपर उसमें मंगल देखना। इसमें अपने मंगलकी इच्छा वर्तमान है, पर भगवान्के विधानमें मंगलका विश्वास है।

(२) मंगल-अमंगलकी कोई कल्पना ही नहीं है, किंतु मनमें अनुकूलता-प्रतिकूलता है और प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिके प्राप्त होते ही वह यह तुरंत मान लेता है--'मेरे प्रेमास्पद प्रभुको इसमें सुख है, अतएव मेरे लिये यही परम सुख है।' इस प्रकार प्रतिकूलता परम सुखमें परिणत हो जाती है। परंतु प्रतिकूलता यहाँ सर्वथा मिटी नहीं है।

(३) प्रतिकूलताकी सत्ता ही नहीं है। जो कुछ भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थिति प्राप्त होते हैं, वे ही सर्वथा अनुकूल हैं। प्रियतमका मन उसका मन बना हुआ। अपनी निर्मित प्रत्येक परिस्थितिमें प्रियतमका सुख ही देखता है।

प्रेम, भाव, समर्पण श्रीश्यामसुन्दरमें ही होना चाहिये

शरीरकी कोई चिन्ता तो नहीं करनी चाहिये। यह कच्ची मिट्टीका पुतला तो एक दिन ढहनेवाला है। पीछे दुःख या धोखा न हो, इसलिये शुद्ध सच्चिदानन्दघन-विग्रह भगवान् श्रीश्यामसुन्दरमें ही प्रेम, भाव, समर्पण होना चाहिये, किसी मानव में नहीं।

प्रेमका सम्बन्ध केवल भगवान्को लेकर उन्हींके लिये हो

सारा प्रेम सब ओरसे सिमटकर होना चाहिये एकमात्र श्रीश्यामसुन्दरमें ही। ममताके एकमात्र पदार्थ वे ही रह जायँ और वह ममता भी अनन्य-विशुद्ध-प्रेमजनित हो। श्रीनन्दनन्दनके अतिरिक्त अन्यत्र होनेवाले प्रेममें कहीं कदाचित् कोई स्वसुखकी कामना रह सकती है और वह सारे प्रेमको विरस या नीरस कर देती है। इसीसे कहा गया है--सारी ममता केवल भगवान्में हो और वह हो केवल प्रेममयी। अन्य किसी भी प्राणी, पदार्थ या परिस्थितिसे जो प्रेमका सम्बन्ध हो, वह केवल उन्हींको लेकर, उन्हींके लिये हो। अपने शरीरसे

भी, शरीरके कार्योंसे भी प्रेम उन्हींके लिये हो। प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक कार्य केवल प्रियतम श्रीकृष्णके लिये ही हो। अन्य सबके लिये कुछ रहे ही नहीं—यही जीते-जी मर जाना है। इसमें जीना भी बनता है, खाना-पीना भी बनता है, कपड़े-लत्ते पहनना भी बनता है, दवा-इलाज भी होता है और मरना भी होता है, पर होता है—प्राणप्रियतमके लिये, अपने शरीरके या अपने लिये नहीं। कहीं शरीरमें आसक्ति भी हो सकती है, पर वह शरीरके लिये—अपने लिये नहीं, प्रियतमके लिये ही होती है।

अपने और दूसरेके लियेका प्रश्न ही नहीं, सब उनके लिये। अपना काम तो अब समाप्त हो ही जाना चाहिये। भगवान्‌ने गोपियोंके लिये कहा था—वे अपना काम तो सब मेरे लिये कभीका छोड़ चुकी हैं—'मदर्थेत्यक्तदैहिकाः'।

सब कुछ उन्हींका मंगलविधान है

मनमें बहुत प्रसन्न रहना चाहिये। भगवान्‌के शील-स्वभावकी ओर देखकर हमलोगोंको बार-बार मुग्ध होना चाहिये। उनकी कितनी कृपा है, कितना स्नेह है, कहीं उसकी तुलना ही नहीं है। सदा-सर्वदा उनका मधुर स्मरण करते रहना चाहिये। संसारकी अनुकूलता-प्रतिकूलताका कुछ भी असर न होने पाये। सब कुछ उन्हींका मंगलविधान है।

सबसे बड़ा लाभ, पुण्य और सौभाग्य

हर हालतमें—तथा बीमारीमें विशेषरूपसे—उनकी पवित्र, मधुर-मनोहर लीलाके दर्शन करते रहो। मनको उनकी लीलाके दर्शनमें लगाये रखो—यही सबसे बड़ा लाभ, पुण्य और सौभाग्य है।

जैसे भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपका ध्यान होता है और उसमें ध्येयाकार वृत्ति होनेपर एक-एक अंग स्पष्ट दीखता है, वैसे ही रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शका भी ध्यान होता है। उसमें स्पष्ट रसास्वादन, भगवान्‌की मधुर अंग-गन्ध, उनकी मुरली-नूपुर-ध्वनि, उनके पवित्र चरणादि अंगोंके स्पर्शकी अनुभूति होती है। और जहाँ अपनी कृपासे वे इससे भी आगेकी स्थिति बना देते हैं, वहाँ तो साक्षात् ही यह सब होता है। इसकी उत्कट इच्छा करनी चाहिये तथा उनसे इसके लिये प्रार्थना करनी चाहिये।

असली स्वस्थता भगवान्‌में स्थित रहनेमें ही है

असली स्वस्थता 'स्व' में—अपने परम प्रियतम भगवान्‌में स्थित रहनेमें ही है। तुम निश्चिन्त होकर सदा-सर्वदा अपने भगवान्‌में ही संस्थित रहना—एकदम स्वस्थ रहना। तुम दूसरी बात सोचते ही क्यों हो? जिनकी जड़-शरीरमें ही

प्रीति है वे सोया करें। तुम तो प्रियतमकी वस्तु हो, सदा—सर्वदा हँसते हुए प्रियतमके हाथका खिलौना बने रहो! इन पंक्तियोंको सदा स्मरण रखो

दूर हुआ दो के अभाव में भय, चिन्ता, विषाद, मद मान।

* * *

जाना—आना, मरना—जीना रखता कुछ भी अर्थ नहीं।

एक तुम्हारे मनकी हो—बस, स्वार्थ यही, परमार्थ यही।।

असलमें स्वस्थ वही है, जो श्रीश्यामसुन्दरको ही अपना सब बनाकर उनके श्रीचरणोंमें स्थित रहता है। शेष जगत्में स्थित रहनेवाले तो सभी अस्वस्थ हैं। तुम प्रत्येक अवस्थामें श्रीश्यामसुन्दरकी मुसकान देख—देखकर हँसते रहा करो। तुम्हारा रोम—रोम सदा हँसता रहे— खिलता रहे—सूर्य किरणोंके प्रकाशमें विकसित होनेवाले कोमल कमलोंकी भाँति।

शरीरकी दृष्टिसे औषध तथा पथ्य घरवालों तथा चिकित्सकोंकी इच्छापर छोड़ दो। वे जो कहें, जो बतायें, वही संतुष्टचित्तसे करते रहो। मनमें यह विश्वास करो— मैं नीरोग हूँ। रोगकी जो कल्पना थी, वह भी बड़ी तेजीसे नष्ट हुई जा रही है। मेरा शरीर स्वस्थ है, मेरा मन स्वस्थ है, मेरी बुद्धि स्वस्थ है, मेरा रोम- रोम स्वस्थ है। भगवान्की कृपासे रोग मेरे पास आ ही नहीं सकता। भगवान् मेरे स्वास्थ्य हैं—मैं कभी बीमार नहीं हो सकता। भगवान् मेरी अमोघ शक्ति हैं। भगवान् मेरे सब कुछ हैं। मैं सदा निर्भय हूँ; क्योंकि भगवान्, भगवत्प्रेम तथा भागवत सत्य मेरे पास है।'

विशुद्ध अनुरागका स्वरूप

जहाँ पवित्र प्रेम होता है, वहाँ गुणकी अपेक्षा नहीं होती, न कोई कामना होती है। प्रेम तो हृदयकी पवित्रतम वस्तु है। इसलिये वहाँ प्रेमास्पद, बस, प्रेमास्पद ही रहता है। उनमें किसी गुण महत्त्वका अंश है या नहीं, यह प्रेमी नहीं देखता।

वह प्रेमास्पद कहीं बहुत सड़ा है तो हुआ करे; वह है अपना। और वह यदि सर्वथा नीच—अधम है तो परवा नहीं। उसकी नीचता—अधमतासे मतलब नहीं; वह अपना है, बस, अपना है। यही परम आदर्श 'गोपीभाव' है। विशुद्ध अनुरागका यही स्वरूप है।

आनन्दका रोना वाञ्छनीय है

रोना हृदयके परम आनन्दका भी हुआ करता है, दुःखका भी। दुःखका नहीं होना चाहिये; आनन्दका होना वाञ्छनीय है। राधाजीने तो कहा था—'मैं, बस, सदा रोती ही रहूँ—।

इच्छा एक यही मन मेरे—कभी सुअवसर मैं पाऊँ।
ऊँचे स्वरसे रोकर, तज लज्जा, 'हा प्रिय! हा प्रिय!' गाऊँ॥
रोऊँ, रोती रहूँ सदा, वह रुके नहीं मेरा क्रन्दन।
हो अनन्त सुखमय वह मेरा क्रन्दन ही, हे जीवनधन!॥

भगवान्‌का हो जानेपर जागतिक दुःख तो वस्तुतः रहता ही नहीं, फिर दुःखका रोना भी कैसे हो।

मनमें भगवत्प्रेमका सुधा-स्रोत बहता रहना चाहिये

अपने प्रेमास्पदसे मिलना न हो तो दुःख नहीं करना चाहिये—इसमें मनका स्मरण और भी तीव्र तथा अत्यन्त मधुर होगा। श्रीगोपिकाओंका जीवन देखो—वे श्रीश्यामसुन्दरसे सदा अलग रहीं, पर उनके मनको अपना मन बना लेनेके कारण उन्होंने निरन्तर श्रीश्यामसुन्दरको अपने पास ही पाया। मनमें पवित्रतम, दिव्य भगवद्भाव तथा भगवत्प्रेमका सुधा-स्रोत बहता रहना चाहिये, वह कभी सूखने न पाये; फिर शरीर कहीं रहे, किसी अवस्थामें रहे, न रहे। शरीर तो क्षणभंगुर है ही, यह तो नष्ट होनेवाला है ही, पर इसके नष्ट होनेपर भी पवित्रतम भगवद्भावका नाश नहीं होता। वह तो सदा-सर्वदा अक्षुण्ण बना रहता है और प्रतिक्षण भगवान्‌के स्वरूप-सौन्दर्यकी भाँति बढ़ता ही रहता है। अतएव उस भगवद्भाव तथा भगवत्प्रेमकी सदा सुरक्षा तथा वृद्धि करते रहना चाहिये। श्रीश्यामसुन्दरको नित्य-निरन्तर अपने अनुकूल मानकर प्रत्येक अवस्थामें परम प्रसन्न रहना चाहिये।

मनका लगाव ही सच्चा है

प्रेमराज्यमें तप-त्यागकी बड़ी महिमा है। तप-त्याग प्रेमका परम विभूषण है। अतएव शरीरकी दृष्टिसे तप-त्याग करना पड़े तो उसे सानन्द स्वीकार करना चाहिये। जिस वस्तुका मनसे कभी अलगाव हो ही नहीं सकता, वह तो सदा रहेगी ही। वही सच्ची चिपक है, जो कभी छूटती नहीं। रही बाहरसे मिलनकी बात, सो किसी गोपीको उसकी जरा भी परवा नहीं। श्रीश्यामसुन्दरको स्वयं गरज हो तो मिलें, नहीं तो नहीं। वे न इसके लिये नाराज होती हैं न उलाहना देती हैं, न अपनेको दुःखी मानती हैं न विषाद करती हैं। सदा गाजती रहती हैं।

विशुद्ध प्रेममें निर्भय-निस्संकोच व्यवहार होना चाहिये

तुमने लिखा, वह है तो सत्य—लोग मुझसे बड़ा सकोच करते हैं, मेरे साथ बात करनेमें बड़े सम्मानसे बोलते हैं। कोई महात्मा समझते हैं कोई विद्वान्, कोई महान् भक्त तो कोई बड़ा आदमी मानते हैं। इनमें मैं हूँ कोई-सा भी नहीं।

झूठा ही रोब बन गया है। भैया ! मैं तो साधारण संसारी मनुष्य हूँ। यदि मैं ऐसा होऊँ तो भी मुझसे क्यों संकोच होना चाहिये, क्यों डरना चाहिये ? मैं सबका अपना हूँ। प्रेममें संकोच-भय नहीं रहते। साक्षात् परात्पर ब्रह्म श्रीश्यामसुन्दर भी व्रजमें अपना बड़प्पन भूलकर व्रजरसका आस्वादन करनेके लिये कभी यशोदाकी छड़ी देखकर रोते-दौड़ते हैं, कभी सखाओंकी फटकार सुनते हैं और उनसे हारकर घोड़ा बन जाते हैं तो कभी व्रजयुवतियोंकी महाभाग्यताका विज्ञापन करते हुए उनकी चरण-रज-सेवा करनेमें परम सुखका अनुभव करते हैं।

भैया ! वे भगवान् केवल प्रेमके वश रहते हैं। वे अन्य किसी भी गुणको नहीं देखते, न वस्तुके परिमाणको देखते हैं। वे देखते हैं—विशुद्ध प्रेम। उसे वे जहाँ पाते हैं, वहीं सारी भगवत्ताको किनारे रखकर दौड़े जाते हैं—

गोपोंके आँगन-कीचड़में तुम प्रमुदित लोटा करते।
विप्रोंके शुचि यज्ञस्थलमें जाते सदा लाज मरते॥
गो-गोपी-वत्सोंकी बोली सुनते ही उत्तर देते।
सत्पुरुषोंकी शत-शत स्तुतियोंपर भी सहज मौन लेते॥
करते व्रज-दाराओंका दासत्व नहीं तुम हो थकते।
इन्द्रिय-जयी योगियोंका स्वामित्व नहीं तुम कर सकते॥
किसी मूल्यमें भी तो वे तव मिलते चरण-सरोज नहीं।
एक प्रेमसे ही उनकी, बस, होती रसमय प्राप्ति सही॥

प्रेममें निर्भय-निस्संकोच व्यवहार होना ही चाहिये। नहीं तो रसका विकास ही नहीं होता। भय, सम्मान, सम्भ्रम, संकोच, आदर आदि स्वाभाविक ही प्रेमके उच्च-स्तरमें उत्तरोत्तर मिटते चले जाते हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इनमें उत्तरोत्तर समीपता है और जितनी समीपता है, उतना ही भय, मान, सम्भ्रम, संकोच आदिका अभाव है।

दुःखमें भी प्रियतमका सुख-स्पर्श ही प्राप्त करना चाहिये

तुम बड़े सौभाग्यशाली हो और तुम निश्चय समझो, तुमपर श्रीश्यामसुन्दरकी कृपा-सुधा-धारा नित्य-निरन्तर बरस रही है। तुम्हारी घबराहट भी उन्हींकी लीलाका एक अंग है। पर तुम इसे स्वीकार क्यों करते हो ? तुम तो भीषण-से-भीषण कष्टमें भी कहा करो—'प्यारे ! तुम इस रूपमें आये ? आओ, लग जाओ हृदयसे। तुम किसी भी रूपमें आओ और मुझे गले लगाते रहो। यह तो सम्भव नहीं कि तुम्हारे सिवा अन्य कोई भी मुझे आलिंगन करे। रोग बनकर आओ और अन्य कैसा भी वीभत्स, भयानक रूप धरकर आओ, मैं तुम्हें पहचान लूँगा और प्यारे !

सदा तुम्हारा सहर्ष स्वागत करूँगा।'

तुम्हें दुःखमें भी प्रियतमका सुख-स्पर्श ही प्राप्त करना चाहिये। क्या इस रूपमें कोई दूसरा आता है? क्या श्रीश्यामसुन्दरके प्रेमीके पास कभी कोई रोग-दुःख आ सकता है? श्रीश्यामसुन्दर स्वयं चाहे जिस रूपमें, चाहे जिस वेषमें आ जायँ, आते हैं वे ही। फिर हम क्यों कहें कि तुम हमारे चाहे हुए रूपमें ही आया करो। तुम सदा प्रसन्न रहा करो। किसी भी अवस्थाको तुम्हें हँसाते देखकर लज्जा आ जाय।

वियोग बड़ा सुखदायी होता है

वियोग बड़ा सुखदायी होता है। मिलनमें मिलन-भंगका भय है; वियोगका स्मृतिजनित यथार्थ मिलन सर्वथा भय-शून्य है। उसके भंग होनेकी सम्भावना ही नहीं। प्रभुको नित्य अपने बाहुपाशमें बाँधे रखना—बिना किसी भय, संकोच, मर्यादा, मान, संदेहके—यह वियोग-मिलनमें ही होना सम्भव है। संयोग-मिलनमें तो बहुत-सी बाधाएँ रहती हैं।

विशुद्ध प्रेम सर्वाकर्षक श्रीकृष्णके मनका भी आकर्षण कर लेता है

भगवान् सदा-सर्वत्र केवल निर्गुणरूपसे व्यापक ही नहीं हैं, सगुण-साकाररूपमें भी अपने प्रेमी—लोक-परलोकके भोगोंकी वासनासे शून्य और मुक्तिको भी न चाहनेवालेके समीप नित्य रहते हैं; उसे सुख देनेके लिये नहीं, उसके सुखसे स्वयं सुख प्राप्त करनेके लिये। पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काममें भी पवित्र दिव्य प्रेम-सुधा-रस-पानकी दिव्य कामनाका उदय हो जाता है। अतएव भगवान्से सदा-सर्वदा एकांगी प्रेम ही करना चाहिये। वे प्रेमास्पद जानें ही नहीं कि अमुक मुझसे प्रेम करता है। ऐसे प्रेमीके प्रेमका एक विलक्षण चमत्कार यह होता है कि सर्वाकर्षक श्रीकृष्णके मनका भी आकर्षण कर लेता है और प्रियतम श्रीकृष्ण निरन्तर उसके पास रहनेमें ही सुखानुभव करते हैं।

श्रीश्यामसुन्दर तथा श्रीराधाका सेवा-सुख जीवन बन जाय

असलमें जबतक मनुष्यके मनमें जरा भी भोग-काम है, तबतक वह प्रेमके मार्गपर आ नहीं सकता। काम प्रेमका शत्रु है, काम गंदी चीज है। उस गंदगीमें पवित्र प्रेम नहीं आता और जहाँ प्रेम होता है, वहाँ प्रेमास्पदका मन ही उसका मन बन जाता है। इसीसे प्रेमास्पदकी यथार्थ महिमा, उसकी सेवाका स्वरूप, उसकी श्रद्धाका स्वरूप और उसके मनकी गुप्त बात, उसका तत्त्व वह जानता है। इस प्रकारके प्रेमीका नाम ही 'गोपी' है। भगवान् श्यामसुन्दर अर्जुनसे कहते हैं—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

इसीसे गोपीका जीवन, उसका शरीर-रक्षण, उसका प्रत्येक विचार तथा कार्य श्रीश्यामसुन्दरको सहज सुख पहुँचाने के लिये ही हुआ करता है। अपना जीवन ऐसा रहे, श्रीश्यामसुन्दर तथा श्रीराधाका सेवा-सुख ही जीवनका स्वरूप बन जाय— -ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

सभी अवस्थाओंमें श्रीश्यामसुन्दरकी प्रेमरस-सुधाधारामें डूबे रहो

सदा-सर्वत्र श्रीश्यामसुन्दरकी प्रेमरस-सुधाधारा प्रवाहित हो रही है-सभी अवस्थाओंमें, सभी समय। बस, निरन्तर उसीमें डूबे रहना चाहिये——

जन्म-मरण, न दुःख-सुख, कुछ है नहीं जिसमें कभी।
बह रही रस-सुधा-धारा नित्य प्लावित कर सभी।।
छा रहा आनन्द अनुपम परम अतुल सदा वहाँ।
नाचते रहते अनोखे नीलमणि नित है वहाँ।।

तुम सचमुच उसीमें डूबे हो। तुम्हारे चारों ओर भीतर-बाहर केवल नीलमणि ही नाच रहा है। नित्य नवीन विलक्षण भंगिमाओंमें—और उसके प्रत्येक पादक्षेपमें रस-सुधा धारा बह रही है—नित्य। तुम संसारकी विषय-तमोमयी ज्वालाओंसे सर्वथा शून्य, परम शीतल, शान्त, कोमलतम, मधुरतम श्रीचरणोंका स्पर्श पाकर धन्य हो गये हो। अपनी इस महान मुनि-मन-वाञ्छनीय स्थितिकी ओर देखो। तुम्हारा यह विषाद केवल तुम्हारी इस दुर्लभ स्थितिको उज्ज्वल बनानेके लिये है। तथापि तुम विषादकी यह चादर उतार दो और बहा दो—अपने अंदर-बाहर प्रेमानन्दकी सरिता। वह तो बह ही रही है। बस, दुनियाको भूलकर उसीमें बह जाओ। श्रीश्यामसुन्दर तुमपर स्वयं न्योछावर हैं। उनके नित्य सांनिध्यको तुम सहज ही प्राप्त हो। तुम्हारा अतुल सौभाग्य है। विषय-विषकी ज्वाला, मरणका भय, वियोगका भावी विषाद वहाँ है ही नहीं; वहाँ तो नित्य-निरन्तर शान्तिका, अमृतका, संयोगका अगाधसागर लहरा रहा है। वहाँ शरीर तथा संसारकी कोई भी सत्ता-महत्ता नहीं है। केवल प्राणप्रियतम हैं और है उनकी नित्य मधुर लीला— -सभी अवस्थाओं और रसोंमें —करुण, मधुर, भयानक, बीभत्स—सभीमें उनका मधुरतम लीलारस-प्रवाह।

अमिलन परम सुखदायी भी होता है

प्रेमकी यह वास्तविक स्वरूपस्थिति है, जो भगवान्‌के नित्य पास रहनेपर भी उनका वियोग अनुभूत होता रहता है। एक बार श्रीराधाजी अपनी स्थितिका वर्णन करती हुई कहने लगीं——

वे प्रियतम मेरे श्याम प्राणधन प्यारे।
रहते नित मेरे साथ, न होते न्यारे।।

खाने—पीने—सोने—जगनेके सारे।
करते वे कर्म, साथ मेरे ध्रुव तारे।।
वे घुले—मिले रहते हैं मुझसे प्रतिपल।
जो देख न पाते क्षणभर, होते व्याकुल।।
मेरा सुख ही है उनका सुख अति निर्मल।
वे रहते नित्य निमग्न उसीमें अविचल।।
यों नित्य पास रहते भी, मैं खो जाती।
खोकर फिर उनको मैं दुखिया हो जाती।।
रोती, विलाप करती, पर उन्हें न पाती।
मैं नित्यप्राप्त उन प्रियतम हित बिलखाती।।
लगता, वे रहते दूर, पास नहिं आते।
मुझ प्रेमहीनको क्यों वे पास बुलाते ?
मैं रोती रहती सदा, न वे लख पाते।
वे नहीं इसीसे खुद संयोग लगाते।।
वे हँसते, मुझको देख भूलमें भारी।
लख नित्य—मिलनमें अमिलन—गति हियहारी।।
कहते—देखो: मैं पास तुम्हारे प्यारी।
इस प्रेमदशा विचित्र पर मैं बलिहारी।।
सुधि होती, खुलते नेत्र, चेत हो जाता।
रस—स्रोत मधुरमें दुःख सभी बह जाता।।
बढ़ता रसका अति वेग, परमसुख छाता।
प्रियको नित पाकर साथ, न हर्ष समाता।।

इस प्रकार भगवान्‌के नित्य—सत्य—मिलनमें अमिलनका बोध घोर दुःखदायी होनेपर भी उनकी स्मृतिका कारण होनेसे परमसुखदायी ही होता है, क्योंकि यह विछोहका महान् दुःख सब कुछ भुलाकर प्रियतम श्यामसुन्दरके स्मृति—समुद्रमें ही डुबाये रहता है।

जिसका जीवन भगवान्‌में लगा है, उनके यहाँ उसीका महत्त्व है

पैसेवालोंकी दृष्टिमें आजकल जिनके पास पैसा नहीं है, उनका मूल्य बहुत ही कम है; पर यह तो संसारका स्वरूप है। भोगमय संसारमें भोग—महत्ता स्वाभाविक ही अधिक होती है। इसलिये जिनके पास भोग हैं, उन्हींका विशेष महत्त्व भोगियोंकी दृष्टिमें होता है। परंतु भगवान्‌के यहाँ उनका न कोई महत्त्व है,

न उनकी कोई पूछ; वहाँ तो उसीका महत्त्व है, जिसका जीवन भगवान्‌में लगा हो—चाहे वह जगत्‌में अत्यन्त तुच्छ, नगण्य समझा जाता हो और जगत्‌के लोग उसका कितना ही अपमान-तिरस्कार करते हों। उसे भी—जो भगवान्‌में लगा है—न अपनी तुच्छता या नगण्यताको लेकर दुःख या क्षोभ है और न वह मान तथा सत्कारकी ही इच्छा करता है। वह इन बातोंको लेकर क्षुब्ध क्यों हो? उसे तो अपने भगवान्‌में ही लगे रहना है। वह सदा-सर्वदा भगवान्‌के हृदयमें बसता है तथा भगवान्‌को अपने हृदयमें बसाये रखता है। वह क्यों किसी अन्य वस्तु या परिस्थितिकी इच्छा करेगा, क्यों मिलनेपर सुखी होगा तथा क्यों न मिलनेपर दुःखी या क्षुब्ध होगा। वह तो सदा आनन्दमग्न रहेगा। अतएव भगवान्‌के प्रेमीको संसारकी प्रत्येक परिस्थितिमें सुख या दुःखके विकारसे रहित होकर केवल भगवान्‌का ही बने रहना तथा इसीमें परमानन्दका अनुभव करना चाहिये।

नित्य जो भगवान्‌की अति मधुरतम स्मृतिमें सना।
रहता सदा आनन्दरत, आनन्दमय वह खुद बना॥
जगत्‌की ज्वाला नहीं सकती जला उसको कभी।
शान्त, शीतल हो चुके संताप बुझ करके सभी॥
जगत्‌के जो लोग आते कभी उसके पास हैं।
वे सभी होते सुखी सत्वर बिना आयास हैं॥
क्योंकि संतत झर रहा झरना सुधाका है जहाँ।
दुःख संकट मृत्युका विष रह नहीं सकता वहाँ॥
सुधा-सरिता बह रही नित भागवत-सुखकी बिमल।
उठ रहीं आनन्दकी लहरें मधुरतम नित प्रबल॥

मिलनकी चाह बनी रहना प्रेमका शुभ स्वरूप है

तुम निरन्तर भगवान्‌को अपना समझो, अपने समीप समझो तथा नित्य-निरन्तर उनकी परम सरस मधुरातिमधुर प्रेमसुधाका पान करते हुए प्रमत्त बने रहो। भूल जाओ संसारको, शरीरको तथा भोग-जगत्‌को! जिसके हृदयमें दिन-रात भगवान् रहते हैं, जिसका हृदय क्षणभरके लिये भी भगवान्‌को नहीं छोड़ता, सदा उन्हींमें संलग्न रहता है, उनके सिवा जिसको और कुछ भी सुहाता-भाता ही नहीं, उसके मनमें जगत्-जगत्‌के विषय भोग कहाँ रह गये हैं। इतनेपर भी चाह तो बनी ही रहती है; पवित्र प्रभु-प्रेममें कहीं अन्त तो है नहीं। जिस प्रेममें प्यास बुझ जाती है, वह 'प्रेम' नहीं—वह तो गन्दा 'काम' होता है।

अतएव अपनेमें प्रेमकी कमी दीखना और दिन-रात प्रभु-मिलनकी चाह बनी रहना तो इसका शुभ स्वरूप है।

'मिले ही रहत पर कबहुँ मिले ना'—यही तो प्रेम है।

नित्य-निरन्तर प्रभुका अन्तर्मिलन होता रहे

प्रभु जो ठीक समझते हैं, वही होता है और वही वस्तुतः ठीक है, उसीमें परम संतुष्ट रहना चाहिये। जिसमें अनवरत प्रभु स्मरणजनित परमसुख मिले, वह प्रभुका वियोग भी परम आदरणीय है, एवं जिसमें प्रभुकी उपेक्षा होकर स्मृति न रहे, वह संयोग या मिलन भी अवाञ्छनीय है। प्रभु अपनी चीजको चाहे जैसे बरतें, प्रेमी उनका हाथ कभी नहीं रोकता; परन्तु जहाँ पद-पदमें और पल पलमें उत्कण्ठा बढ़ाकर प्रभु अपनी ओर ही विशेषरूपसे खींच रहे हों, वहाँ तो हाथ रोकनेकी बात भी नहीं है। यह तो प्रभुका परम प्रेमदान ही है। अतएव तुम परम प्रसन्न रहो; कोई भी अवस्था तुम्हारे चित्तसे क्षणभरके लिये भी स्मृतिरूप प्रभुको न हटा सके, नित्य निरन्तर प्रभुका अन्तर्मिलन होता ही रहे।

भगवान्‌ने जिसको अपना लिया, उसमें दोष कहाँ रहेगा ?

भगवान् हमारे दोष नहीं देखते, केवल भाव देखते हैं; और जैसे अपने सहज प्रकाशसे सूर्य घोर अन्धकारका तुरंत नाश कर देते हैं, वैसे ही अपने प्रेम-प्रकाशसे भगवान् तमाम दोषोंका नाश कर डालते हैं। भगवान्‌ने जिसको अपना लिया, उसमें दोष कहाँ रहेगा। जिनके हृदयमें भगवान् आ बसे और भगवान्‌ने अपने हृदयमें जिनको परम लोभनीय धन मानकर अत्यन्त ममतासे बसा लिया, उनमें दोष कहाँ रहे। यदि कोई दोष है तो वह भी भगवत्प्रेमरूप और प्रेमका दिव्य उद्दीपक ही है।

श्यामसुन्दर बिना संकोच-सहमके तुम्हारे साथ रहते हैं

मैं तुम्हें सदा-सर्वदा अत्यन्त प्रसन्न तथा सुखमय देखना चाहता हूँ। यह आत्यन्तिक सुख किसी भी लौकिक आशा, कामना, ममता, स्पृहा, आसक्ति आदिमें अथवा किसी भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिमें है ही नहीं। यह तो एकमात्र भगवान्‌में है और वहाँ नित्य, अनन्त, असीम, अपार है। इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनको अपनेमें (भगवान्‌में) चित्त जोड़कर आशा, ममता, तथा कामनाके संतापसे रहित होकर युद्ध करने तथा प्रत्येक कर्मको भगवान्‌में निक्षेप करनेकी आज्ञा दी थी। ये भगवान् नित्य ही तुम्हारे साथ, तुम्हारे अत्यन्त आलिंगनरूपमें वर्तमान हैं। क्षणभरके लिये उनके वियोगकी कल्पना नहीं। प्रत्येक देश, प्रत्येक काल तथा प्रत्येक अवस्थामें वे तुम्हारे अपने श्यामसुन्दर

तुम्हारे साथ बिना किसी संकोच-रहस्यके रहते हैं। तुम इसका अनुभव करो तथा नित्य अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके दर्शन, स्पर्श, सम्भाषण, मिलनका सुख प्राप्त करो। वे किसी दूसरे देशसे, किसी विशेष कालमें, किसी खास स्थितिमें तुम्हारे पास नहीं आते। वे तो हर देश-काल-स्थितिमें प्रत्यक्ष तुम्हारे साथ रहते हैं; इसमें जरा-सा भी संदेह नहीं है। यह देख लेनेपर उनके सुखके लिये तुम भले ही कहीं जाओ, परंतु उनसे मिलनेके लिये कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि वे तो बिछुड़ते ही नहीं, कभी बिछुड़ना जानते ही नहीं।

भगवान्‌में ममता-प्रीति हुई कब मानी जाय ?

संसार दुःखमय और अनित्य है। यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है। मिथ्या ममता, आसक्ति करके जीवनभर मनुष्य दुःख तथा अशान्तिसे घिरता रहता है। यह बड़ा ही मोह है। श्रीभगवान्‌में ही ममता-आसक्ति हो जाय तो फिर इस दुःख तथा अशान्तिसे पिण्ड छूट जाय। भगवान्‌में ममता-प्रीति तभी हुई मानी जाय, जब दुःख-अशान्ति नामकी कोई वस्तु रह ही न जाय। प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌के सांनिध्यका अनुभव होता रहे और चित्त उनके प्रेमानन्द-रसमें डूबा रहे। नहीं तो बहुत बार हम भूलसे भगवान्‌के नामपर भी भोगासक्तिको बसा लेते हैं और उसका अवश्यम्भावी फल होता है—दुःख तथा अशान्ति। भगवान्‌का प्रेम प्राप्त होनेपर यह सब रहता ही नहीं।

जगत्‌में मर जाय और भगवान्‌में जीवित रहे

मनुष्यका जीवन अत्यन्त क्षणभंगुर और अनित्य है, पता नहीं; कब समाप्त हो जाय। इसलिये यहाँकी ममता-आसक्ति समेटकर तैयार रहना चाहिये। जिसका जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंमें 'मैं-मेरा' मर गया, वह शरीरकी दृष्टिसे जीवित होनेपर भी वस्तुतः मर गया। यों जीते-जी मर जाना सर्वोत्तम है। मनुष्य जगत्‌में मर जाय और भगवान्‌में जीवित रहे; संसारकी किसी भी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका उसपर फिर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह सदा-सर्वदा अपने भगवान्‌में घुला-मिला मस्त रहता है। ऐसा ही बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

विशुद्ध प्रेम

प्रेम-धन तो नित्य बढ़नेवाला होता है। यह उसका सहज स्वरूप है। जहाँ विशुद्ध प्रेम होगा, वहीं वह बढ़ता रहेगा, कमी होनेका या रुकनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं।

अपनेको कभी अभागा मानकर प्रभुकी परम आत्मीयतापर संदेह नहीं करना चाहिये

तुमने अपने मनमें मान-बड़ाईकी इच्छा, आसक्ति-कामना, हृदयकी

क्षुद्राशयताकी बात लिखकर लिखा है—'भोग-वासनाभरे हृदयमें प्रभु-प्रेम कैसे रह सकता है, एक म्यानमें दो तलवारें कैसे रह सकती हैं।' तुम्हारा यह लिखना तो सत्य है; किंतु जिसने अपनेको भगवान्के समर्पण कर दिया है, उसकी सारी आसक्ति-वासना-कामनाको भगवान् स्वयं पवित्र करके प्रभु-चरणासक्ति, प्रभु-सुख वासना तथा प्रभु-प्रेम-कामनामें परिणत कर लेते हैं। इसे कदापि असम्भव तो समझना ही नहीं चाहिये, कठिन भी नहीं। वरं यह विश्वास तथा निश्चय करना चाहिये कि 'मेरा जीवन, मेरा हृदय तो श्रीभगवान्का निवास-मन्दिर बन चुका है। उसमें अन्य कुछ रह ही नहीं सकता।' यदि कहीं कोई कूड़ेका कण होगा तो वह प्रभुके दृष्टिपातसे ही जल जायगा। अतः अपनेको कभी अभागा मानकर प्रभुकी परम आत्मीयतापर संदेह नहीं करना चाहिये। यह प्रत्यक्ष ही है कि भगवान्के सिवा दूसरे किसी भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिको न तुम इच्छा करते हो, न तुम्हें अन्य कुछ सुहाता है। एक दिव्य अनन्यनिष्ठाका सागर तुम्हारे हृदयमें लहर रहा है। फिर उसमें किसी भी वासना-कामना, शरीरके मोह-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति आदिके लिये स्थान ही कहाँ है। वे सब तो कभीके डूब गये। अब यदि ये नामके लिये रह भी जायँ तो नाम चाहे ये ही हों, पर वास्तवमें प्रभुके साथ घुल-मिल जानेसे इन सबका स्वरूप बदल गया है। ये सब इन नामोंसे यदि बने हैं तो ये प्रभुकी लीलामें सहायक, सेवक लीलाके अंग या उपकरणके रूपमें ही रहते हैं, बाधकके रूपमें नहीं, भगवान्के स्थानको छेंककर नहीं। अतएव तुम चाहे जहाँ रहो, तुम्हारे साथ भगवान् हैं। तुम्हारे अंदर कुछ भी दिखाई देते हों, ये सभी भगवान् की पवित्र लीलाके अंग हैं, दोष नहीं——यह विश्वास तथा अनुभव करो।

ऐसा भाग्य, ऐसा मन मिल जाय तो फिर और क्या चाहिये

जो भगवान्के सिवा दूसरी या दूसरेकी वाणी सुनना नहीं चाहता, जिसकी आँखें दूसरेको देखना नहीं चाहतीं, वाणी दूसरे शब्दका उच्चारण नहीं करना चाहती, जिसका मन निरन्तर श्रीभगवान्की रूप-सुधा-माधुरीका ही पान करना चाहता है, जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं जिसे अपने प्रेमाराम प्रभु ही दिखाई देते हैं, जिसके कानोंमें निरन्तर उनके पैरोंकी आहट और नूपुरध्वनि एवं मुरलीध्वनि ही सुनायी पड़ती है, जिसकी नासा सदा श्यामसुन्दरके अंग-सुगन्धका आनन्द लेती रहती है, जिसके अंग श्रीश्यामसुन्दरके पवित्रतम मधुरतम स्पर्शका अनुभव करते हैं, जो सब कुछसे-दूसरोंसे दूर हो गया है, उसके मनकी स्थिति खराब है या अत्यन्त श्रेष्ठ है, वह दुष्ट मन है या सर्वश्रेष्ठ मन—इसका निर्णय तो प्रभु ही करते हैं और उनके निर्णयका यही प्रबल प्रमाण है कि वे ऐसे भक्तके भक्त बने

रहते हैं। उसका किया प्रत्येक पदार्थ महान् रसमय होता है और उसका आस्वादन करनेको भगवान् नित्य लालायित रहते हैं, उसकी चरण–धूलिसे वे अपनेको पवित्र हुआ मानते हैं। ब्रह्मा, शिव तथा नित्यवक्ष–विहारिणी लक्ष्मीसे भी उसको वे अधिक प्रिय मानते हैं।

भगवान्‌के शब्द हैं- *'अहं भक्त पराधीनः'* (श्रीमद्भाग० ९। ४। ६३) मैं भक्तोंके वशमें हूँ। *'मयि ते तेषु चाप्यहम्।'* (गीता ९। २९) वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।' *'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।'* (भागवत ९। ४। ६८) वे मुझको छोड़कर किसीको नहीं जानते और मैं उनको छोड़कर किसी अन्यको नहीं जानता।' *'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः'।'* (भागवत ११। १४। १६) मैं सदा उनके पीछे–पीछे चलता हूँ, जिससे उनकी चरणधूलिसे अपनेको पवित्र कर सकूँ।' *'अश्नामि प्रयतात्मनः।'* (गीता ९। २६) मैं भक्तोंकी दी हुई वस्तुका बड़े चावसे––प्रयत्नपूर्वक भोग लगाता हूँ।'

ऐसा भाग्य, ऐसा मन मिल जाय तो फिर और क्या चाहिये। रही रोनेकी बात, इस सम्बन्धमें यही कहा जा सकता है कि क्या पता, वह रोना हँसनेसे कहीं अधिक महान्, अधिक सुख देनेवाला हो। श्रीराधा तो कहती हैं––'मैं सदा रोती ही रहूँ और इस रोनेका भी श्यामसुन्दरको पता न लगे, नहीं तो वे दुःखी होंगे।' धन्य!

भगवान्‌के मनकी होती रहे, यही अपनी चाह हो

सदा–सर्वदा प्रभुकी राजीमें राजी रहकर उनकी हाँमें हाँ मिलाना चाहिये। उनके मनकी होती रहे, बस, यही एकमात्र अपनी चाह हो। तुम अपने मनमें बहुत प्रसन्न रहना। जरा भी खेद मत मानना। बहुत–बहुत प्रसन्न रहना––इस पदके भावोंपर ध्यान देना––

उनके होकर हम दुःखी हों तो उनको दुःख पहुँचाते हम।
उनके सुखमें यों बाधक बन, उनपर ही कलंक लगाते हम।।
उनपर यदि है विश्वास हमें, तो क्यों इतना सकुचाते हम।
यों भय–विषादके अति वश होनेमें क्यों नहीं लजाते हम।।
हमको दुःखी देखकर प्यारे तनिक दुःख यदि हैं पाते।
अति अपराधी, क्यों न हमारे सभी मनोरथ मर जाते।।
क्यों न सदा हम सुखी परम हो, उन्हें खूब सुख पहुँचाते।
क्यों न सदा प्रसन्न–मुख हँस-हँसकर हम उन्हें हँसा पाते।।
प्यारे, हँसो, रहो ही हँसते, तुमको खूब हँसायें हम।

प्यारे, सदा प्रसन्न रहो, तुमको अति सुखी बनायें हम।।
तन-मन-बुद्धि तुम्हारे सारे, इनको नहीं रुलायें हम।
वस्तु तुम्हारीको सुख देते संतत शुचि सुख पायें हम।।

हमारा नित्य-सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है

तुम सदा ही आनन्दमग्न रहा करो। मनमें कभी क्षोभ-दुःख आना ही नहीं चाहिये। शरीरके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है। तुम्हारा नित्य सम्बन्ध तुम्हारे भगवान्‌के साथ है और वे नित्य-निरन्तर तुम्हारे साथ रहते हैं, साथ रहेंगे। तुम सदा निश्चिन्त रहकर निरन्तर उनके प्रसन्न मुख-कमलको देखते रहा करो।

सुखमयता भगवान्‌के प्रेम-रस-सुधा-सिन्धुमें ही है

तुम निरन्तर भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके प्रेम-सागरमें ही निमग्न रहो, यह मैं हृदयसे चाहता हूँ और जब-जब तुम्हें इसमें डूबे पाता हूँ, तब चित्तमें बड़ी प्रसन्नता होती है। मन संसारमें आता है, तभी संसारके असह्य तापोंका अनुभव होता है। यह विषय-संसार तो सर्वथा और सर्वदा संतापमय ही है। शान्ति, सुख, शीतलता, मधुरता, अमरता, सुखमयता तो श्रीभगवान्‌के अनन्त असीम प्रेम-रस-सुधा-सिन्धुमें ही है।

प्रेम अन्तरमें पवित्र, दिव्य, कामनारहित होना चाहिये

हमलोग जितनी, जो कुछ अच्छी बातें किसीसे सीख सकें, अवश्य सीखनी चाहिये; पर सबके प्रेमका स्वरूप एक-सा नहीं हो सकता। सीताके प्रेममें श्रीरामके साथ जाना ही आवश्यक तथा शोभनीय था एवं ऊर्मिलाके आदर्श प्रेममें अपनेको साथ ले जानेकी बात निकालना भी अनुचित और अशोभन था। प्रेमका बाह्य रूप कैसा भी हो — अन्तरमें वह पवित्र, दिव्य, कामनारहित होना चाहिये। बाहरसे भी आदर्श तथा अनुकरण करनेयोग्य हो तो और भी उत्तम है।

प्रतिकूलताको लेकर दुःख या क्षोभ नहीं करना चाहिये

दूसरोंसे प्राप्त व्यवहारकी प्रतिकूलताको लेकर जरा भी मनमें दुःख या क्षोभ नहीं करना चाहिये। संसारमें सबके मन तथा सबकी रुचि एक-सी नहीं होती। जैसे हमारी घरवालोंसे भिन्न रुचि है, वैसे ही घरवालोंकी भी हमसे भिन्न है। अतएव यदि उनकी सभी बातें हमसे मेल नहीं खातीं तो हमें दुःख नहीं करना चाहिये।

तुम्हारा 'स्व' तुम्हारे भगवान् हैं

तुम सदा 'स्वस्थ' रहो। थोड़ी देरके लिये भी अस्वस्थ मत होओ। मैं तो यही चाहता हूँ। तुम्हारा 'स्व'--तुम्हारे भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं। बस, निरन्तर उनके चरणोंमें लगे रहो। वे चाहे उठाकर हृदयसे लगा लें, चाहे चरणोंमें रखें, उनसे कभी दूर हटो ही मत। वस्तुतः उनकी यह स्वभाव-विवशता है कि वे

अपने प्रेमीको छोड़ नहीं सकते। यहाँ उनकी भगवत्ता कुण्ठित हो जाती है। उन्हें इसमें एक ऐसा रस आस्वादन करनेको मिलता है कि उनकी रस-लालसा निरन्तर बढ़ती रहती है। उनका स्वभाव, बस, ऐसा ही है--

'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ।'

(मानस ७। १२३। २)

सदा प्रसन्न रहना चाहिये

संसारके शरीरोंका संयोग-वियोग प्रारब्धाधीन है। और भगवान्‌के मंगल विधानानुसार सब मंगल ही होता है। इसलिये सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

तुम अपने भगवान्‌के चरणोंमें ही हो, चरणोंमें ही रहोगे

विश्वास रखो—आत्माके नित्य सम्बन्धमें कभी न किसी प्रकारके भी विच्छेदकी सम्भावना है, न वियोगकी। वह परम पावन मधुरतम सम्बन्ध तो नित्य नवीन रूपमें बढ़ता ही जायगा—शरीर कहीं भी रहे, रहे या न रहे, क्योंकि स्थूल शरीर कहीं भी स्थायी नहीं रहता। भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णके शरीर भगवत्स्वरूप ही हैं, पाञ्चभौतिक नहीं, पर लीलारूपमें उनका भी प्राकट्य तथा अन्तर्धान होता है। अतएव जरा भी चिन्ता-विषाद करना अनुचित है। भगवान् नित्य-निरन्तर तुम्हारे पास हैं, पास रहेंगे--इसमें जरा भी संदेह नहीं। तुम निश्चय समझो—तुम्हारी गति-मति, प्राणोंके प्राण तथा आत्माके आत्मा निश्चय ही भगवान् हैं और वे ही रहेंगे। तुम्हारा स्थान उनके यहाँ निश्चित है। तुमपर भगवान्‌की अनन्त अनुकम्पा और परम प्रीति है, इसका तुम अनुभव करो तथा निरन्तर सुख-सुधा-सागरमें डूबे रहो। शरीरकी चिन्ता ही मत करो। तुम यह स्थूल शरीर नहीं हो—तुम तो वह प्रेमतत्त्व हो, जो प्रेमास्पद, प्रेमस्वरूप भगवान्‌का अपना स्वरूप है। तुम्हें जप-तप-दानकी आवश्यकता नहीं, प्रेम ही सब साधनोंका शिरोमणि तथा सबका अचिन्त्य फल है। तुम अपने भगवान्‌के चरणोंमें ही हो, चरणोंमें ही रहोगे। चिन्ता मत करो; सदा उन चिन्तामणिका ही चिन्तन करते रहो, जो तुम्हारे सर्वस्व हैं तथा जिन्होंने तुमको अपना स्वीकार कर लिया है वे प्रभु ग्रहण करना जानते हैं, त्याग करना जानते ही नहीं। त्याग करना उनके स्वभावमें ही नहीं है। हम भले ही उनका त्याग करना, उन्हें भूल जाना चाहें, पर वे 'अच्युत' तो कभी भी अपने सहज स्वभावसे च्युत होकर हमारा त्याग नहीं करते, कर सकते ही नहीं।

सदा प्रसन्न रहकर भगवान्‌का प्रसन्नता-सम्पादन किया करो

मनमें बहुत प्रसन्न रहना, जरा भी खिन्न मन मत होना। भगवान् तो सदा तुम्हारे पास हैं ही। दिन-रात तुम्हारे समीप रहते हैं। तुम सदा प्रसन्न रहकर

उनका प्रसन्नता-सम्पादन किया करो।

अपनेको केवल अपने भगवान्‌का ही बनाये रखना चाहिये

मनको सदा क्षोभरहित रखनेका प्रयत्न करना है। भगवान् कहते हैं—'मैं उसका हृदय हूँ; वह केवल मुझको जानता है और मैं केवल उसको जानता हूँ'—इस बातपर विश्वास रखना चाहिये! भगवान् तुम्हारे हैं; तुम्हारी चीज सदा तुम्हारी ही है और तुम्हारी ही रहेगी। नित्य-निरन्तर अपनेको केवल और केवल अपने भगवान्‌का ही बनाये रखना चाहिये। दूसरे किसी भी प्राणीका, पदार्थका, परिस्थितिका कभी भी प्रभाव न पड़े। पार्वतीजीने कहा—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

(मानस १। ८०)

कोई भी प्रलोभन या भय कभी भी तुम्हें डिगा न सके।

'उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥'

(मानस ३। ४।६)

बस, एकमात्र यही दृढ़ स्थिति रहनी चाहिये, अपने भगवान्‌में ही एकमात्र निष्ठा रहनी चाहिये। फिर भगवान् तो सदा मिले हुए हैं ही। वे सदा-सर्वत्र वर्तमान हैं, सदा तुम्हारे साथ हैं—इस निश्चयपूर्वक इसका अनुभव करो।

स्थूल शरीरकी सीमामें भगवत्प्रेम नहीं आता

यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवत्प्रेमका क्षेत्र नित्य, सत्य, शाश्वत है। स्थूल शरीरकी सीमामें भगवत्प्रेम नहीं आता। शरीर रहे या न रहे, अथवा कोई-सा भी शरीर प्राप्त हो जाय—उस प्रेमकी सत्तामें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है। शरीर तक ही सीमित प्रेम यथार्थ प्रेम नहीं है; बल्कि शरीरका स्थूलभाव तो प्रेममें तिरोहित ही हो जाता है। इसलिये भगवत्प्रेम शरीरके क्षेत्रमें नहीं समझना चाहिये और वह है भी नहीं। अविनाशी, नित्य, सत्य भगवत्प्रेमका आधार अनित्य, विनाशी, असत् स्थूलशरीर नहीं, नित्य आत्मा है, जो इस शरीरके नष्ट होनेके बाद भी सदा रहता है और रहता है भगवत्प्रेमके अगाध रस-सुधा-सागरमें डूबा हुआ। यही मरणोत्तर व्रजरसमें प्रवेश है, जिसके तुम अधिकारी हो। अतएव अपने स्वरूपकी महत्ताको समझकर सदा सुप्रसन्न रहा करो। भगवान् तुमसे कभी अलग नहीं होते, हो सकते नहीं, होंगे नहीं—यह निश्चित है; तुम्हें इसको

अनुभव करना चाहिये।

भगवान् दिन–रात प्रेमीके प्रेमरसका आस्वादन करते रहते हैं

प्रेमका यह स्वभाव है——मानों प्रभुके अमिलनकी भयानक पीड़ा और नित्य मिलनका महान् परम सुख, दोनों ही होते रहते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु इसी भावमें रहते थे। मनका ही 'विप्रलम्भ' और मनका ही 'मिलन' —ये प्रेम–सरिताके दो पावन तट हैं, जिनके बीच यह मधुरतम (कभी–कभी तीव्र–तीक्ष्णरूपमें तथा कभी माधुर्यको छिपाये हुए) प्रेम–सुधा–सरिता प्रवाहित होती रहती है। वस्तुतः प्रभु कभी पृथक् होते नहीं। वे स्वयं इतने प्रेम–परवश हैं कि प्रेमीका क्षणभरका वियोग भी उन्हें सहन नहीं होता। वे कभी प्रकट, कभी अप्रकट रूपमें प्रेमीकी प्रत्येक चेष्टाको दिन–रात बिना विरामके देखते ही रहते हैं और केवल द्रष्टा–साक्षीके रूपमें, तटस्थ–भावसे नहीं, स्वयं प्रेमरसास्वादन करते रहते हैं। प्रेमीको कभी यह अनुभव कराते हैं, कभी नहीं। अनुभव न करानेमें भी उनका रसास्वादन ही हेतु होता है। वे प्रेमीकी 'वियोग–विकलता' और 'संयोग–सुखमयता' देख–देखकर उसपर न्योछावर होते रहते हैं। कितनी व्याकुल हुई श्रीगोपांगनाएँ रासमण्डलमें भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके अन्तर्धान होनेपर——पर वे भगवान् कहीं गये थोड़े ही थे, छिपे–छिपे प्रेममयी गोपरमणियोंकी एक–एक चेष्टाको देख-देखकर मुग्ध हो रहे थे। उन्होंने स्वयं प्रकट होनेके बाद यह बतलाया भी था। प्रेमी प्रभुमें अपनेको खो देता है, तो भगवान् अपनी सारी भगवत्ता प्रेमीके प्रेमकी प्रबल धारामें बहा देते हैं। तुम भगवान्के——अपने एकमात्र आश्रय, शरण्य, प्रेमास्पद, परम प्रियतम प्रभुके साथ दिन–रात एक हुए रहो। शरीर कहीं रहे, शरीरका मरना–जीना कोई अर्थ ही नहीं रखता। प्रभुके मिलनमें शरीर प्रभुमय ही रहता है और प्रभुका वह मिलन नित्य है ही। एक क्षण भी अमिलनकी कल्पनाको भी कहीं स्थान मत दो।

प्रेमीसे उसके भगवान्को कोई अलग नहीं कर सकता

सदा मनमें रहनेवाले——और अपने पवित्रतम भावके अनुसार प्रत्यक्षरूपमें भी साथ रहनेवाले भगवान्को प्रेमीसे कोई अलग कर नहीं सकता। यहाँके आदमियोंकी तो शक्ति ही क्या है, मृत्यु तथा देवता भी उनको अलग नहीं कर सकते, शरीरका कोई महत्त्व ही नहीं।

श्रीश्यामसुन्दरकी इच्छामें अपनी सारी इच्छाओंको विलीन कर दें

तुमने अपनी मानसिक अधीरताकी स्थिति लिखी, सो ठीक ही है। पर सब वैसे ही होता है, जैसे मंगलमय भगवान्का मंगल-विधान होता है। मनमें विश्वास करके सदा प्रसन्न रहना चाहिये। दूसरोंका मन बदलनेके लिये प्रयत्न करना अच्छा है, पर वास्तवमें किसीका मन बदलनेकी इच्छा ही क्यों करे ?

बदलना ही हो तो अपना ही मन बदलें, जो दूसरोंका मन बदलनेकी अपेक्षा अधिक सुगम तथा सहज है। इससे भी उत्तम यह है—परम सुहृद, परम प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी इच्छामें अपनी सारी इच्छाओंको विलीन कर दें। जो कुछ परेच्छा-अनिच्छासे होता है, सब उनकी इच्छासे होता है और उनकी इच्छाको अत्यन्त हर्षपूर्वक परम अनुकूल बनाकर स्वीकार करना चाहिये।

इस प्रकार देखना चाहिये—भगवान् मेरे और मैं उनका चेरा

श्रीभगवान्‌को सदा-सर्वदा अपने साथ, अपने भीतर, अपने बाहर, सभी समय, सभी कार्योंमें योगदान देते हुए देखना चाहिये। भगवान्‌पर अपना अधिकार मानना चाहिये तथा अपनेको सदा-सर्वदा एवं सर्वथा भगवान्‌के अधीन देखना चाहिये। भगवान् मेरे—एकदम मेरे—सदा मेरे—परम प्रियतम, परमधन, परमगति—सब कुछ मेरे हैं और मैं नित्य-निरन्तर उनके सुखका साधक, उनका चेरा, दास, उनकी अपनी ही चीज, उनका अपना ही यन्त्र हूँ—इस प्रकार देखना चाहिये। ऐसी ही बात है, निस्संदेह ऐसी ही है।

भगवान्‌को एक बार सौंप देनेपर वे सदाके लिये स्वामी हो जाते हैं

भगवान् कभी भी हृदयसे दूर नहीं होंगे—यह पक्का निश्चित विश्वास रखना। खाली हृदयमें ही तो प्रेमधन प्रियतम भगवान् अपना आसन जमाया करते हैं, अतः उन्होंने तुम्हारे हृदयमें अपना दृढ़ आसन जमा लिया है और वे कभी हृदयसे अपना अधिकार अब उठायेंगे नहीं। उन्हें एक बार सौंप देनेपर तो वे सदाके लिये स्वामी हो जाते हैं, इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

जो अपनेको भगवान्‌के अर्पण कर चुका है, वह तो अपने-आप कुछ रहा ही नहीं

तुम अपने मनमें किसी भी बातको लेकर न तो चिन्ता करो, न क्षुब्ध होओ। जो अपनेको भगवान्‌के अर्पण कर चुका है, वह तो अपने-आप कुछ रहा ही नहीं; उसकी सब चिन्ता उसके भगवान्‌को ही है। वह क्यों चिन्ता करे, क्यों किसी चीजकी कल्पना करे? वह तो अपने भगवान्‌के हाथका यन्त्र है। उसे न जीवनसे मतलब है न मरणसे, न लाभसे न हानिसे; न मानसे न अपमानसे; न चाहसे न अचाहसे। सभी चाह, लालसा, चिन्ता, कल्पना अपने प्रभुकी चीज हो गयी। अब तो उसके स्थानपर वह है ही नहीं, उसके प्रभु ही हैं। तुम्हारी पृथक् मान्यता अपनेमें प्रेमके अभावका तथा दोषोंका दर्शन—यह भी उन्हींमें तथा उन्हींसे है। तुम्हारे मनमें होनेवाला दुःख भी, क्षोभ भी, चिन्ता भी, भय भी—सब उन्हींमें तथा उन्हींसे हो रहा है। वे ही लीलामय तुम्हारे इस ढाँचेमें अपनी लीला कर रहे हैं। वस्तुतः तो तुम हो

ही नहो, तुम्हारी सत्ता उनमें अपनेको खो चुकी है।

समर्पणकर्त्ताके मन–प्राणोंपर उन्हींका एकाधिकार होता है

तुम बहुत–बहुत प्रसन्न रहना। मनमें सदा प्रफुल्लित रहना। तुम्हारे प्रति भगवान्‌की अनुकम्पा, प्रीति तथा आत्मीयता परम श्रेष्ठ तथा सर्वथा विलक्षण है— इसबात पर खूब विश्वास रखना। तुम्हारे मन–प्राणोंपर उन्हींका एकाधिकार है, जो शरीरके अधिकारसे बहुत ही ऊँची चीज है। तुम तो अपनेको उनके समर्पण कर चुके हो। शरीर तथा वस्तुएँ तो समर्पण होती नहीं; क्योंकि ये तो अपनी वस्तु नहीं हैं। इसीसे मृत्युके समय ये सब छूट जाती हैं। अपनी वस्तु तो अपना आप है, जो समर्पित रहनेपर अपना रहता ही नहीं। फिर किस बातकी कौन चिन्ता करे और कैसे चिन्ता करे? तुम तो समर्पण करके निश्चिन्त हो चुके हो। तुम्हारा अपना 'तुम' ही जब उनका हो गया है, तब सोचनेवाला उनके सिवा और कौन रह गया? इसलिये तुम सदा निश्चिन्त रहकर अपनेमें प्रभुकी निर्बाध लीला होने दो; बस, मौज–ही–मौज है।

भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरी चीज न सुहाये, न भाये, न रुचे, न रहे

अपनेको सर्वथा भगवान्‌के समर्पित मानो, सब प्रकारसे तथा उन्हींका निरन्तर अखण्ड मधुर स्मरण करते रहो। श्रीनारदजीने इसीको परम साधन—प्रेम-भक्तिका श्रेष्ठतम स्वरूप माना है— *तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।* (भक्तिसूत्र १९)—सब कुछ पूरा–का–पूरा उनके अर्पण कर देना और उनका अखण्ड स्मरण होना;—तनिक भी विस्मरण हो जानेपर परम व्याकुल होना।'

बस, यही परम साधन है। मन, प्राण, जीवन, लोक, परलोक—सब उन्हींको सौंप देना और अपने आपको भी केवल उन्हींका बना देना। यह तुम कर ही रहे हो, कर ही चुके हो। फिर, क्या साधन शेष रह गया? इसमें कमी मानते हो तो इसके लिये दिन–रात छटपटाओ, रोओ, प्रयत्न करो। ये ही साधन हैं—दूसरी चीज न सुहाये, न भाये, न रुचे, न रहे। बस, सदा–सर्वत्र केवल और केवल प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर एवं उनकी महान् पवित्र मन–इन्द्रियोंसे अतीत लीला—जहाँ न यह जगत् है, न इस जगत्‌की स्मृति है, न यहाँका कोई कुछ व्यवहार–बर्ताव ही है। वही श्रीराधामाधवका नित्य विहार होता है।

यही हमारा मोह है

मैंने यह अच्छी तरह देख-परख लिया तथा तुम देखते ही हो—इस जगत्‌में जगत्‌की ओर देखनेपर कहीं भी सुख–आराम नहीं है। चारों ओर दुःखका दावानल धधक रहा है। फिर हम इसमें सुख खोजते हैं, यही हमारा मोह है।

इसीसे दुःखके बाद दुःख आते रहते हैं और हम 'इस बार सुख मिलेगा, इस बार सुख मिलेगा' इसी दुराशामें ही रह जाते हैं।

इससे बढ़कर पवित्रतम अभिलाषा और क्या हो सकती है ?

तुम्हारी यह अभिलाषा मुझे बड़ी ही प्रिय एवं मधुर लगती है—

प्रभु ही मेरे जीवनके एकमात्र जीवनधन, प्राणप्रियतम बने रहें। मेरा मन भूलकर भी कभी स्वप्नमें या प्रमादमें भी दूसरी ओर न जाय। जैसा, जो कुछ है, रात-दिन प्रभुकी सेवामें लगा रहे। इस शरीरसे भी प्रभुकी पूजा ही होती रहे, यह प्रभुकी पूजाकी सामग्री बना रहे। वे चाहे जहाँ, चाहे जिस किसी भी स्थितिमें रखना चाहें, रखें; जो कुछ भी करें, सबपर केवल उन्हींका अधिकार रहे। मन निरन्तर उनके गुण-चिन्तनमें निमग्न रहे। उन्हींका गुणगान करे। मैं सदा प्रभुमें घुला-मिला रहूँ। दूर रहूँ या पास—रहूँ प्रभुमें ही। उनको सुख हो, इसीमें मुझे परम सुख है।'

इससे बढ़कर पवित्रतम अभिलाषा और क्या हो सकती है ? इसको जीवनमें उतारनेवाले प्रत्येक प्रेमीको प्रेमास्पदपर प्रेमाधिकार प्राप्त हो सकता है।

अनुभव करते रहो कि प्रभु तुम्हारे अपने हैं

प्रभुकी अपार कृपा तथा प्रीति है। प्रीतिका कहीं अन्त नहीं है। प्रभु तो सदा दे ही रहे हैं, दे देते हुए कभी थकते ही नहीं। तुम बस, इतना दृढ़ विश्वास रखो और अनुभव भी करते रहो कि प्रभु तुम्हारे अपने हैं, तुम उनके अपने हो। जब वे तुम्हारे हैं, तो वे कृपा क्या करेंगे? अपनेपर कोई कृपा थोड़े ही करता है। अपनेकी तो चिन्ता रहती है, सो प्रभुको तुम्हारी चिन्ता सदा है ही। तुम्हारी अनन्यनिष्ठा प्रत्यक्ष ही है। तुम संसारसे अपना आत्मिक सम्बन्ध विच्छिन्न कर चुके हो, तभी तो उनके हो चुके हो। अतः चिन्ता मत करो। वे सदा तुम्हारे पास—तुम्हारे भीतर बाहर विराजमान हैं। इसीसे उनकी मधुर स्मृति होती है, इसीसे तुम चाहते हो—निरन्तर मन उनकी स्मृतिमें ही डूबा रहे और इसीसे जरा-सी विस्मृतिसे चित्त व्याकुल हो जाता है और तुम अपनेमें ही दोष देखकर प्रार्थना करने लगते हो। यह सब उनकी प्रीतिके ही तो लक्षण हैं। यह तो प्रेमका स्वभाव ही है कि यह कभी पूर्णरूपमें दिखायी ही नहीं देता, सदा कमीका ही अनुभव करता रहता है।

दूसरोंके सुखके लिये गाली-निन्दाको सहन कर लेना चाहिये

तुमने कभी-कभी मनमें क्रोध उत्पन्न होनेकी बात लिखी, अवश्य ही तुममें यह क्रोध उत्पन्न होता तो है सद्भावसे ही, पर किसी भी भावसे क्रोध उत्पन्न नहीं होना चाहिये। क्रोध दूसरेपर दोषारोपण करता है। कोई कुछ भी कहते हैं तो

उससे हमारा क्या बिगड़ता है ? मैं तो यह उत्तम समझता हूँ (यद्यपि ऐसा हूँ नहीं) कि दूसरोंके द्वारा यदि अपनेको गाली दी जाय, अपना अनिष्ट किया जाय और इससे उनको सुख मिलता हो तो अपने प्रसन्न होना चाहिये, क्योंकि गाली तो कानोंसे लगती है और हमारा अनिष्ट बिना अपने प्रारब्धके कोई कर नहीं सकता। फिर दूसरेके सुखको हम क्यों बुरा मानें ? किसीकी बड़ाईमें हमारी निन्दा होती हो और उसे सुख मिलता हो तो बहुत आनन्दकी बात है। उसके सुखके लिये ऐसी निन्दाको सिर चढ़ाना चाहिये।

घरवालोंसे प्राप्त प्रतिकूलताको भगवत्कृपाका कार्य मानना चाहिये

मनुष्यको सहनशील बनना ही चाहिये। प्रेम, स्नेह, सेवा, सत्कारसे ही किसीके हृदयको जीता जा सकता है, उसकी वृत्तिको बदला जा सकता है, विरोधसे नहीं। तुम्हारे घरवालोंमें यही कमी है और इसी कमीके कारण वे लोग तुम्हारे मनकी अनुकूलता नहीं पा रहे हैं। यदि वे लोग स्नेह भावसे तुम्हारी बातका आदर करते तो तुम मनसे उनके अनुकूल होते। जितनी वे तुम्हें स्नेहकी छूट देते, उतने ही तुम उनके स्नेह-बन्धनमें अधिक बँधते, शायद मोह हो जाता, पर यह भगवान्‌की बड़ी कृपा है, जो घर तथा घरवालोंमें मोह होनेके कारणोंको भगवान् हटा रहे हैं। घरवालोंका तुम्हारे प्रति रूखा व्यवहार यदि योग-वैराग्य होने तथा भगवान्‌की ओर खिंचनेमें कारण बन जाय तो वह भगवत्कृपा ही है। अतएव घरवालोंका जरा भी दोष न मानकर उनसे प्राप्त प्रतिकूलताको भगवत्कृपाका कार्य मानना चाहिये। संसारसे तथा भोगोंसे उपरामता होना बहुत उत्तम है। वह यदि घरवालोंके बर्तावसे हो रही है तो उस बर्तावको उनकी कृपा तथा आशीर्वाद ही मानना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि शरीरपर घरवालोंका अधिकार है, यह मानकर शरीरके द्वारा उनके इच्छानुसार करना चाहिये और मनपर केवल तुम्हारा ही अधिकार है, अतएव मनको अपने इच्छानुसार निरन्तर श्रीभगवच्चरणारविन्दमें ही लगाये रखना चाहिये। भगवान् सदा-सर्वदा-सर्वत्र तुम्हारे पास हैं—यह दृढ़ निश्चय तथा अनुभव करना चाहिये। घरवालोंकी तो नहीं, परन्तु भगवान्‌की हाँ-में-हाँ तो मिलानी ही चाहिये। घरवाले तो बेचारे निमित्तमात्र हैं। शरीरके प्रारब्धवश ही सब होता है—*करी गोपाल की सब होय।* इसलिये सदा ही संतुष्ट रहना चाहिये।

जगत्‌की विमुखताके साथ भगवान्‌की सम्मुखता होनी चाहिये

तुम अपने मनमें बहुत प्रसन्न रहा करो और अपनेको सर्वथा भगवदभिमुख

बनाये रखो। जगत्‌की विमुखताके साथ भगवान्‌की सम्मुखता होनी चाहिये और भगवान्‌की सम्मुखताके होनेपर जगत्‌से विमुखता हो ही जायगी। पूर्वकी ओर मुँह करके जानेवालेकी पश्चिमकी ओर पीठ होगी ही। वैसे ही भगवान्‌की ओर मुख करके उनकी ओर चलनेवालेको जगत्‌से विमुखता होगी ही—यह निश्चित है। नाम-जपका अभ्यास रुचिपूर्वक रखना चाहिये। जैसे शरीरके और सब काम हम करते हैं, वैसे ही नाम-जप करना उचित है। इससे अन्तःकरणको निर्मल बनाये रखनेमें बड़ी सहायता मिलती है।

अपनेमें दोष तथा दूसरोंमें गुण देखना चाहिये

मनुष्यके अन्दर सहज ही उत्पन्न होनेवाली एक सद्भावना होती है, जो अपनेमें दोष तथा दूसरोंमें गुण देखा करती है। प्रेमराज्यमें तो श्रीराधा-माधवमें परस्पर यही भाव रहता है। वे परस्पर अपनेको दोषी तथा दूसरेको क्षमाशील देखते हैं। व्यवहार-जगत्‌में भी यह शुभ तथा सुखप्रद भाव है। इससे अपनेमें अभिमान नहीं पैदा होता तथा दूसरोंके प्रति दुर्भाव नहीं होता। दूसरोंका चित्त प्रसन्न होता है। जगत्‌में स्वभावसे ही मनुष्य सम्मान तथा विनययुक्त बर्ताव चाहता है। अतः सबके प्रति यही बर्ताव करना चाहिये।

साधनाको सँभालकर सुरक्षित और गुप्त रखना है

अपनी साधनाकी तथा उसमें प्राप्त सफलताकी बात कभी भी, किसीसे नहीं कहनी है, चाहे वह कितना ही आत्मीय या घरका हो। प्रभुकी बात प्रभुसे, साध्यकी बात साध्यसे, साधनकी बात अपने साधनसे ही कहनी है। बस, सर्वथा और सर्वदा अपनी साधनाको सँभालकर सुरक्षित और गुप्त रखना है। किसी प्रकार भी न तो प्रशंसा पानेके लिये अपनी साधनाको बाहर उछालना है और न निन्दाके डरसे उसे प्रकट करना है। वह तो हृदयका अति गुप्त धन है, उसे सर्वथा छिपाना है। भगवान्‌ने गीतामें अन्तिम दो श्लोक कहकर फिर अर्जुनको सावधान किया कि 'इन्हें अभक्त, सुनना न चाहनेवालों और मुझमें दोष देखनेवालोंको कभी मत कहना।' अतएव इस विषयमें सावधान रहना चाहिये। मैंने गोरखपुर आनेके कुछ वर्ष बाद अपनी अनुभूतिकी बात किसीको बता दी थी। फलतः आठ महीनेतक वह चीज बंद रही, बड़ी कठिनतासे पुनः प्राप्त हुई।

प्रेम लिखने-पढ़नेकी चीज नहीं है

अपनत्व या प्रेम लिखने-पढ़नेकी चीज नहीं होती है; वह तो सहज होती है और होती है अन्तस्तलमें। उसमें काल तथा स्थानकी दूरी नहीं होती। अपना आत्मा अपनेसे कभी अलग हो ही नहीं सकता।

अन्याश्रय ही नहीं, अन्यकी सत्ताका ही त्याग हो जाय

जो भगवान्‌के समर्पित हो जाता है, वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता मानता ही नहीं। उसपर भगवान्‌का पूर्णाधिकार होता है और वह अपनेको सर्वथा तथा सर्वदा एकमात्र भगवान्‌की ही वस्तु मानता है। अर्जुनसे भगवान्‌ने यही कहा था — '*मामेकं शरणं व्रज*—मुझ अकेलेके शरणमें आ जा।' उस एकके सिवा अन्यका आश्रय रहे ही नहीं, और उस एकका ही होकर रहा जाय—यही समर्पण है। अन्याश्रय ही नहीं, अन्यकी सत्ताका ही त्याग हो जाय; एकमात्र उसके ही दर्शन हों—

पता नहीं कुछ रात-दिवसका, पता नहीं कब संध्या-भोर।
जाग्रत-स्वप्न दिखाई देता, श्याम सखा मेरा चितचोर॥

निश्चिन्त-नीरव चित्तसे निरन्तर उनका चिन्तन ही करना चाहिये

तुम्हारा यह लिखना ठीक है कि मन सदा स्वभावसे नीचेकी ओर जाता है। मेरी त्रुटियोंको ही बताना चाहिये। मैं तो कमजोरियोंसे—अवगुणोंसे भरा हूँ।' परंतु मनुष्यको जब अपनी कमजोरी तथा अवगुणोंका पता लग जाता है, तब वे वहाँ नहीं ठहर पाते। फिर एक बात बड़े विश्वासकी और है—जब मनुष्य अपनी सारी दुर्बलताओंको लेकर सर्वसमर्थ परम सुहृद् भगवान्‌के शरण हो जाता है, अपनेको उनका बना देता है, तब उसकी सारी चिन्ता वे भगवान् करते हैं। उसे दोषमुक्त रखें या दोषयुक्त—अपनी चीजको कैसा भी रखें, उनकी मन हो, वैसे ही रखें, वह तो केवल उनका होकर निरन्तर उनके चिन्तनमें ही लगा रहता है; क्षणभरका विस्मरण उसमें परम व्याकुलता पैदा कर देता है—

'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

(नारदभक्तिसूत्र १९)

उसके पास दोष-गुण-चिन्तन करनेके लिये न अवकाश रहता है न चिन्तन करनेवाला मन ही। अतएव जो कुछ भी चिन्तन होता है, वह उन्हींकी इच्छाके अनुकूल होता है—

हम उनके हैं सदा-सर्वदा, वही हमारे हैं सर्वस्व।
पता नहीं, हम कौन कहाँ हैं, कैसे करें कभी कुछ गर्व॥
बल-दुर्बलता, गुण-अवगुण—सब हैं उनके इच्छानुसार।
चाहे जैसे करें-करायें, कौन करे फिर सोच-विचार॥

अपना विचार वे आप करें, हमें तो निश्चिन्त-नीरव चित्तसे निरन्तर उनका चिन्तन ही करना चाहिये।

दूसरोंके कहने—सुननेकी ओर दृष्टि ही न जाय

अपनी निष्ठामें अनन्य तथा दृढ़ रहना चाहिये और दूसरेमें दोष देखना नहीं चाहिये। अनन्य भावनाके कारण अपने प्रेमास्पदके प्रति कहीं कुछ सुन लेनेसे मन वेदैन हो जाता है, यह स्वाभाविक है। अपने प्रेमास्पदके प्रति दूसरी तरहकी बातें सहन न होना ऊँचा भाव है; पर इससे भी ऊँचा भाव यह है कि उस ओर हमारी दृष्टि ही न जाय, कान ही न जायँ कि कोई क्या देखते-सुनते हैं, क्या कहते हैं—

कोई कुछ भी कहे, सुने कुछ भी, देखे कुछ भी निज भाव।
मेरे लिये नहीं कुछ भी है, कहीं न कुछ तिलमात्र प्रभाव।।
सुनते नहीं कान परचर्चा, जीभ नहीं कहती कुछ अन्य।
नेत्र समाये देख नित्य प्रिय निजको निजमें होते धन्य।।
कानोंको सुनती नित प्रिय—लीला, मुरलीकी मोहन तान।
वाणी नित करती प्रिय—चर्चा, नेत्र देखते रूप महान।।
मन रहता नित मत्त—मग्न, प्रियतमका करता मधु—रस—पान।
प्रियतमको देता रहता वह मनवाञ्छित मधु रसका दान।।

हमें किसीसे क्या मतलब; हमें तो अपने प्राणवल्लभ श्रीश्यामसुन्दरसे काम है, जो नित्य हमारे बाहर—भीतर अनवरतरूपसे बसे ही रहते हैं।

इन बातोंका ध्यान रखना चाहिये

अपने जीवनमें इन बातोंका ध्यान रखना चाहिये—

(१) दूसरे चाहे हमारी निन्दा—चुगली करें, हम किसीकी न करें, दूसरे हमारे दोष देखें, हम किसीके न देखें; दूसरे हमसे ईर्ष्या करें, हम किसीसे न करें।

(२) दूसरोंके सुख तथा प्रसन्नतामें हमारा दुःख हेतु हो तो हम उस दुःखको भी सुख मानें। कभी भी दूसरोंका दुःख हमारा सुख न हो।

(३) हमारे हटने, चले जाने, अलग हो जानेसे दूसरोंको सुख—शान्ति मिलती हो तो हम हर्षपूर्वक हट जायँ।

(४) सभीमें भगवान् भरे हैं, सभीका हित हो, सभीको सुख हो। हमारे अपमान, निन्दा, दारिद्र्य, रोग और मरणमें भी दूसरोंका हित होता हो तो इन्हें सानन्द वरण करके श्रीभगवान्की प्रीति प्राप्त करनी चाहिये।

(५) यहाँके सुख—दुःख, मानापमान, स्तुति निन्दाका कोई मूल्य ही नहीं है—यदि हम भगवान्का प्रिय कार्य करते हैं।

उनके होकर हम क्यों जलें, क्यों दुःखी हों ?

सदा—सर्वदा भगवान्की ओर देखते रहकर परम प्रसन्न रहना चाहिये।

उनका मुस्कराता हुआ चन्द्रमुख सामने रहनेपर हृदयमें किसी भी प्रकारकी जलनके लिये स्थान ही नहीं रहता। उनकी मुस्कानमें ही तो सारी शान्ति, शीतलता, सुखमयता भरी है। विषाद करना तो अपने भगवान्को दुःख पहुँचाना है, जलना तो उनको जलाना है। उनके होकर हम क्यों जलें ? हम क्यों दुःखी हों ?

यही तो प्रेमका सीधा पथ है

अपने लिये अपनेको देखना है। कोई कुछ भी कहे, कुछ भी करे, अपना पवित्र सम्बन्ध नित्य—निरन्तर अपने भगवान्से बना रहे। उनकी मधुर स्मृति तथा उनके अपनत्वकी नित्य अनुभूति होती रहे! बस, इसीमें अपना परम लाभ है। अपनेको अपने प्रभुकी मानसिक सेवासे ही अवकाश नहीं मिलना चाहिये—

हटे वह सामनेसे, तब कहीं मैं अन्य कुछ देखूँ।
सदा रहता बसा मनमें तो कैसे अन्यको लेखूँ।।
उसीसे बोलनेमें ही मुझे फुरसत नहीं मिलती।
तो कैसे अन्य चर्चाके लिये, फिर जीभ यह हिलती।।
सुनाता वह मुझे मीठी रसीली बात है हरदम।
तो कैसे मैं सुनूँ किसकी, छोड़ वह रस मधुर अनुपम।।
समय मिलता नहीं मुझको, टहलसे एक पल उसकी।
छोड़कर मैं उसे, कैसे करूँ सेवा कभी किसकी।।
रह गयी मैं नहीं कुछ भी, किसीके कामकी हूँ अब।
समर्पण हो चुका मेरा जो कुछ भी था, उसीके सब।।

अपनेको तो ऐसा ही बनना है। यही तो प्रेमका सीधा पथ है। फिर साधनकी दृष्टिसे भी दूसरेकी ओर न देखकर हमें अपनी ही ओर देखना है। इसीमें अपना लाभ है।

कुछ आवश्यक परामर्श

इन बातोंपर ध्यान दीजिये और जो करनेकी चीज है, वह कीजिये——

(१) भगवान् सर्वत्र हैं और मनुष्य अपने भावसे सर्वत्र ही उनकी अनुभूति और स्मृति कर सकता है।

(२) भगवान् ही सबके अकारण सुहृद और परम मंगल करनेवाले हैं। उनकी कृपापर विश्वास रखकर उन्हींके प्रति आत्मसमर्पण करना चाहिये। उनकी कृपासे सब प्रकारके विघ्नोंका नाश और उनकी ओर आगे बढ़नेका मार्ग प्रशस्त होता है।

(३) अपनेको निरन्तर भगवान्का ही मानिये और केवल भगवान्को

अपना मानिये। यह सर्वोत्तम साधन है।

(४) भगवान्‌के श्रीचरणोंका स्मरण करते रहिये और उनकी कृपापर विश्वास रखिये।

(५) श्रीभगवान्‌का स्मरण करते हुए सारे कार्य उनके प्रीत्यर्थ ही करते रहना चाहिये।

'नारायण'का स्मरण मंगलमय है

'नारायण' शब्द प्रभुका बड़ा मंगलमय नाम है। श्रीमालवीयजी महाराज कहा करते थे कि 'नारायण' शब्दका उच्चारण करते हुए यात्रा आरम्भ करनेसे यात्रा सफल हो जाया करती है, विघ्न मिट जाते हैं। दूसरा कोई प्रणाम करे या चरणस्पर्श करे तो उसे भगवान् नारायणका स्वरूप समझकर नारायणकी भावनासे 'नारायण' शब्दका उच्चारण करते हुए मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये। ऐसा करना बहुत अच्छा है। आप श्रीनारायणके चरणोंकी स्मृति बनाये रखनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं, सो आपकी यह प्रार्थना अवश्य ही बड़ी मंगलमयी है। भगवान् सच्ची प्रार्थना सफल करते ही हैं।

असली स्वस्थता

असली स्वस्थता अपने अभिन्नस्वरूप भगवान्‌में स्थित रहनेमें ही है। जगत्‌में, प्रकृतिमें स्थिति ही अस्वस्थता है। अतएव जो भगवान्‌में स्थित हैं, उनके सिवा सभी अस्वस्थ हैं। यही स्वास्थ्यका ठीक रहना है। तुम इसी स्वस्थताकी स्थितिमें रहो, सदा रहो। क्षणभरके लिये भी भगवान्‌से अलग होकर जगत्‌में रहनेका कभी संकल्प ही न हो। नित्य-निरन्तर अबाधरूपसे भगवान्‌का मधुर मनोहर आत्मरूप सम्पर्क रहे। प्रत्येक अंगको—रोम-रोमको, मन-बुद्धिकी अत्यन्त सूक्ष्मतम भूमिको भी उनका नित्य संस्पर्श प्राप्त होता रहे।

शरीरसे भगवत्सेवाका जितना काम लिया जाय, ले लेना चाहिये

मेरे शरीरके लिये इतनी चिन्ता क्यों ? शरीरका, इन्द्रियोंका आराम मनुष्यके वास्तविक जीवनका पतन कर देता है। इनका तो सुखपूर्वक निग्रह ही करना चाहिये। शरीरके आरामकी जितनी चाह बढ़ेगी, उतना ही दुःख, पराधीनता और परावलम्बन बढ़ेगा। इसलिये मेरे हितकी दृष्टिसे तुमको भी यही चाहिये कि तुम मेरे शरीरके आरामकी चिन्ता न करके आत्माके आरामकी चिन्ता किया करो। तुम मेरे शरीरके लिये जो चाहते हो, यह भी निश्चय ही तुम्हारे पवित्र हृदयकी मंगलमयी आत्मीयता है। इसका मेरे हृदयमें बड़ा आदर है; पर यथार्थ आराम तो आत्माका ही है। शरीर नष्ट होनेवाला पाँच भूतोंका पिण्ड है; इसकी क्या महत्ता

है। इससे तो भगवत्सेवाका जितना काम लिया जाय, ले लेना चाहिये; इसको जहाँ आराम दिया जाय, वहाँ भी भगवत्सेवाकी ही प्रत्यक्ष भावना रहे।

सांसारिक हानि–लाभ प्रारब्धसे मिलता है

मनुष्यका अपना स्वभाव होता है और वह प्रत्येक वस्तुको अपनी आँखसे देखता है। जहाँ तक बने, चेष्टा ऐसी रखनी चाहिये कि हम जिसके साथ काम कर रहे हैं, उसका अधिक–से–अधिक आदेश पालन करें और उसके अनुकूल चलें। जहाँपर पाप स्वीकार करना पड़ता हो, वहाँपर उतने अंशमें उनका समर्थन न करके अन्य चीजोंका तो समर्थन करना ही चाहिये। यही नीति है। रही देशकी बात, सो भगवान्‌के सामने मनुष्यको सदा सच्चा रहना चाहिये। सांसारिक हानि-लाभ पूर्व–जन्मार्जित कर्मोंके अनुसार बने हुए प्रारब्धसे मिलते हैं; उसे बदलना बहुत कठिन है; न तो हम स्वयं उचित–अनुचित बर्ताव करके उसे बदल सकते हैं, न दूसरे ही हमारे साथ न्याय–अन्यायका बर्ताव करके बदल सकते हैं। दूसरोंके द्वारा अपना अहित होता देखकर तो यह समझना चाहिये कि व्यक्ति केवल निमित्त है, मेरा अहित मेरे कर्मवश हुआ है; पर मेरा अहित चाहकर उसने अपना अहित कर लिया है, भगवान् उसे क्षमा करें। और अपने मनमें कभी किसीके अहित करनेकी कल्पना आये तो यह सोचना चाहिये कि उसके प्रारब्धके बिना उसका अहित करना मेरे लिये असम्भव है, परंतु उसका अहित सोचकर मैं अपना अहित अवश्य कर रहा हूँ। अतएव अपनेको अहितसे बचाना चाहिये।

सत्यके पक्षमें रहनेवालेको तपस्या करनी पड़ती है

वर्तमान युगमें मनुष्यका चरित्र पतन हो गया है। इस अवस्थामें सच्चाईका और न्यायका आदर करनेवाले बहुत कम लोग रह गये हैं; किंतु अन्तमें तो सत्यकी ही विजय होती है। हाँ, पूर्ण सत्यके पक्षमें रहनेवालेको कुछ तपस्या भी करनी पड़ती है। हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर इसके उदाहरण हैं।

भगवान्‌की कृपाका ही अनुभव करें

भगवान्‌की कृपाका नित्य-निरन्तर अनुभव करते रहना चाहिये। भगवान्‌की कृपा अनुपम, अनन्त और सार्वभौम है। उनकी कृपाका जितना ही अनुभव किया जाय, उतना ही उससे अधिक लाभ मिलता है।

हम उनके, वे सदा हमारे, परमानन्द–सुधा–सागर !

तुम अत्यन्त प्रसन्न रहना। सदा ऐसा विश्वास रखना चाहिये कि मेरे विषादादि कुछ बचे ही नहीं हैं। बस, इस पदके भावोंको अपने जीवनमें अनुभव करना चाहिये—

हम उनके, वे सदा हमारे, परमानन्द–सुधा–सागर।
सदा हृदयमें रखते हमको परम मधुर वे नटनागर।।
रहते सदा हमारे उरमें करते विविध स्वयं नित खेल।
हो कुछ भी, कैसे भी जगमें, उनका हमसे रहता मेल।।
देते रहते वे हमको निज सहज अमित आनन्द उदार।
आ सकती विषादकी छाया, कभी न कुछ भी किसी प्रकार।।
दुःखयोनि भोगोंका भी रहा न जीवनमें संश्लेष।
भगवत्–रससे रहित तनिक भी बचा देश–काल–अवशेष।।

प्रेमका स्वरूप

अपनी सारी ममता, सारी प्रीति, सारी आसक्ति एकमात्र परम प्रियतम श्रीभगवान् श्यामसुन्दरमें ही केन्द्रित हो जानी चाहिये। जीवनमें जब केवल वे ही ममता, प्रीति तथा आसक्तिके एकमात्र आधार हो जाते हैं, तब प्रत्येक विचार, प्रत्येक स्फुरणा, प्रत्येक संकल्प, प्रत्येक चेष्टा और प्रत्येक क्रिया उन्हींके लिये हुआ करती हैं। शरीरका प्रत्येक स्पन्दन तथा श्वासकी प्रत्येक चेष्टा उन्हींके लिये होती है। यही प्रेमका स्वरूप है। इसमें सारी दुर्वासनाएँ, कुकामनाएँ ही केवल नष्ट नहीं होतीं, श्रीश्यामसुन्दरकी प्रीति–वासना, प्रीति–कामनाके अतिरिक्त अन्य कोई सुवासना–सुकामना भी नहीं रहती। फिर खाना पीना, सोना–जागना, लेना–देना, भोग–त्याग, मेरा–पराया– सब उन्हींसे, केवल उन्हींसे सम्बन्ध रखता है तथा उन्हींके लिये हुआ करता है। जगत्में न कहीं रागमें मन जाता है न द्वेषमें। असीम प्रेम सबको छोड़कर सर्वत्र मधुमय प्राण–प्रियतमकी झाँकी करवाता रहता है। फिर आँखें केवल उन्हींकी रूप–माधुरी तथा लीला–माधुरीको देखती है, कान उन्हींकी मुरली–लहरी तथा स्वर–लहरीको सुनते है, नासा केवल उन्हींकी अंग–सुगन्ध तथा उनके गलेमें सुशोभित दिव्य मालाओंके पुष्पोंकी सुगन्धको सूँघती है, रसना केवल उन्हींके नित्य पावन रसमय प्रसादको चखती है और त्वक् सदा–सर्वदा उन्हींका मधुरतम, पवित्रतम संस्पर्श प्राप्त करती रहती है एवं मन–बुद्धि सब उन्हींमें रमे रहते हैं। बस, सदा–सर्वदा- सर्वत्र केवल प्राण–प्रियतम ही प्राण–प्रियतम। न विषय, न विषय–जगत्।

प्रेमकी भाषा मौन होती है

तुमने लिखा है----'मौन तो कायर होता है', सो ऐसी बात नहीं है। बहुत बोलनेवाले वीर नहीं होते, बोले नहीं और करे––वही वीर है। फिर प्रेमकी भाषा मौन होती है, वाणी नहीं होती। प्रेम तो हृदयका परम गोपनीय धन है और है

अनुभवरूप! उसका वाणीसे वर्णन हो ही नहीं सकता, वह जीवन बन जाता है। वाणी नहीं बोलती, उसका जीवन बोलता है; पर वह भी गुप्त-भाषामें, मौन-भाषामें।

धन्य है यह पवित्र प्रेम !

तुम्हारा प्रभुके साथ बड़ा ही सुखद तथा आनन्ददायक भाव-मिलन होता है, सो ठीक है। बस, यही होना चाहिये। प्रभु सदा ही समीप रहते हैं, इतना समीप कि उतनी समीप कोई अन्य वस्तु है ही नहीं; इतने व्यवधानरहित निकट कि वैसी निकट कोई वस्तु ही नहीं है और इतने 'अपने' कि वैसा 'अपना' उनके सिवा और कोई भी नहीं है। प्रेमका यह अवश्य चमत्कार है कि इतनी समीप, इतनी निकट और इतनी अपनी वस्तुके नित्य समीप रहनेपर भी उसकी सतत स्मृति रहती है तथा मिलनोत्कण्ठा बनी रहती है। मिले रहकर भी तृप्ति नहीं होती है। धन्य है यह पवित्र प्रेम !

प्रियतमके अतिरिक्त अपना कहनेको और कुछ भी न रहे

तन-मन-जीवन, लोक-परलोक—सभी प्रियतमके समर्पित हों; प्रियतमके लिये सुख-दुःखका अभिनन्दन हो; प्रियतमके अतिरिक्त अपना कहनेको और कुछ भी न रहे। यह निष्किंचनता जहाँ होती है, वहाँ भगवान् उसका पद-रजकण प्राप्त करनेको लालायित हुए उसके पीछे-पीछे सदा लगे रहते हैं। उसकी चरण-धूलिसे अपनेको पवित्र मानते हैं—

स्वामिनि राधा विनय सुनु देख भयो बेहाल।
दे नित चरन-सरोज-रज-कन मोहि करहु निहाल।।

भगवान् अपने ऐसे सर्वत्यागी प्रेमीजनको क्षणभरके लिये भी कभी भूल नहीं सकते; सदा एकमेक ही रहते हैं; फिर भूलनेकी बात है ही कहाँ ? उन्होंने गीतामें घोषणा की है— '*मयि ते तेषु चाप्यहम्*' —मैं उनमें रहता हूँ, वे मुझमें रहते हैं।'

विरहजन्य स्थिति बड़ी ही श्रेष्ठ होती है

मनका संसारमें न लगना, संसारसे ऊबना, उसका संसारसे विरक्त रहना तो सद्गुण ही है। भगवान्में निरन्तर मन लगा रहना चाहिये। भगवान्की प्रतीक्षा, भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा, भगवान्की अनुभूति, व्याकुल-स्मृति निरन्तर होनी चाहिये।

भगवान्की विरहजन्य स्मृति बड़ी ही श्रेष्ठ हुआ करती है। भगवान्ने गोपियोंसे कहा था—

'प्रिय गोपीजनो ! इस देहके साथ ही तुम्हारा यह मानसिक अमिलन है। विरहके माध्यमसे भीतर-बाहर, स्वप्न-जागरण-सुषुप्ति—सभी अवस्थाओंमें

मेरा तुमलोगोंके साथ सदा ही मिलन बना रहता है। यह विरहकी ही परम शक्ति है, जो प्रियतमको विश्वमय दिखलाता है—'*त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।*' मिलनानन्द सम्भोगका बड़े गहरे भावसे आस्वादन करानेवाला गुरु तो एकमात्र विरह ही है। प्रियतमके विरहमें प्रियतमका जिस गम्भीर भावसे आस्वादन किया जाता है, उस प्रकारका आस्वादन मिलनमें नहीं होता। मिलन तो सदा ही मिलन–भंगकी आशंकासे दुःखदायी पर्देसे ढका रहता है; सदा ही भय बना रहता है बिछुड़ जानेका, परंतु विरह नित्य–निरन्तर मिलन–भंगकी आशंकासे—बिछुड़नेके भयसे मुक्त है। वह तो नित्य ही—बिना किसी आवरण–भयके स्वच्छन्द भोगालोकसे समुज्ज्वल है। मिलनमें भोग होता है, विरहमें भोगवर्धन है। अतएव गोपिकाओ! तुम्हारे साथ मेरा कभी वियोग है ही नहीं। विरहके माध्यमसे अंदर-बाहर, स्वप्न जागरण—सभी अवस्थाओंमें तुम्हारा–मेरा नित्य मिलन होता रहता है।'

बस, इसी प्रकार सदा–सर्वदा श्रीभगवान्‌के साथ मिलनानन्दका आस्वादन करते रहना चाहिये। शरीर चाहे कहीं रहे, भगवान् तो वहाँ हैं ही।

भगवान्‌को सीधा–सरल समर्पण प्रिय है

भगवान् कलुष–कलंक नहीं देखते, वे पाप–अपराध नहीं देखते। किसी योग्यताकी उन्हें अपेक्षा नहीं है। वे तो जानते हैं—सीधा–सरलसमर्पण। जो यह कह दे, सरल चित्तसे—'नाथ! मैं तुम्हारा हूँ', बस, तत्काल ही भगवान् सदाके लिये उसको अपना बना लेते हैं। इतना ही नहीं, सदाके लिये उसके बन जाते हैं—प्रेमी और उसे बना लेते हैं—प्रियतम। सदा उसे लोभीके धनकी भाँति अपने हृदयमें बसाये रखते हैं। भगवान् अपनी भगवत्ता भूल जाते हैं, परंतु उसको नहीं भूल सकते।

श्रीकृष्णकी शक्ति–कृपासे सब होगा—दृढ़ निश्चय रखो!

विश्वास करो—तुमपर श्रीकृष्णकी बड़ी कृपा है। तुम अपने मनमें अत्यन्त प्रसन्न तथा निश्चिन्त रहो। हाँ, श्रीकृष्णके प्रति अपनी इच्छाको निरन्तर बढ़ाते रहो। संसारकी, तमाम दृश्य–जगत्‌की सत्ता न रहकर एकमात्र श्रीकृष्ण ही रह जायँ—ऐसी चाह सदा बढ़ाते रहो। करेंगे सब वे ही और सब उनकी ही शक्ति तथा कृपासे होगा। होगा अवश्य—यह मनमें दृढ़ निश्चय रखो; कभी संदेह मत करो—

> हरिने जिसको कर लिया एक बार स्वीकार।
> वह उनका ही हो चुका, उतर चुका भव–पार॥
> रहेगा न उसमें कहीं, कभी प्रपञ्च–विकार।
> बन जायेगा, बन चुका वह शुचि सुख–भंडार॥

अपने भाव और प्रेममें सदा कमी दीखती रहे

तुम्हें अपना भाव और प्रेम कम दीखता है, सो कम तो दीखना ही चाहिये। यह तो आदर्श सद्गुण तथा एक उत्तम भाव है। निरन्तर यही दीखता रहे— 'हम अवगुणोंसे भरे हैं, भगवान् सर्वगुण-सागर हैं; हम पतित हैं, भगवान् पतितपावन हैं; हम भजन-साधन-हीन, सर्वथा दीन-हीन-मलिन हैं, पर भगवान् अकारण-कृपालु तथा सहज सुहृद हैं। हम भगवान्की छायाको भी नहीं छू सकते, पर भगवान् जबर्दस्ती हमारे हृदयमें घुसकर सारा हृदय साफ करके वहाँ अपना घर बना लेते हैं—यह उनका स्वभाव है।'

संसारका स्वरूप

श्रीभगवान्का हमलोगोंपर अत्यधिक स्नेह है, इसमें जरा भी संशय नहीं है। उस स्नेह-सम्पत्तिसे परमधनी हमलोग हैं, इसलिये हमें जरा भी चिन्ता-विषाद नहीं करना चाहिये। संसार संसारकी दृष्टिसे दुःखमय है—इसमें सुख-लेश भी नहीं है और भगवान्की दृष्टिसे लीलारूप भगवन्मय है, जिसमें सुख-ही-सुख है। कहीं कुछ भी हुआ करे, भगवान्की लीला-दृष्टि होनेसे उसमें दुःख नहीं होगा।

विपत्ति भगवान्का मंगलविधान है

विपत्तिको भगवान्का मंगलविधान मानकर सहन कीजिये, परिणाम शुभ होगा; देर हो सकती है। इस समय जो तिरस्कार और अपमान प्राप्त हो रहे हैं, उनसे पूर्वकर्मका ऋण चुक रहा है, ऐसा मानना चाहिये। मनमें निराश न होकर भगवान्की कृपापर विश्वास रखना चाहिये।

प्रार्थना प्रभु-प्रेमका पावन स्वरूप है

तुम जो प्रार्थना करते हो, सो बहुत सुन्दर है। प्रार्थना किये बिना रहा नहीं जाता, यह बहुत अच्छा है; वास्तवमें प्रार्थना किये बिना नहीं रहा जाना चाहिये। यह प्रार्थना भी प्रभु-प्रेमका ही एक पावन स्वरूप है, जो हृदयके मधुर दिव्य प्रेमको किसी अंशमें बाहर प्रकट करा अपनी अभिव्यक्ति करता है और प्रेमरसास्वादनको और भी मधुरतम कर देता है।

भगवान्का स्मरण करते हुए अभिनयरूपमें सब कुछ करते रहिये

कर्म-भोग कब, किस रूपमें आते हैं, पता नहीं चलता। इस जगत्में हमारे सामने आनेवाले प्रत्येक परिणाममें यदि हम मंगलमय, प्रेममय, कृपामय भगवान्का मंगल-विधान देख सकें तो हर अवस्थामें सुखी रह सकते हैं। नहीं तो, जगत् दुःखालय है ही। यह विश्वास रखना चाहिये कि जो कुछ हो रहा है, भगवान्के मंगल-विधानके अनुसार सभीके मंगलके लिये हो रहा है तथा

वही हो रहा है, जो होना चाहिये। हमारी मिथ्या ममता, हमारा अज्ञान–जनित मोह हमें प्रतिकूलताका अनुभव कराकर दुःखी करता रहता है। यह ममता, यह मोह सर्वथा मिथ्या तथा त्याज्य है। यहाँके सारे सम्बन्ध भी असत्य हैं अथवा नाटकके स्टेजपर होनेवाले अभिनय हैं। अपना–अपना अभिनय बिना राग-द्वेषके खेलकी भाँति करना है और दूसरोंके खेलको देखना है। अतएव किसी भी स्थितिमें दुःखी होनेकी तो कोई बात ही नहीं है। यहाँ लीलामय तथा लीला– दो ही चीज हैं। लीलामयकी लीला–चातुरी देख-देखकर प्रत्येक रसके आविर्भावमें परम प्रसन्न होना चाहिये। किसी दुःखी व्यक्तिके साथ सच्ची सहानुभूतिके रूपमें उसके दुःखको अपना दुःख मानना सर्वथा उचित तथा सराहनीय है; परंतु अपने स्वरूपको अलग रखकर यह होना चाहिये नाटकके स्टेजपर अभिनयके रूपमें ही। अपने स्वरूपसे तो हम भगवान्की अपनी चीज हैं; उसपर उन्हींका पूर्णाधिकार है —हमारा अपना उनके सिवा और कुछ भी, कोई भी नहीं है; और भगवान् हमारे हैं, उनपर हमारा आधिपत्य है। हम न किसी दूसरे प्राणी–पदार्थ–परिस्थितिके हैं, न कोई प्राणी–पदार्थ–परिस्थिति ही हमारी है। परिवारके सदस्य, परिवारके कार्य, जगत्के सभी व्यवहार कर्तव्य स्टेजके खेलके सम्बन्ध तथा खेल हैं; इस बातका सदा–सर्वदा अनुभव करते हुए स्वरूपमें नित्य आनन्दमय रहना चाहिये। हमारे भगवान् नित्य हमारे हैं, हमारे रहेंगे। अभिनयरूपमें सब कुछ करते रहना चाहिये, यही असली चीज है।

भगवान्के नाम, रूप और लीलाको अपना साथी बनावें

आपके यहाँ सत्संगका अभाव है तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। आप भगवन्नामको ही अपना चिर–सहचर बनाइये; फिर आप ऐसा अभाव अनुभव नहीं करेंगे। भगवान्के नाम, रूप और लीला—ये आपके साथी बने रहें; फिर और किसीके संगकी आपको जरूरत ही नहीं होगी। इनसे बड़ा और कोई संत भी आपको कहाँ मिलेगा? जपसे नामका, ध्यानसे रूपका और गीता–भागवतादिके स्वाध्यायसे भगवल्लीलाओंका संग पुष्ट हो सकता है।

भगवान्के साथ जुड़े रहो

सदा–सर्वदा भगवान्के साथ जुड़े रहो। जीवन भगवान्के स्मरणका स्वरूप बन जाय। जगतका दुःख जंजाल—सारा प्रपञ्च नष्ट हो जाय। तुम नित्य परमानन्दमय बने रहो।

जगत्का हर्ष और शोक, दोनों ही हमपर कभी असर न डाल सकें

संसारमें अनुकूलता–प्रतिकूलताके प्रसंग आते ही रहते हैं। इसमें मनुष्य

कभी भी निर्मल सुख— केवल सुखको प्राप्त नहीं कर सकता। केवल सुख तो अनुकूलता- प्रतिकूलता दोनोंके मिट जानेमें ही है और ये केवल भगवत्स्वरूपास्थितिके आश्रयसे मिटती हैं। प्रत्येक परिस्थितिमें मनुष्य अपने अखण्ड परमात्मसुखमें सदा स्थिर रहे, इसीके लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये; जगत्का हर्ष और शोक, दोनों ही उसपर कभी असर न डाल सकें——ऐसे अखण्ड आनन्दका आश्रय नित्य रहना चाहिये।

भगवान् कभी निराश नहीं करते

आप भगवत्प्रेम पानेके लिये उत्सुक हैं तो भगवान् आपपर अवश्य कृपा करेंगे। उनकी कृपासे ही तो यह उत्सुकता प्राप्त हुई है। इसलिये मनमें यह निश्चय रखिये कि जिन्होंने यह लगन लगायी है, वे ही इसे शान्त भी करेंगे। भगवान् कभी निराश नहीं करते।

सच्चा त्याग

यह बात निश्चित है कि संसारमें हमारा कुछ भी नहीं है, सब भगवान्का ही है। यदि यह निश्चय दृढ़ हो जाय तो हमारे पास त्यागनेको कोई चीज ही नहीं रहती; तब तो हमारा जीवन त्यागमय ही है। इस प्रकार ममताका त्याग ही सच्चा त्याग है।

मनकी प्रसन्नताका हेतु

तुम्हारा मन खूब प्रसन्न रहना चाहिये। श्रीभगवान्में ही लगा मन वस्तुतः प्रसन्न रह सकता है, जगत्-प्रपञ्चमें लगा मन सदा अशान्त——अतएव दुःखी ही रहता है। जहाँतक हो, मनको अधिक- से-अधिक भगवान्में लगाये रखना चाहिये। जगत्का कार्य केवल नाटककी भाँति हो, उसमें ममता- आसक्ति हो ही नहीं। जगत्की ममता ही दुःखकी जड़ है। ममता मिटी कि दुःखका, अशान्तिका नाश हुआ।

विशुद्ध प्रेमका स्वरूप एवं रहस्य

एक महात्मा थे; सबसे उदासीन रहते थे। किसीसे भी मिलनेमें उनके मनमें उत्साह तो रहता ही नहीं था, वरं वे चाहते, कोई उनके पास कभी आये ही नहीं——आये तो जल्दी ही चला जाय। उनमें बड़ी श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले लोग चाहा करते कि हम कुछ दिन महात्माजीकी सेवामें रहें; सब प्रयत्न भी करते। आनेपर महात्माजी उनसे सद्व्यवहार ही करते, परंतु उनके मनमें यही रहता कि ये जल्दी यहाँसे चले जायँ तो अच्छा; न आये तो और भी अच्छा। पर उनकी एक ऐसे व्यक्तिके प्रति प्रीति थी, एक आकर्षण था कि वे चाहा करते- ——वह मेरे पास ही आता रहे, आये तो अधिक कालतक रहे। कभी न जाय तो सर्वोत्तम। वह व्यक्ति जानता कि महात्माजीकी मेरे प्रति बड़ी प्रीति है; पर समझमें नहीं आता कि क्यों है। कभी-कभी वह उलटा झुँझला भी उठता, पर महात्माजीको इससे कुछ

मिलता; वे कभी नाराज नहीं होते, उकताते नहीं, चाहते, वह सदा मेरी आँखोंके सामने बना रहे, कुछ भी करे, कुछ भी कहे।

पता लग गया पीछे कि महाराजजी स्वयं ही प्रीतिका आनन्दास्वादन करनेके लिये, मधुर रसका मजा लेनेके लिये उस व्यक्तिके रूपमें भी प्रकट हो रहे थे। एक ही दो हो रहे थे; आस्वाद्य और आस्वादक एक ही थे।

विशुद्ध प्रेमका यही स्वरूप एवं रहस्य होता है। अवगुण तथा लाखों-करोड़ों कमजोरियोंसे विशुद्ध प्रेममें न तो कोई बाधा पड़ती है, न वे दीखती ही हैं। उसमें दीखता है—परम मंगलमय, परम आनन्दमय, परम रसमय, परम मधुर हृदय-सौन्दर्य।

असली प्रेम प्रभुके साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करा देता है

भगवान् चुम्बक हैं, उनका प्रेमी भक्त शुद्ध लोहा है। चुम्बकके सामने होनेपर लोहा उससे जैसे दूर नहीं रह सकता, वह तुरंत खिंचकर उसके पास जा पहुँचता है, इसी प्रकार भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण भी अपने भक्तको—विशुद्ध प्रेमीको खींच लेते हैं। इसीसे उनका नाम 'कृष्ण' है। पर जैसे लोहा खिंचता वही है, जो विशुद्ध होता है, अन्य धातुओंसे मिला हुआ लोहा ठीक नहीं खिंच पाता, इसी प्रकार विशुद्ध भक्त—अन्याश्रयका सर्वथा त्यागी तथा अनन्य ममतायुक्त प्रेमी ही खिंचता है। यह खिंचाव आत्माका होता है। शरीर तो जड़ तथा क्षणभंगुर है। शरीरकी प्रीति कितने दिनोंकी, वह तो जड प्रेम है, अन्तवाला है तथा तुच्छ है। असली रति आत्माकी होती है, जो प्रभुके साथ नित्य अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करा देती है; फिर लीला-रसास्वादनमें चाहे वियोग-लीला हो या मिलन-लीला। वास्तवमें प्रेमास्पद भगवान् तथा प्रेमी भक्तका कभी भी बिछोह नहीं होता, नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रेम देश-काल-पात्रकी सीमामें आबद्ध नहीं होता। शरीरका प्रेम तो एक बहुत ही क्षुद्र सीमामें आबद्ध है और बहुत निम्न श्रेणीका होता है। हम स्वयं ऐसे प्रेमी बन जायँ, फिर प्रेमास्पदका अस्तित्व हमारे साथ सदा ही जुड़ जायगा, यह ध्रुव सत्य है। श्रीगोपांगनाएँ इसी प्रकार प्रेमस्वरूपा थीं। श्रीराधाजी उन सबकी आत्मा—सबकी सिरमौर थीं। राधाजीसे उनका प्राकट्य है और वे सभी श्रीराधाजीकी सहचरी हैं। इसीसे भगवान् श्रीकृष्ण उनके हाथ सदा बिके-से रहते हैं। हम इस भावको समझें और ऐसा बननेका प्रयत्न करें।

असली स्वस्थता

असली स्वास्थ्य तो स्व—भगवान्में सदा स्थित रहनेमें ही है। शेष तो सारी अस्वस्थ-अवस्था ही है।

तुम्हारे योग्य सेवा

तुमने अपने योग्य सेवा पूछी, सो तुम्हारे योग्य सेवा यही है कि तुम नित्य निरन्तररूपसे अपनेको श्रीभगवान्‌के श्रीचरणोंमें समर्पित देखते रहो। जगत्‌के सुख–दुःख, जीवन–मरण, लाभ–हानि, मान–अपमानका तुमपर कुछ भी प्रभाव न पड़े। चित्त–देशमें सदा–सर्वदा भगवान्‌का प्रेमानन्द–सुधासागर उछलता रहे। तुमको यह वस्तु प्राप्त ही है; क्योंकि श्रीकृष्णकी तुमपर अनन्त प्रीति है। बस, तुम इसका सदा अनुभव करते रहो। तुम्हारे दोष–कलुष सब उन्होंने ले लिये हैं। अतः तुमको नित्य–निरन्तर परम प्रसन्न रहना चाहिये। जगत्‌की किसी भी परिस्थितिसे हर्ष–विषाद नहीं होना चाहिये; ये सब उनके खेल हैं। खेलकी भाँति इन्हें देखते रहो और तुम्हारे लिये जो खेल उन्होंने सौंप दिया है, उसे केवल उनकी प्रसन्नताके लिये, उन्हींकी शक्ति–गतिसे सदा भलीभाँति खेलते रहो।

श्रीकृष्ण बिना किसी शर्तका प्रेम चाहते हैं

शुभ्र और निर्मल ज्योत्स्नासे प्लावित शारदीय पूर्णिमाकी निस्तब्ध रजनीमें श्यामसलिला कालिन्दीके विमल तटपर एकान्त पवित्र स्थानमें बैठकर आनन्द–प्रेमाश्रुओंसे पूर्ण नेत्रोंद्वारा सर्वत्र श्रीश्यामसुन्दरको निहारते हुए श्रीकृष्णके शुभ–माधुर्य–रस पवित्र नामकी आर्त पुकार करनेकी आपकी कामना अत्यन्त ही कमनीय, सराहनीय और अभिनन्दनीय है। ऐसा शुभ समय कब होगा, इसका बतलानेवाला है कौन? जिस चतुर–चोर–चूड़ामणिने आपके चित्तको चुराया है, उसीसे 'उसके विरहमें रोनेका आनन्द–सिन्धु कब उमड़ेगा'—यह भी पूछना चाहिये। मेरी समझसे तो वह लीलामय जब चाहेगा, तभी यह सुयोग उपस्थित कर देगा। हाँ, उसके दिलमें ऐसी चाह उत्पन्न करनेके लिये अपनी सब चाहोंको उसकी अज्ञात चाहमें मिलाकर उसकी चित्तचाही चाहकी चाहपूर्वक प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। फिर जब उसकी मुरली बजेगी—बजती तो वह सर्वदा है ही, हम उसे सुन नहीं पाते—तभी वह शुभ समय समीप आ जायगा। आर्त्त और कल्याणभावसे उसे पुकारते रहिये। क्यों पुकारते हैं, क्या चाह है, कबतक पुकारना है, पुकारनेवाले हम कौन हैं, इन बातोंको भुला दीजिये। बस, केवल पुकार—पुकारके लिये पुकार, पुकारके स्वभावसे ही पुकार! इतना ध्यान रहे कि पुकार केवल वह ही सुने। पुकार ऐसी नीरव, ऐसी गुप्त और ऐसे हृदयके अन्तस्तलसे हो कि दुनियाको उसका पता ही न लगे; नहीं तो दुनियामें भक्त कहलानेसे मान–सम्मान, पूजा–प्रतिष्ठा और कहीं–कहीं निन्दा–अपमान प्रारम्भ हो जायँगे, जो सच्ची पुकारके लिये बड़े बाधक होंगे। ऐसी पुकार हुई कि फिर वह स्थिर नहीं रह सकेगा, अपनी योगमायाका पर्दा हटा देगा

और अपने अनावृत सौन्दर्य–माधुर्यके अनन्त महासागरमें हमें डुबो देगा। वह बिना किसी शर्तका प्रेम चाहता है——स्मरण रखिये।

अभिलाषाकी पूर्तिके लिये भजन अमोघ साधन है

श्याम-गौर–रूप–रस भरे——जैसे प्रेमभरे पदोंका गायन करते-करते शान्तिमय श्रीयमुनाजीके तटपर पावन ब्रज–भूमिकी धूलिमें शरीरके विलीन हो जानेकी अभिलाषा बहुत ही उत्तम है। ऐसी शुद्ध और उत्तम अभिलाषा भगवत्कृपासे ही होती है। आपके हृदयमें ऐसी अभिलाषा जाग्रत् होती है और भगवत्प्रेमकी झाँकी होती है— इससे मालूम होता है, अखिल–आनन्दरस सिन्धु आनन्दकन्द श्रीश्यामसुन्दरकी आपपर कृपा है। आप धन्य हैं।

भगवान्पर निर्भर होकर भगवान्की आज्ञा और इच्छाके अनुकूल यथासाध्य आसक्ति, ममता और अहंकार त्यागकर दैवी सम्पदाके दिव्य गुणोंके द्वारा अनन्य और निष्काम भावसे भगवद्भजन ही वह अमोघ साधन है, जिससे भगवत्प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहे और अन्तमें प्रेमवश श्रीभगवान् जहाँ आप रहें, वहीं दिव्य यमुना और ब्रजभूमिसहित स्वयं प्रकट होकर आपके जीवनको कृतार्थ कर दें, आपकी अभिलाषा सचमुच सफल कर दें। मेरा यह निवेदन है कि आप इसी भावसे साधना करते रहें।

भगवान्का शील–स्वभाव

भगवान्का शील–स्वभाव बड़ा ही विचित्र है। वे न अवगुण देखते हैं न दोष। वे देखते हैं—— केवल वर्तमानकी चाह तथा आसक्ति। जिसके मनमें उनकी चाह तथा उनमें आसक्ति होती है, वे उसे सर्वथा विशुद्ध करके अपना बना लेते हैं और स्वयं उसके बन जाते हैं। भूलना तो वे जानते ही नहीं। सारी स्मृतियोंके प्राण——आधार वे ही हैं। अतः हम सदा उनके रसमें अपनेको सराबोर रखें।

प्रेमीके लिये भोग तथा भोग–जगत् रहते ही नहीं

संसारमें संसारकी दृष्टिसे तो कहीं सुख है ही नहीं, हो सकता ही नहीं। भोग दुःखयोनि हैं और भोग- जगत् दुःखालय है; परंतु भगवान्‌से प्रेम रखनेवालेके लिये तो भोग तथा भोग–जगत् रहते ही नहीं। वहाँ तो सदा–सर्वदा- सर्वत्र केवल और केवल एकमात्र प्रियतम भगवान् ही होते हैं। इसलिये भगवान् तथा भगवान्की लीलामें सर्वत्र आनन्दका सागर ही लहराता है। अतएव उसीमें डूबे रहना चाहिये।

निर्भरताके मार्गपर ही चित्तकी धारा चला दीजिये

आपको अपना कल्याण होनेमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं है, यह परम सन्तोषका विषय है। यह विश्वास भगवान्में दृढ़ हो तो चिन्ता है भी नहीं। इसका आप सर्वोत्तम साधन समझिये। यह हो जानेपर कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं रह

जायगी। फिर तो जिनपर आप निर्भर करते हैं, जिनके भरोसे उत्ताल प्रचण्ड तरंगोंसे आन्दोलित महासमुद्रमें अपने आपको डाल दिया है, वे भगवान् स्वयं केवट बनकर, सुदृढ़ सुखमयी नौकापर सवार कराकर निर्विघ्न आपको अपने धाममें ले जायँगे। अतएव 'साधन - सापेक्षता' न रखकर अनन्य निर्भरताके मार्गपर ही द्रुत गतिसे चित्तकी धारा चला दीजिये।

आपने पूछा है——चरम ध्येय क्या होना चाहिये——भगवान्‌को एकत्व प्राप्त करना या (२) उनके दर्शन करना या (३) उनके चरण-कमलोंमें अनन्य प्रेम होना या (४) उनकी लीलामें सम्मिलित होना। वस्तुतः इन सबका तात्पर्यार्थ या लक्ष्यार्थ एक-सा ही है; फिर निर्भरताने तो निर्भरता ही चरम ध्येय होती है। क्या होना, क्या होना चाहिये, कब होगा, क्यों होगा ?——इत्यादि प्रश्नोंके लिये तो निर्भरतामें गुंजाइश ही नहीं रहती। बस, निर्भर रहना ही परम और चरम ध्येय है। होगा वही, जो हमारे लिये परम कल्याणकारक होगा, यह निश्चय रखना चाहिये, क्योंकि जिन दयार्णव परम आत्मीय परमात्मा प्रभुके ऊपर हम निर्भर करते हैं, उनकी प्रत्येक चेष्टा कल्याणमयी होती है। उसमें अकल्याणकी या मन्दकल्याणकी कल्पना ही नहीं हो सकती। हम क्यों सोच-विचार करें, क्यों दूसरी चिन्तामें मन लगावें ?

निश्चिन्त रहकर भगवच्चरणोंमें सदा संलग्न रहें

नित्यकर्म प्रेमकी शोभा है; उसे अवश्य करना चाहिये। मनमें उत्तरोत्तर प्रभु-पदमें परम अनुराग बढ़ता रहे, फिर जगत्‌का राग अपने-आप ही नष्ट हो जायगा। सूर्यके सामने अन्धकार रह ही नहीं सकता; इसी प्रकार भगवान्‌के अनुरागके सामने भोगासक्ति रहती ही नहीं। अतएव तुम्हें मनमें सर्वथा निश्चिन्त रहकर भगवच्चरणोंमें सदा संलग्न रहना चाहिये। भगवान् आप ही सब चिन्ता करेंगे, उन्हींपर सारा भार है। पर उनको भार लगता ही नहीं, यही उनकी सहज प्रीतिका स्वरूप है। वरं वे अपनेको उलटे प्रेमीका ऋणी मानते हैं।

भगवान् पास ही रहते हैं, दूर जाते ही नहीं

बहुत प्रसन्न रहना चाहिये। प्रभु नित्य-निरन्तर तुम्हारे पास रहते हैं, इसपर दृढ़ विश्वास रखना। मानस नित्य संयोग रहनेपर भी कभी-कभी मनमें अदर्शन हो जाता है, कभी शरीरका संयोग अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन मिले——ऐसी आकांक्षा जगानेपर मनमें बड़ा कष्ट होता है; पर उस समय भी भगवान् पास ही रहते हैं; वे दूर जाते ही नहीं।

भगवान्‌के मंगल-विधानमें प्रसन्न रहना चाहिये

भगवान्‌के मंगल-विधानमें सदा प्रसन्न तथा संतुष्ट रहना चाहिये। यह निश्चय मानना चाहिये कि हमारे परम कल्याणके लिये ही भगवान्‌का विधान हुआ

करता है। अतएव सब परिस्थितियोंमें प्रसन्न रहना चाहिये।

भगवान् सदा तुम्हारे साथ निश्चय ही रहते हैं। तुम चाहे चर्म चक्षुओंसे उन्हें न देख सको, पै सब देखते हैं एवं सदा अनवरत रूपसे तुमपर स्नेह-सुधा उँडेलते रहते हैं। धैर्य रखो और मनमें परम प्रसन्न रहो।

'करी गोपाल'की सब होय !

होगा वही, जो श्रीभगवान्के मङ्गल-विधानके अनुसार होना है। एक पलका भी भरोसा नहीं है। मनुष्य सोचता कुछ और है, हो जाता कुछ और ही—

करी गोपाल की सब होय।
जो अपने पुरुषारथ मानत, अति झूठे है सोय।।
जो-कुछ रच राखी नँदनंदन मेटि सकै ना कोय।।'

संसारमें संयोग-वियोग सब प्रारब्धाधीन है। मनुष्यका सोचा हुआ कुछ नहीं होता। इसलिये भगवान्के मंगल-विधानपर विश्वास करके सदा संतुष्ट रहना चाहिये।

मेरा साग्रह अनुरोध

मेरा तुमसे साग्रह अनुरोध है—पुन दिन-रात भगवान्के पवित्र चिन्तनमें ही अपने जीवनको लगा दो। सबको भूल जाओ। सारी ममता— सारी आसक्ति आकर टिक जाय एकमात्र भगवान्के श्रीचरणोंमें ही; संसारके प्राणी-पदार्थोंसे सदा विरक्ति और उपरति बनी रहे।

एकमात्र भगवच्चरणोंमें ही रम जाइये

संसार वस्तुतः दुःखमय तथा अनित्य है। यहाँ जो सुखकी खोज है, वही दुःखोंकी प्राप्तिमें प्रधान कारण है; क्योंकि यह खोज सदा-सर्वदा निराशा तथा असफलता ही प्रदान करती है। जैसे बालूमें केवल भ्रमसे जलकी लहरें दीखती हैं, वहाँ जलकी बूँद भी नहीं होती, वैसे ही संसारमें भ्रमसे सुखकी आशा होती है, असलमें यहाँ सुख-लेश भी नहीं है। तथापि हम बारबार संसारमें ही सुख खोजते हैं; इसीमें जीवन बिता देते हैं। रात-दिन इसीके लिये चिन्ता-चेष्टा करते हैं- यही हमारा प्रमाद-मोह है।

शाश्वत सुख-शान्तिके स्रोत तो श्रीभगवान्के चरणारविन्द-युगल हैं। उनमें मन रमनेपर ही सुखके दर्शन होते हैं; अन्यथा कहीं नहीं होते। अतएव हमारा प्रधान कर्तव्य एकमात्र यही है कि हम सब कुछ छोड़कर किसी भी पदार्थसे सुखकी आशा न रखकर, एकमात्र भगवच्चरणोंमें ही रम जायँ।

'लपक पकड़ ले प्रभुका हाथ'

भगवान्की माया बड़ी ही प्रबल है, उससे पार पानेका एकमात्र उपाय

है—प्रभुका हाथ पकड़ लेना। प्रभु हाथ फैलाकर जीवमात्रको नाशसे उबारनेके लिये पुकार रहे हैं। हम उनकी पुकार सुनें। जहाँ हमने प्रभुकी पुकार सुनी और उनका हाथ पकड़ा कि जीवनमें पवित्र भगवदीय सुख, शान्ति, प्रसन्नता छा जायगी।

मायाके प्रवाहमें पड़कर, बहा जा रहा खोकर ज्ञान।
इधर-उधर गोते खाता चलता, होता नाहक हैरान॥
निकल तुरंत प्रवाहसे, मत डर, लपक पकड़ ले प्रभुका हाथ।
रहे पुकार हाथ फैलाये, तुझे बचाने, चलते साथ॥
एक बार तू देख इधर, प्रभुका रक्षक कर वरद, विशाल।
कैसे तुझे निकाल उठानेको है तत्पर, बस, तत्काल॥
ताका जहाँ, उठा, आ बैठेगा तू दिव्य सुखद प्रभु-गोद।
छा जायेगा जीवनमें अनुपम शुचि भगवदीय आमोद॥

नित्य-निरन्तर अपने भगवान‌्के अधीन ही रहो

परमें किसीका भी दोष न देखकर उनके द्वारा जो उपकार, सद्व्यवहार, सौजन्य, स्नेह आदि प्राप्त हुआ है, उसीको कृतज्ञताभरे हृदयसे याद रखना चाहिये; इसीमें लाभ है। मनमें ग्लानि, पराधीनताका दुःख आदि नहीं मानना चाहिये। अपनेको तो नित्य-निरन्तर अपने भगवान‌्के अधीन ही रहना है। वे जैसे, जहाँ रखें, उसीमें ठीक है। हम अपनी स्वतन्त्रता क्यों चाहें? क्यों अपने मनकी कोई बात, जो उनके मनके प्रतिकूल हो, सफल हो। सच्ची बात तो यह है कि भगवान् ही अपने प्रेमीके अधीन हो जाते हैं—तभी तो लोभीके धनकी तरह वे उस प्रेमीको सर्वदा अपने हृदयमें बसाये रहते हैं। प्रेमी कितना ही दूर क्यों न हो, वह उनके हृदयमें रहता है—

'अस सज्जन मम उर बस कैसें।
लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

हमारे ममतास्पद एकमात्र प्यारे भगवान् ही रहें

यह ध्यानमें रखना चाहिये कि शरीरको लेकर संसारके सारे सम्बन्ध मिथ्या, दुःख-परिणामी तथा बन्धनकारक हैं। संसारका सम्बन्ध रहे ही नहीं। व्यवहारमें यथायोग्य बर्ताव नाटकके अभिनेताकी तरह कर लिया जाय, पर आत्मा—आत्माका सम्बन्ध तो केवल परम प्रियतम भगवान‌्से ही रहे; अन्य किसी भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिके साथ कुछ भी आत्म-सम्बन्ध न रहे। संसारसे जो

व्यवहारका सम्बन्ध रहे, वह भी एकमात्र परम प्रेमास्पद प्राणाराम श्रीभगवान्‌के सम्बन्धको लेकर ही—

'नाते नेह राम सों मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।'
'या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति–प्रतीति–सगाई।
सो सब तुलसिदास प्रभु ही सौं होइ सिमिटि इक ठाँई।'

निरन्तर सावधान रहना चाहिये— हमारे 'ममतास्पद' एकमात्र प्यारे भगवान् ही रहें। भगवान्‌में जो अनन्य ममता रहे, वह भी केवल प्रेम–स्वरूप ही, स्वसुखकी वाञ्छा कहीं रहे ही नहीं। लोक–परलोक, नरक–स्वर्ग कुछ भी बाधक न हो इस नित्य सम्बन्धमें। प्रभुसे सहज एकत्व रहे; कभी भिन्नता हो ही नहीं। यह निश्चय हो, यही अनुभव हो। यही अनुभव रहे— –इस शरीरमें रहते भी और शरीरके वियोग होनेपर भी।

यही सोचना–यही निश्चय करना चाहिये

कौन काम, कब, कैसे करिबो, कहाँ, कौनके संग।
सब कछु करैं–करावें वे ही, रचें अनोखे ढंग।।
कठपुतली उनके कर की हौं, निज मन मोहि नचावें।
खेल खिलावें, जो कछु उन मेरे प्रिय के मन आवै।।

फिर मनमें प्रफुल्लता रहेगी। सदा–सर्वदा उनका संग बना रहेगा और उनका प्रिय कार्य ही सदा होगा। अपने लिये कोई चिन्ता होगी ही नहीं।

भगवान् प्रेमीकी कृपा चाहते हैं

तुमने यह ठीक लिखा है— –'जिसपर भगवान्‌की कृपा बरस रही हो, वह अपनेको दीन–हीन–पतित समझकर उस कृपाका दुरुपयोग क्यों करे ? उसे तो निरन्तर कृपा–सिन्धु–रस–सागरमें डूबे रहकर सदा ही गौरवका अनुभव करना चाहिये।' पर भगवान् तो प्रेमीके प्रति कृपा नहीं करते; वे तो स्वयं प्रेमीकी कृपा चाहते हैं, जिससे उनको रस प्राप्त होता रहे। भगवान् सदा ही प्रेमके भूखे हैं। वे प्रेमीके हृदयका अमृतरस पान करनेके लिये सदा लालायित रहते हैं और प्रेमरस मिल जानेपर अपनेको उसका नित्य ऋणी मानते हैं। यह उनका स्वभाव है। आनन्दमयको भी आनन्द देनेवाला प्रेम ही होता है। पर यह भाषामें नहीं आता— –'*जानत प्रिया एकु मनु मोरा।। सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं।।*' भगवान् श्रीरामका यह संदेश प्रेमका आदर्श है।

श्रीराधा–कृष्णका स्वरूप एवं दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका आनन्दस्वरूप या अह्लादिनी शक्ति ही श्रीराधाके रूपमें प्रकट है। श्रीराधाजी स्वरूपतः भगवान् श्रीकृष्णके विशुद्धतम प्रेमकी ही अद्वितीय घनीभूत नित्य स्थिति हैं। अह्लादिनीका सार प्रेम है, प्रेमका सार मादनाख्य महाभाव है और श्रीराधाजी मूर्तिमती मादनाख्य महाभावरूपा हैं। वे प्रत्यक्ष साक्षात् अह्लादिनी शक्ति हैं, पवित्रतम नित्य वर्द्धनशील प्रेमकी आन्तरदरूपा अधिष्ठात्री देवी हैं। कामगन्धहीन, स्वसुखवाञ्छा–वासना–कल्पना–गन्धसे सर्वथा रहित, श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी, श्रीकृष्णसुखजीवना श्रीराधाका एकमात्र कार्य है––त्यागमयी पवित्रतम नित्य सेवाके द्वारा श्रीकृष्णका आनन्दविधान। श्रीराधा पूर्णतमा शक्ति हैं, श्रीकृष्ण परिपूर्णतम शक्तिमान् हैं। शक्ति और शक्तिमान्में भेद तथा अभेद दोनों ही नित्य वर्तमान हैं। अभेदरूपमें तत्त्वतः श्रीराधा और श्रीकृष्ण अनादि, अनन्त, नित्य एक हैं और प्रेमानन्दमयी दिव्य लीलाके रसास्वादनार्थ अनादिकालसे ही नित्य दो स्वरूपोंमें विराजित हैं।

दोउ चकोर, दोउ चंद्रमा, दोउ अलि, पंकज दोउ।
दोउ चातक, दोउ मेघ प्रिय, दोउ मछरी, जल दोउ।।

श्रीराधामाधव दोनों एक दूसरेके लिये चकोर भी हैं और चन्द्रमा भी, भ्रमर भी हैं और कमल भी, पपीहा भी हैं और मेघ भी एवं मछली भी हैं और जल भी।

आस्रय–आलंबन दोउ, विषयालंबन दोउ।
प्रेमी–प्रेमास्पद दोउ, तत्सुख–सुखिया दोउ।।

प्रिया-प्रियतम एक दूसरेके प्रेमी भी हैं और प्रेमास्पद भी। प्रेमीको कहते हैं––'आश्रयालम्बन' और प्रेमास्पदको 'विषयालम्बन'। कहीं श्यामसुन्दर प्रेमी बनते हैं तो राधाकिशोरी प्रेमास्पद हो जाती हैं और जहाँ राधाकिशोरी प्रेमिकाका बाना धारण करती हैं, वहाँ श्यामसुन्दर प्रेमास्पद हो जाते हैं। प्रेमका स्वरूप ही है, प्रेमास्पदके सुखमें सुख मानना। इसीसे प्रेमीको 'तत्सुख–सुखिया' कहते हैं। श्रीराधाकिशोरी और उनके प्राणप्रियतम श्रीकृष्ण दोनों ही तत्सुख–सुखी हैं। श्रीराधाको सुखी देखकर श्यामसुन्दरको सुख होता है और श्यामसुन्दरको सुखी देखकर श्रीराधा सुखी होती हैं।

लीला–आस्वादन–निरत महाभाव–रसराज।
बितरत रस दोउ दुहुन कौं, रचि बिचित्र सुचि साज।।

प्रेमकी अन्तिम परिणतिका नाम है––'महाभाव'। महाभावकी मूर्तिमान्

विग्रह हैं—श्रीराधा। इसी प्रकार रसोंमें सर्वश्रेष्ठ रस है—उज्ज्वल अथवा श्रृंगाररस। इसके मूर्तिमान स्वरूप हैं श्रीकृष्ण। इस प्रकार श्रीराधा और श्रीकृष्णके रूपमें साक्षात् महाभाव—रसराज ही परस्पर लीलारसका आस्वादन करते रहते हैं और नाना प्रकारके नित्य नूतन साज—सज्जा करके एक दूसरेको रसका वितरण किया करते हैं।

सहित बिरोधी धर्म—गुन जुगपत नित्य अनंत।
बचनातीत अचिंत्य अति, सुषमामय श्रीमंत॥

प्रिया—प्रियतम दोनों ही एक ही कालमें परस्पर विरोधी, अनन्त, नित्य, मन—वाणीके अगोचर (वाणीसे जिनका वर्णन नहीं हो सकता और चित्तसे जिनका चिन्तन नहीं हो सकता), अत्यन्त शोभामय एवं दिव्य ऐश्वर्ययुक्त गुणोंसे विभूषित रहते हैं।

श्रीराधा—माधव—चरन बंदौं बारंबार।
एक तत्त्व दो तनु धरें, नित—रस—पारावार॥

ये तत्त्वतः—स्वरूपतः एक होते हुए दो भिन्न स्वरूपोंको धारण किये हुए हैं। नित्य रसके समुद्र उन श्रीराधा—माधवके चरणोंकी मैं बारंबार वन्दना करता हूँ।

विश्वास करो

विश्वास करो—श्रीकृष्ण तुम्हारे अपने हैं और निश्चय ही हैं; वे तुम्हारे ही रहेंगे, तुम उनके रहोगे। वे नित्य सच्चिदानन्दघन हैं। तुम्हारे अन्तरकी प्रत्येक पीडाको वे जानते हैं, अनुभव करते हैं। पाञ्चभौतिक शरीर तो नष्ट होनेवाला ही है। तुम शरीरकी चिन्ता न करके अपने दिव्य भगवद्भावमय देहको देखो; उसमें उस दिव्य राज्यमें भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं; उनसे कभी बिछोह सम्भव ही नहीं है।

भगवानकी बड़ी कृपा है अनन्त, असीम कृपा है हम सभीपर। तुमपर भी श्रीकृष्ण बहुत ही प्रसन्न हैं। तुम समय—समयपर जो निराश, उदास तथा विषादग्रस्त हो जाते हो, यह ठीक नहीं है। श्रीकृष्णकी कृपा तथा परम प्रीतिकी ओर देखकर, उसपर विश्वास करके तुमको नित्य परम प्रसन्न रहना चाहिये। पद—पदपर और पल—पलमें उनकी परम प्रीतिका तथा उनकी नित्य मुस्कानभरी झाँकीका अनुभव करते रहना चाहिये।

मन अपने इष्टदेवके चिन्तनमें ही लगा रहे

वास्तवमें ऐसी दृढ़ इच्छा होनी ही चाहिये कि शरीरसे संसारमें यथायोग्य निर्दोष कर्म होते रहें, परंतु उनके साथ मनका कभी संसारमें प्रवेश न हो। मन तो सदा अपने इष्टदेवके चिन्तनमें ही लगा रहे। कभी भूलकर भी, स्वप्नमें भी दूसरी ओर न जाये। शरीरके द्वारा होनेवाला संसारका, घरका, परिवारका काम भी उन्हींकी सेवाके

रूपमें हो; कहीं कोई ममता, आसक्ति और अहंकारकी कालिमा न रहे।

भगवान्‌की लीलाओंका अपने मनसे (चाहे जैसा ही — जैसा मनमें आवे, वैसा ही) चिन्तन किया करो। चिन्तन करते-करते अनुभूति तथा पीछे दर्शन हो जायँगे, क्योंकि भगवान् सत्य हैं तथा सर्वत्र है। उनकी लीला भी नित्य है।

सेवा

तुम अपनेयोग्य सेवा पूछते हो, सो तुम्हारे योग्य सेवा यही है कि तुम मनसे संसारको सर्वथा सब प्रकारसे निकालकर निरन्तर भगवान्‌को बिना किसी शर्तके हृदयमें बसा लो और उनकी सेवाको ही सर्वस्व मानकर सदा सर्वदा अनवरत उस विशुद्ध सेवामें ही संलग्न रहो—आनन्दपूर्वक निश्चिन्त होकर उसका सम्पादन करो। उस सेवाका फल भी सेवा ही हो।

प्रफुल्ल चित्तसे कर्त्तव्यका सम्पादन करना चाहिये

वैराग्यकी भावनाओंको दबानेकी आवश्यकता नहीं है, किंतु वैराग्यका अर्थ समझ लेना चाहिये। वैराग्य कहते हैं—विषयोंमें अनासक्तिको, न कि कर्तव्य-त्याग को। कर्त्तव्यको प्रबल नहीं मानना चाहिये, भगवत्-सेवा मानकर भगवान्‌की पूजाकी भावनासे प्रसन्नतापूर्वक प्रफुल्ल चित्तसे कर्तव्यका सम्पादन करना चाहिये। माता-पिता तथा परिवारकी सेवाको ही भगवत्पूजा मानकर कर्तव्यका निर्वाह करना चाहिये। रामायणमें भरतजीके सम्बन्धमें आपने यह चौपाई पढ़ी होगी—

तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चंपक बागा।।'

अर्थात् भरतजी राज्यके सारे काम भगवान्‌के लिये करते थे; किसी भी काममें उनकी आसक्ति नहीं थी। गीताके अठारहवें अध्यायका ४६वाँ श्लोक भी हमलोगोंको सदा ध्यानमें रखना चाहिये—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

भगवान् सब जगह हैं और सब कुछ भगवन्मय है। अतः हम कहीं भी रहकर अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा कर सकते हैं और उसके द्वारा सिद्धि भी प्राप्त कर सकते हैं।

प्रेमी भक्तका लक्षण

हम भगवान्‌के हैं, भगवान्‌की हमपर बड़ी प्रीति है; हमारे अयोग्य होनेपर भी भगवान्‌का हमपर अपार एवं अतुल स्नेह है—यह विश्वास और यह अभिमान तो होना ही चाहिये। यह भी एक गुण है। यही तो प्रेमी भक्तका लक्षण है। वह

गुण भगवान्‌में देखता है और दोष सब अपनेमें—

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥

भगवान् दैन्यपर बहुत रीझते हैं

तुम स्वच्छ और पवित्र ही हो। तुम्हें अपनेमें जो दोष दिखाई देते हैं, यह तो तुम्हारा गुण है। भगवान् इस गुणपर—दैन्यपर बहुत रीझते हैं।

यही मेरी सबसे बड़ी सेवा है

दूसरेका थोड़ा-सा दुःख भी न सहा जाय और उसे मिटानेकी स्वाभाविक चेष्टा हो, यह तो बहुत ही उत्तम है। पर उसमें ममता-अहंकार नहीं होने चाहिये; मनपर सुख-दुःखका असर नहीं होना चाहिये। मनके सदा परमानन्दमें नित्य निमग्न रहते हुए ही लीलाकी भाँति स्वाँगके अनुसार प्रभुके प्रीत्यर्थ ही सारे काम यथायोग्य होते रहें, यही नित्य भगवत्पूजन है तथा सदा वाञ्छनीय है। जो कुछ भी किया जाय, सो भगवत्पूजा है और वह भी उन भगवान्‌के इच्छानुसार उनके द्वारा ही करायी जाती है—ऐसा भाव रखना चाहिये। तुम, बस, इसी स्थितिमें सदा रहो, इससे भी ऊँचे उठ जाओ—यही मेरी सबसे बड़ी सेवा तथा मुझे सुख—परम सुख पहुँचानेकी चीज है। तुम मुझे सदा यही देते रहो—बस, यही देते रहो।

भगवान्‌की निजजनपरायणताको समझो, सोचो और अनुभव करो

भगवान्‌को, उनकी सुहृदताको, उनकी प्रीतिको, उनके कभी न त्याग करनेवाले मधुरतम स्वभावको, केवल गुण ही देखकर सदा प्रसन्न रहनेवाली वृत्तिको, उनकी उदारता, सदाशयता, मधुरता, आत्मीयता, वत्सलता, प्रेमपरवशता, स्नेहशीलता, विशालहृदयता, कोमलता आदि सहज गुणोंका सदा स्मरण करके—उनकी अनुभूति करके प्रसन्न तथा आनन्दमग्न रहना चाहिये। भगवान्‌की महत्ता, महानुभावता, मधुरता, निजजनपरायणताको समझो, सोचो और अनुभव करो।

भगवत्कृपासे ही विरह-ताप जागता है

भगवान् जिसपर विशेष कृपाका प्रकाश करते हैं, उसीका चित्त भगवान्‌के लिये व्याकुल तथा व्यथित होता है, उसीके हृदयमें भगवान्‌का विरह-ताप जागता है और पल-पलमें भगवान्‌की मधुर मनोहर स्मृति करवाकर आनन्दमहोदधिमें डुबोये रखता है।

भगवान्‌की चाह सदा पूरी होती रहे

होगा तो वही, जो प्रभुने रच रखा है—'करी गोपालकी सब

होय।' हमारे मनकी बात वे प्रभु सब जानते ही हैं, पर पूरी करते उसीको हैं, जो उनके मन भाती है, और जो उनके मन भावे, वही सदा ठीक है; उनकी चाह सदा पूरी होती रहे।

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कठिन नहीं है

भगवान्‌के प्रेम, भक्ति तथा सबमें भगवान्‌को देखनेकी वृत्तिको दुर्लभ तो क्या कठिन भी नहीं मानना चाहिये। हमारी साधनाएँ वे भले ही बड़े कठिन हों, पर भगवान्‌की कृपा तो सारी कठिनाइयोंको आसान बना देती है।

प्रेमी जनोंके वशमें रहना भगवान्‌को प्रिय है

भगवान् अपने प्रेमी जनको नित्य ही अपने हृदयमें बसाये रखते हैं। इसीमें उनको विलक्षण सुख मिलता है। वे परम सहज स्वतन्त्र भी नित्य परतन्त्र रहना सुखमय समझते हैं। इसीसे वे सदा प्रेमी जनोंके वशमें रहते हैं।

भगवान्‌का बन जानेपर दुःख नहीं रहता

भगवान्‌के प्रति जिसका जीवन समर्पित हो गया है अथवा जो भगवान्‌का—आनन्दमय भगवान्‌का अपना बन गया है, उसको कभी किसी भी अवस्थामें दुःख क्यों होना चाहिये ?

श्रीश्यामसुन्दरमें ही सारा राग रहे

जगत्‌के राग-द्वेषकी बातोंको भूल जाओ! अपनेको उससे क्या मतलब है? केवल एकमात्र श्रीश्यामसुन्दरमें ही सारा राग रहे और श्रीश्यामसुन्दरकी विस्मृतिमें ही द्वेष रहे।

मनन-ध्यानकी भी आवश्यकता है

सत्संगके साथ ही एकान्तमें मनन-ध्यानकी भी तो आवश्यकता है। केवल सुने ही-सुने, सोचे-विचारे नहीं, तो यथार्थ लाभ नहीं होता। एकान्तमें रहकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌की संनिधिका अनुभव करना चाहिये। यह निश्चित समझना चाहिये कि भगवान् सदा तुम्हारे पास रहते हैं; उनका स्वभाव ही ऐसा है।

सदा प्रसन्न—शान्त रहना चाहिये

मनुष्यका स्वभाव सदा उसके साथ रहता है। जब हम दूसरेके मनकी बात पूरी नहीं कर सकते, तब दूसरा हमारी बात स्वीकार कर ले, यह आशा ही हमें क्यों करनी चाहिये ? अतएव परिस्थिति तथा मानवस्वभावकी दुर्बलताको समझकर सदा प्रसन्न—शान्त रहना चाहिये।

शुद्ध दवाका सेवन करनेमें आपत्ति नहीं है

रोगकी अवस्थामें पथ्य और परहेजका पूरा ध्यान रखते हुए विचारपूर्वक

शुद्ध दवाका सेवन करना चाहिये। यह नहीं मानना चाहिये कि अमुक रोगसे मेरी मृत्यु हो जायगी। भीषण रोगोंसे तथा बहुत अधिक निराशापूर्ण स्थितिमें पहुँचे हुए लोगोंको स्वस्थ होकर वर्षों जीवित रहते देखा–सुना गया है; अतएव जीवनसे निराश नहीं होना चाहिये। चित्तमें उत्साह रखना चाहिये, परन्तु साथ ही मृत्युके लिये सर्वदा और सर्वदा तैयार रहना चाहिये, आपको ही नहीं, नीरोग मनुष्योंको भी।

भगवान्‌के दिव्य विग्रहमें वस्त्राभूषणका भी स्थान है

वस्त्र और आभूषणादि अनादि कालसे है। अवश्य ही समय–समयपर उनके रूप बदलते रहते हैं। आभूषणोंमें कई आवश्यक है तथा शारीरिक और मानसिक रक्षा एवं उन्नतिके उद्देश्यसे धारण किये जाते हैं। साथ ही भिन्न–भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न–भिन्न प्रकारके आभूषण उपयोगी सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि विभिन्न आश्रम और वर्णके स्त्री–पुरुषों, बालक, युवा, वृद्ध और सधवा–विधवाके आभूषणोंमें भेद है। वस्त्राभूषण केवल शृंगारके लिये नहीं हैं, उनके उपयोगका बड़ा रहस्य है। हमलोग उस रहस्यको नहीं जानते और शृंगारकी दृष्टिसे ही उनका उपयोग करते हैं। परंतु शृंगारके लिये—दूसरोंको अपना रूप दिखलानेके लिये वस्त्राभूषण धारण करना अत्यन्त हानिकारक है और पापका कारण होता है। वस्त्राभूषणके प्रति अनासक्त होकर, उनके तत्त्वको समझकर यथायोग्य रीतिसे उनका प्रयोग करना ही उचित और आवश्यक भी है। आजकल वस्त्राभूषण धारण करनेका जो भाव है, उसका कारण शृंगार, बाह्य सौन्दर्य, फैशन तथा इन्द्रियोंका दासत्व ही है।

भगवान्‌के दिव्य विग्रहमें वस्त्राभूषण रहना न तो भक्तोंकी कल्पना है और न अनावश्यक है। अतः भगवान्‌के उपासकके लिये यह उचित है कि वह अपने उपास्य देवके ध्यानके अनुसार उनके श्रीविग्रहको वस्त्राभूषणसे सुसज्जित करे। सधवा स्त्रीको उचित है कि वह अपने पतिदेवकी शुद्ध रुचिके अनुसार केवल उनकी प्रसन्नताके लिये घरकी स्थिति देखकर आभूषणादि धारण करे, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। शृंगारकी दृष्टिसे अलंकार आदिका त्याग ही करना उत्तम है।

श्रीराधा–माधवका अलौकिक सहज प्रेम

प्रेममूर्ति श्रीराधाके अलौकिक सहज प्रेमके सम्बन्धमें मैं क्या लिखूँ ? श्रीराधाका मादनाख्य महाभावरूप प्रेम अत्यन्त गौरवमय होनेपर भी मदीयतामय मधुर स्नेहसे आविर्भूत होनेके कारण सर्वथा ऐश्वर्य–गन्ध–शून्य है। वह न तो अपनेमें गौरवकी कल्पना करता है न गौरवकी कामना ही। सर्वोपरि होनेपर भी वह अहंकारादिदोष–लेशसे शून्य है। यह मादनाख्य महाभाव ही राधा प्रेमका एक

विशिष्ट रूप है। श्रीराधाजी इसी भावसे आश्रयनिष्ठ प्रेमके द्वारा प्रियतम श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं। उन्हें उसमें जो महान् सुख मिलता है, वह सुख श्रीकृष्ण 'विषय' रूपसे श्रीराधाके द्वारा सेवा प्राप्त करके जिस प्रेमसुखका अनुभव करते हैं, उससे अनन्तगुना अधिक है। अतएव श्रीकृष्ण चाहते हैं कि 'मैं प्रेमका 'विषय' न होकर 'आश्रय' बनूँ, अर्थात् मैं सेवाके द्वारा प्रेम प्राप्त करनेवाला 'विषय' ही न बनकर सेवा करके प्रेमदान करनेवाला भी बनूँ। मैं आराध्य ही न बनकर, आराधक भी बनूँ।' इसीसे श्रीकृष्ण नित्य श्रीराधाके आराध्य होनेपर भी स्वयं उनके आराधक बन जाते हैं। जहाँ श्रीकृष्ण प्रेमी हैं, वहाँ राधा उनकी प्रेमास्पदा हैं और जहाँ श्रीराधा प्रेमिकाके भावसे आविष्ट हैं, वहाँ श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं। दोनों ही अपनेमें प्रेमका अभाव देखते हैं और अपनेको अत्यन्त दीन और दूसरेका ऋणी अनुभव करते हैं; क्योंकि विशुद्ध प्रेमका यही स्वभाव है।

कभी श्रीकृष्ण श्रीराधाको अपनी प्रेमास्पदा मानकर उन्हें प्रेमकी स्वामिनी और अपनको प्रेमका कंगाल स्वीकार करते हैं और कभी श्रीराधा अपनेको अत्यन्त दीना और श्रीकृष्णको प्रेमके धनीरूपमें स्वीकार करती हैं। दोनोंके पारस्परिक प्रेमोद्गाररूपमें दो पद यहाँ दिये जा रहे हैं, जिनमें प्रेमिगत दैन्य और प्रेमास्पदकी महत्ताका उत्तरोत्तर विकास दर्शनीय है।

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

राधिके! तुम मम जीवन-मूल।
अनुपम अमर प्रान-संजीवनि, नहिं कहुँ कोउ समतूल।।

हे प्यारी राधिके! तुम मेरे जीवनकी मूल हो, मेरे प्राणोंकी अनुपम, अमर संजीवनी हो। तुम्हारे समान दूसरी कोई कहीं नहीं है।

जस सरीरमें निज-निज थानहिं सबही सोभित अंग।
किंतु प्रान बिनु सबहि व्यर्थ, नहिं रहत कतहुँ कोउ रंग।।
तस तुम प्रिये! सबनि के सुख की एकमात्र आधार।
तुम्हरे बिना नहीं जीवन-रस, जासौं सब कौ प्यार।।

जैसे शरीरमें अपनी-अपनी जगह सभी अंग शोभा देते हैं, परंतु प्राणोंके बिना सभी व्यर्थ हैं; किसीमें कहीं कोई शोभा नहीं रह जाती, उसी प्रकार हे प्यारी! सबके सुखकी एकमात्र आधार तुम ही हो। तुम्हारे बिना जीवनमें कोई रस नहीं रह जाता, जिस (जीवन) को सब कोई प्यार करते हैं।

तुम्हरे प्राननि सौं अनुप्रानित, तुम्हरे मन मनवान।
तुम्हरौ प्रेम-सिंधु-सीकर लै करौं सबहि रसदान।।

मेरे प्राण तुम्हारे प्राणोंसे ही संचालित रहते हैं, तुम्हारे मनसे ही मैं मनवान् बना हूँ—तुम्हारे मनसे ही मेरे मनकी सत्ता है। तुम्हारे प्रेमरूपी समुद्रकी एक बूँदको ही लेकर मैं सबको रसदान करता हूँ!

तुम्हरे रस-भंडार पुन्य तें पावत भिच्छुक चून।
तुम सम केवल तुमहि एक हौ, तनिक न मानौ ऊन।।

तुम्हारे पुण्यमय—पवित्र रस-भंडारसे ही सभी भिक्षुक चून—रस कण प्राप्त करते हैं, सबको रस वहींसे मिलता है। तुम्हारे समान तो एकमात्र तुम्हीं हो, इसमें तुम तनिक भी कसर मत समझो!

लोक अति मरजादा, अति संभ्रम-भय-दैन्य-सँकोच।
नहिं कोउ कतहुँ कबहुँ तुम-सी रसस्वामिनि निस्संकोच।।

इस प्रकार मैं तुम्हारे ही रस-भंडारमेंसे रस-दान करता हूँ, परंतु उसमें बड़ी ही मर्यादा, बड़ा संयम, भय, दीनता और संकोच बना रहता है (मुक्तहस्तसे—उदारतापूर्वक नहीं कर सकता)। तुम जैसी संकोच छोड़कर रस बाँटनेवाली उदार रसकी स्वामिनी तो एक तुम ही हो, दूसरी कोई कहीं, कभी नहीं है।

तुम्हरौ स्वत्व अनंत नित्य, सब भाँति पूर्न अधिकार।
कायव्यूह निज रस-वितरन करवावति परम उदार।।

फिर मुझपर तो तुम्हारा नित्य अनन्त स्वत्व है—कभी नहीं हटनेवाला हक है (मैं तो सदा तुम्हारी ही सम्पत्ति हूँ)। अतएव मुझपर सभी प्रकारसे तुम्हारा पूरा अधिकार है।(इसीसे मुझको निमित्त बनाकर) तुम अपनी कायव्यूहरूप—अंगस्वरूपा गोपीजनोंके द्वारा परम उदार होकर खुले हाथों रसका वितरण करवाती हो—रस बँटवाती रहती हो।

तुम्हरी मधुर रहस्यमई मोहनि माया सौं नित्य।
दच्छिन बाम रसास्वादन हित बनतौ रहूँ निमित्त।।

मैं तो यही चाहता हूँ कि तुम्हारी रहस्यमयी, मेरे जीवनको सदा मुग्ध रखनेवाली मीठी मायाके—रसमयी प्रीतिके वशीभूत रहकर मैं तुम्हारे दक्षिण और वाम—दोनों प्रकारके भावोंके रसास्वादनमें निमित्त बनता रहूँ।

श्रीकृष्णका यह प्रेम-निवेदन सुनकर श्रीराधा कहती हैं—

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

हौं तो दासी नित्य तिहारी।
प्राननाथ जीवन-धन मेरे, हौं तुम पै बलिहारी।

प्राणनाथ! मैं तो तुम्हारी नित्य दासी—सदाकी चेरी हूँ। तुम मेरे

प्राणोंके स्वामी तथा जीवन-सर्वस्व हो, मैं तुमपर बलिहारी हूँ- न्यौछावर हूँ।

चाहें तुम अति प्रेम करौ, तन-मन सौं मोहि अपनाऔ।
चाहें द्रोह करौ, त्रासौ, दुख देइ मोहि छिटकाऔ।।

चाहे तुम मुझसे अत्यन्त प्रेम करो, शरीर और मनसे मुझको अंगीकार करो अथवा द्रोह करो, त्रासो, दुःख देकर मुझको छोड़-छिटका दो।

तुम्हरौ सुख ही है मेरौ सुख, आन न कछु सुख जानौं।
जो तुम सुखी होउ मो दुख में, अनुपम सुख हौं मानौं।।

तुम्हारा सुख ही मेरा सुख है, दूसरा कोई सुख मैं रञ्चमात्र भी नहीं जानती। यदि तुम मेरे दुःखमें सुखका अनुभव करो तो (तुमको सुखी देखकर) उस दुःखमें मैं ऐसे महान् सुखका अनुभव करूँ जिसकी कहीं उपमा नहीं।

सुख भोगौं तुम्हरे सुख कारन, और न कछु मन मेरे।
तुमहिं सुखी नित देखन चाहौं निसि-दिन साँझ-सबेरे।।

मैं जो सुख बिलसती हूँ वह भी तुम्हारे सुखके कारण ही; मेरे मनमें दूसरे सुखकी कल्पना ही नहीं। मैं तुमको नित्य --संध्यासे सबेरेतक और सबेरेसे संध्यातक---रात--दिन सुखी देखना चाहती हूँ।

तुमहि सुखी देखन हित हौं निज तन-मन कौं सुख देऊँ।
तुमहि समरपन करि अपने कौं नित तव रुचि कौं सेऊँ।।

तुमको सुखी देखनेके लिये ही मैं अपने शरीर और मनको सुखी रखती हूँ --तुझे सुखी देखकर तुमको सुख होता है, इसी कारण मैं शरीर और मनसे सुखी रहती हूँ। अपने-आपको तुम्हें अर्पण करके मैं सदा तुम्हारी रुचिका ही सेवन करती हूँ।

तुम मोहि 'प्रानेस्वरि', 'हृदयेस्वरि', 'कांता' कहि सुख पावौ।
यातैं हौं स्वीकार करौं सब, जद्यपि मन सकुचावौं।।

तुम मुझको 'प्राणेश्वरी', 'हृदयकी स्वामिनी' 'कान्ता' (प्यारी) कहकर सुख प्राप्त करते हो, इसीसे मैं इन सब सम्बोधनोंको स्वीकार कर लेती हूँ, ग्रहण कर लेती हूँ, यद्यपि इन शब्दोंको सुनकर मुझको मनमें बहुत संकोच होता है-- संकोचके मारे मैं गड़ जाती हूँ।

--इन दोनों पदोंपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये, इनसे श्रीराधा-माधवके प्रेमका कुछ मर्म समझा जा सकता है।

दुःखमें भी उनकी मधुर मुस्कान दिखाई दे

वास्तवमें तुम जगत्के दुःखको दुःख मत मानो। तुमने लिखा कि भगवान्के

सौहार्द एवं कृपाके सहारे जी रहा हूँ।' सो भगवत्कृपाका सहारा तो है ही और वही सर्वोत्तम सुदृढ़ सहारा है। परन्तु भगवत्कृपाका सहारा और भगवान्‌पर विश्वास तो ऐसा होना चाहिये कि दुःखमें, प्रतिकूलतामें भी सुखका और अनुकूलताका अनुभव हो। दुःखके भयानक स्वाँगमें भी उनकी मधुर-मधुर मुसकान दिखाई दे और वह तुम्हारे मनको प्रसन्नतासे भर दे। विरोधी तुम्हारा नाम-निशान मिटाना चाहते हैं, सो बहुत अच्छी बात है। जगत्‌में तो नाम-निशान मिटना ही चाहिये। यहाँका सर्वनाश ही वहाँके मंगलमय जीवनका शुभारम्भ होगा। अवश्य ही, जो तुम्हारे लिये ऐसा चाहते हैं, उनपर भगवान् दया करें, उनके अपराध क्षमा करें।

जो स्थिति है, उसीको भगवान्‌की मंगलमयी कृपा तथा प्रीति समझकर ठीक मानना चाहिये और उसीमें संतुष्ट रहना चाहिये। स्थिति क्यों बदले ? हमारे प्राणनाथ प्रभु हर स्थितिमें हमारे साथ हैं, बस, यह अनुभव होता रहे। फिर हर स्थितिमें आनन्द रहेगा।

अपनेको सदा भगवान्‌का मानो !

अपनेको कभी भी अपना न मानकर सब प्रकारसे सदा ही भगवान्‌का मानना चाहिये। जीवन-मरण, सुख-दुःख, सभी भगवान्‌के केवल खेल हैं—इस प्रकारका निश्चय होनेपर किसी भी अवस्थामें दुःख नहीं होगा और नित्य परम मधुर भगवत्प्रेमका रसास्वादन चलता रहेगा। जितनी ही हम अपने मनसे अपनी बात सोचेंगे, उतनी ही चिन्ता-पीड़ा बढ़ेगी। अपने चिन्तन करनेकी यदि कोई चीज मानी जाय तो वह केवल भगवच्चरणारविन्द ही है। अतएव सदा मनमें बहुत प्रसन्न रहना चाहिये।

प्रियतमकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहें !

संसारमें जन्म-मृत्युका चक्र चलता रहता है। सृजन और संहार ही संसारका स्वरूप है। यह तो खेल है—चलता ही रहेगा, अतएव चिन्ता नहीं करनी चाहिये। किसीके दुःखमें सहानुभूति प्रकट करना तो ठीक है, पर चिन्ता-शोक ठीक नहीं। स्वजन आदिकी बीमारीकी अवस्थामें इलाज, सेवा-व्यवस्थामें जरा भी कमी न रहे, बचानेकी तथा सुख पहुँचानेकी हृदयसे चेष्टा हो; पर यदि शरीर न रहे तो फिर चिन्ता-शोक न करे।

प्रियतमकी ही हाँ-में-हाँ मिला दे। सेवा, इलाज, व्यवस्था भी प्रियतमकी प्रसन्नताके लिये ही हो, ममताको लेकर नहीं। अपनी सारी ममता आसक्तिके विषय तो एकमात्र वे ही प्रियतम श्रीकृष्ण हैं और उनसे कभी वियोग होनेकी सम्भावनाकी भी कल्पना नहीं।

एकमात्र भगवान् ही तुम्हारे हैं

भगवान्‌की स्मृति तथा उनके सांनिध्यकी अनुभूति सदा रहनी चाहिये। तुम

सर्वथा एकमात्र भगवान्‌के हो और एकमात्र भगवान्‌ही पूर्णरूपसे तुम्हारे हैं—यह अटल निश्चय रखना चाहिये तथा इसका अनुभव भी करते रहना चाहिये।

श्रीराधा–माधव–प्रेमोदधिकी दो भाव–ऊर्मियाँ

श्रीराधा–माधव–प्रेमोदधि अनन्त एवं अपरिसीम है। उसमें नित्य–निरन्तर नूतन सौन्दर्य–माधुर्यसे परिपूर्ण भाव–ऊर्मियाँ हिलोरें लेती रहती हैं। श्रीराधा–माधवकी कृपाको प्राप्त करनेकी कामनावाले भक्तोंको चाहिये कि वे उन भाव–ऊर्मियोंका आस्वादन करते रहें। यहाँ दो पद दिये जा रहे हैं; एकमें श्रीकृष्णका श्रीराधाके प्रति प्रेम–निवेदन है और दूसरेमें श्रीराधाका श्रीकृष्णके प्रति। इन पदोंमें प्रेमिका दैन्य और प्रेमास्पदकी महत्ता देखने योग्य है।

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

हे आराध्या राधा ! मेरे मनका तुझमें नित्य निवास।
तेरे ही दर्शन कारण मैं करता हूँ गोकुलमें वास।।

हे आराध्या राधे ! मेरा मन सदा——दिन–रात तुझीमें बसा रहता है। मुझको तेरा दर्शन मिलता रहे, इसी लोभसे मैं गोकुलमें बस रहा हूँ।

तेरा ही रस–तत्त्व जानना, करना उसका आस्वादन।
इसी हेतु दिन–रात घूमता मैं करता वंशीवादन।।

तेरे ही रसके तत्त्वको जानने और उसका आस्वादन करनेके लिये मैं बाँसुरी बजाता रात–दिन, इधर–उधर घूमता फिरता हूँ।

इसी हेतु स्नानको जाता, बैठा रहता यमुना–तीर।
तेरी रूप–माधुरीके दर्शनहित रहता चित्त अधीर।।

इसीके लिये मैं स्नान करनेको यमुनापर जाया करता हूँ और उसके तटपर बैठा रहता हूँ। तेरी रूप–माधुरीका दर्शन करनेके लिये मेरा चित्त अधीर— उतावला रहता है।

इसी हेतु रहता कदम्बतल, करता तेरा ही नित ध्यान।
सदा तरसता चातककी ज्यौं, रूप–स्वातिका करने पान।।

इसी कारण मैं कदम्बके नीचे अवस्थित रहता हूँ और नित्य तेरा ही ध्यान——तेरा ही चिन्तन करता रहता हूँ। तेरी रूपछटा–रूप–स्वातिके जलका पान करनेके लिये मैं पपीहेकी भाँति सदा तरसता रहता हूँ—लालायित रहता हूँ।

तेरी रूप–शील–गुण–माधुरि मधुर नित्य लेती चित चोर।
प्रेमगान करता नित तेरा, रहता उसमें सदा विभोर।।

तेरे रूप, शील–स्वभाव तथा गुणोंकी मोहक मधुरता बरबस मेरे चित्तको

चुरा लेती है। इसीसे मैं नित्य तेरे प्रेमके गीत गाता हुआ सदा उसीमें तन्मय रहता हूँ।

श्रीकृष्णके इस प्रेम-निवेदनको सुनकर श्रीराधा कहती हैं--

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

मेरी इस विनीत विनतीको सुन लो, हे ब्रजराजकुमार।
युग-युग, जन्म-जन्ममें मेरे तुम ही बनो जीवनाधार।।

मेरी इस विनीत प्रार्थनाको, हे ब्रजराजकुमार ! तुम ध्यान देकर सुन लो। युग-युगान्तरमें, जन्म-जन्ममें तुम्हीं मेरे जीवनके आधार बने रहो-- यही मैं चाहती हूँ।

पद-पंकज-परागकी मैं नित अलिनी बनी रहूँ, नन्दलाल !
लिपटी रहूँ सदा तुमसे मैं, कनकलता ज्यों तरुण तमाल।।

तुम्हारे चरण-कमलोंके परागकी, हे नन्दलाल ! मैं नित्य भ्रमरी बनी रहूँ—पद-पंकज-परागकी मैं नित अलिनी बनी रहूँ--उन चरणोंपर मँडराती डोलूँ। इतना ही नहीं, जैसे कोई सोनेकी बेल नवीन तमालके वृक्षसे सदा लिपटी रहे, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे श्रीअंगोंसे सटी रहूँ।

दासी मैं हो चुकी सदाकी, अर्पण कर चरणोंमें प्राण।
प्रेम-दामसे बँध चरणोंमें, प्राण हो गये धन्य महान्।।

तुम्हारे चरणोंपर अपने प्राणोंको न्योछावर करके मैं सदाके लिये तुम्हारी चेरी बन चुकी हूँ। प्रेमकी डोरीसे तुम्हारे चरणोंमें बँधकर मेरे ये प्राण अत्यन्त धन्य हो चुके हैं।

देख लिया, त्रिभुवनमें बिना तुम्हारे और कौन मेरा।
कौन पूछता है 'राधा' कह, किसको राधाने हेरा।।

मैंने परीक्षण करके देख लिया, त्रिलोकीमें तुमको छोड़कर मेरा और कौन है (कोई नहीं है)। 'राधा' नाम लेकर दूसरा कौन मुझको टेरता है और मुझ राधाकी भी दृष्टि और किसकी ओर गयी है ?

इस कुल, उस कुल—दोनों कुल, गोकुलमें मेरा अपना कौन?
अरुण मृदुल पद-कमलोंकी ले शरण अनन्य, गयी हो मौन।।

मेरे नैहरमें और ससुरालमें--दोनों परिवारोंमें, इस गोकुल (ब्रज) में मेरा सगा कौन है? कोई नहीं। एकमात्र तुम्हारे लाल-लाल सुकुमार चरण-कमलोंका आश्रय लेकर मैं मौन हो गयी हूँ।

देखे बिना तुम्हें पलभर भी मुझे नहीं पड़ता है चैन।
तुम ही प्राणनाथ नित मेरे, किसे सुनाऊँ मनके बैन।।

तुमको देखे बिना मुझको एक पल भी चैन--शान्ति नहीं मिलती।

सदाके लिये तुम्हीं मेरे प्राणोंके स्वामी हो, तुमको छोड़कर और किसको अपने मनकी बात सुनाऊँ ?

रूप-शील-गुणहीन समझकर कितना ही दुतकारो तुम।
चरणधूलि मैं चरणोंमें ही लगी रहूँगी, बस, हरदम॥

रूप, शील, स्वभाव तथा गुणोंसे हीन समझकर तुम मुझको कितना ही दुतकारो, मैं तो तुम्हारे चरणोंकी रज हूँ और प्रतिक्षण चरणोंमें ही चिपटी रहूँगी—बस, इतनी बात जानती हूँ।

किसीसे भी आशा न रखें

व्यवहारमें सफलता तभी मिलती है, जब मनुष्य किसीसे आशा रखे नहीं और दूसरोंकी आशाको यथासाध्य पूर्ण करे; अपने मनकी चाहे नहीं और दूसरोंके मनकी निर्दोष बातको स्वीकार कर ले। ऐसा करनेपर बहुत प्रकारके दुःख अपने-आप ही टल जाते हैं।

हम जो दूसरे प्राणी-पदार्थोंसे आशा करते हैं, इसीसे दुःख-पर-दुःख आते रहते हैं। दुःख न कोई देता है, न वह बाहरसे आता है; हमारी प्रतिकूल भावना ही हमें दुःख दिया करती है।

जीवनकी सार्थकता किसमें ?

जीवनका एक-एक क्षण श्रीभगवान्‌की पवित्रतम-मधुरतम स्मृतिमें ही लगाना चाहिये। संसारके भोगोंसे—इन्द्रियोंको सुखी बनानेवाले प्रापञ्चिक पदार्थोंसे चित्तमें विरक्ति तथा उपरति होनी चाहिये। भगवान्‌की नित्य अखण्ड स्मृति रहनी चाहिये। इसीमें जीवनकी सार्थकता है।

प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भगवत्कृपाकी अनुभूति करें

मिथ्या लाञ्छन, अकारण अपमान, व्यर्थ दोषारोपण, दारुण निरादर—इन्हीं सबमें तो जगत्‌की नश्वरता एवं स्वार्थपरताके दर्शन होते हैं और विश्वासकी आँखोंसे प्रत्यक्ष भगवत्कृपाकी अनुभूति होती है। यही तो समय है—भगवान्‌की कृपाके विश्वास और दर्शनका। भगवान् कब, क्यों, क्या करते हैं, करना चाहते हैं, करेंगे—यह हम नहीं जानते; पर इतना निश्चय समझना चाहिये कि उनका प्रत्येक विधान हमारे लिये परिणाममें परम मंगलमय है। दुनिया नाराज हुआ करे, भगवान् यदि नाराज नहीं हैं तो वास्तवमें कोई हानि नहीं है। प्रसन्न रहो; अपमान, व्यर्थ दोषारोपण आदि जो कुछ भी हो रहा है, तुम्हारे वास्तविक कल्याणके लिये ही हो रहा है। घबराओ मत और न विषाद करो। कहनेवालोंकी जो इच्छा हो, वही कह लेने दो। किसीके कहनेसे मनुष्य कदापि दोषी नहीं होता यदि वह

भगवान्‌के सामने निर्दोष है। सोना तपाया जानेपर और भी विशुद्ध होता है। तुम्हें जगत्‌के मोहसे मुक्त करके भगवान् अपनी ओर खींच रहे हैं। तुम मनमें जरा भी चिन्ता न करो और न विषाद ही। जो होता है, उसे देखते रहो। बुरा व्यवहार करनेवालेको दयाका पात्र समझो। वह बेचारा भूला हुआ है, उसे भगवान् क्षमा करें। अपने मनमें उसके प्रति जरा भी उद्वेग न आने दो। भगवान्‌को अपना और अपनेको सर्वथा भगवान्‌की वस्तु समझकर नित्य-निरन्तर हर हालतमें उनकी समीपताजनित सुखका अनुभव करते रहो।

जगत्‌के सुन्दर-असुन्दर—सभी स्वाँगोंमें भगवान्‌के दर्शन करो

तुम्हारे पूजा-पाठको ढोंग या बुरी चीज माना—कहा जाता है, इससे तुमको उद्विग्न नहीं होना चाहिये। श्रीभगवान्‌को, उनकी पूजाको, पाठ-जप आदिको छोड़नेकी कभी कल्पना भी नहीं करनी चाहिये, बल्कि इन्हें और भी लगनके साथ करना चाहिये। भगवान् सबको सुबुद्धि दें। संसारका स्वरूप दिनोंदिन तुम्हारे समक्ष स्पष्ट होता आ रहा है, यह अच्छा है—भगवान्‌की कृपा है। इसे देख-देखकर मनमें जगत्‌से वैराग्य तथा भगवान्‌में अनुराग बढ़ना चाहिये। प्रत्येक परिस्थितिको हमारे लाभके लिये ही भगवान्‌की भेजी हुई समझकर उससे लाभ उठाना चाहिये। मनमें प्रसन्न रहना चाहिये और भूले हुए लोगोंके—आलोचना करनेवालोंके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

अपने लिये सभी भगवान्‌के रूप हैं। सबका हित हो, सबको सुखकी प्राप्ति हो, यही स्वाभाविक भाव है। न तो किसीसे कुछ लेना देना है, न कोई लौकिक सम्बन्ध ही है। जो चाहता हो, उसकी सेवाके लिये सदा तत्पर हैं, नहीं तो किसीसे कोई मतलब नहीं। किसीका भाव बदले या बढ़े—इससे हमें क्या।

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि घरवालोंके द्वारा तुम्हारे प्रति जो ऐसा व्यवहार हुआ है, वह हुआ है तुम्हारे मंगलके लिये ही। निर्दोषपर जो दोषारोपण हुआ करता है, वह निर्दोषको सर्वथा समुज्ज्वल बनानेके लिये ही होता है। श्रीकृष्णपर भी लोगोंने मणि-चोरीका कलंक लगाया था। पर कलंक उसीपर लगता है—किसीके न लगानेपर भी लगा ही हुआ है—जिसने वास्तवमें कलंक लगनेयोग्य कार्य किया है। परन्तु जो सर्वथा निर्दोष है—उसका यदि कोई दोष है तो वह यही है कि उसमें कोई दोष नहीं है—उसमें दोष देखना दोषभरी दृष्टिका ही परिणाम है। जिनकी ऐसी दृष्टि है, उनपर भगवान् दया करें!

तुमपर श्रीकृष्णकी बड़ी ही अनुकम्पा और प्रीति है—यह दृढ़ विश्वास रखना। यह सब खेल है। खेलमें विभिन्न रस होते ही हैं। तुमने सदा ही घरवालोंको

अनुकूल किया, कभी कोई विपरीत कार्य नहीं किया, उनको सुखी करनेकी ही चेष्टा की, सो अब भी ऐसा ही करना चाहिये। अपनी भलाई ही अपना स्वरूप होना चाहिये। अपने स्वभावका त्याग—दूसरोंके स्वभावको देखकर क्यों होना चाहिये? तुमने भलाई की, अब भी भलाई ही कर रहे हो और भलाई ही करते रहो। तुम्हारे अंदर किसीका बुरा करनेकी कल्पना ही क्यों आनी चाहिये? जगत्‌के इन प्रपञ्चोंका, इन अनुकूल-प्रतिकूल भावोंका तुमपर असर ही क्यों हो? तुम तो बस, नित्य उन आनन्दमय रस-सागर प्रभुकी आनन्द-रस-तरंग बने रहो!

जगत्‌का यह सृष्टि-संहार तो चलता ही रहेगा। यहाँ सभी कुछ अनित्य और परिवर्तनशील है। यह ऐसा ही रहेगा। इस खेलको देखो तथा प्रत्येक स्वाँगमें—सुन्दरमें भी और अत्यन्त भयानकमें भी—अपने प्रेमास्पद परम रसमय भगवान्‌के दर्शन करो और उनकी लीलाओंको देख-देखकर प्रफुल्लित होते रहो।

श्रीराधा-माधव-प्रेमोदधिकी दो भाव-ऊर्मियाँ

श्रीराधा और श्रीकृष्ण, दोनों एकरूप हैं। जो श्रीकृष्ण हैं, वही श्रीराधा हैं और जो श्रीराधा हैं, वही श्रीकृष्ण हैं। जैसे दूधमें धवलता है, अग्निमें दाहिका शक्ति है, पृथ्वीमें गन्ध है, उसी प्रकार श्रीराधा कृष्णका अभिन्न सम्बन्ध है। तथापि श्रीराधाजी नित्य-निरन्तर श्रीकृष्णकी आराधना—भावमयी पूजा करती रहती है और श्रीकृष्ण तो उन्हें अपने जीवनकी मूल-निधि ही मानते हैं। श्रीराधा-कृष्णके पारस्परिक प्रेमोद्गारके दो पद यहाँ दिये जा रहे हैं, जिनमें प्रेमिगत दैन्य और प्रेमास्पदकी महत्ता दर्शनीय है।

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

हे प्रियतमे राधिके! तेरी महिमा अनुपम, अकथ, अनन्त।
युग-युगसे गाता मैं अविरत, नहीं कहीं भी पाता अन्त॥

हे प्रियतमे राधिके! तेरी महिमा उपमारहित, अवर्णनीय और अनन्त है। मैं युग-युगान्तरसे बिना विराम लिये उसका गान करता आ रहा हूँ, तब भी उसका कहीं अन्त—ओर-छोर नहीं मिलता।

सुधानन्द बरसाता हियमें तेरा मधुर वचन अनमोल।
बिका सदाके लिये मधुर दृग-कमल, कुटिल भ्रुकुटीके मोल॥

तेरे मधुर अनमोल बोल मेरे हृदयमें आनन्दामृत बरसाया करते हैं। तेरे मधुरकमल-से नेत्र तथा बाँकी भौंहोंके मोल मैं सदाके लिये बिक चुका हूँ।

जपता तेरा नाम मधुर, अनुपम, मुरलीमें नित्य ललाम।
नित अतृप्त नयनोंसे तेरा रूप देखता अति अभिराम॥

अपनी मुरलीमें मैं तेरे उपमारहित, मधुर एवं श्रेष्ठ नामको रात-दिन

रट लगाया करता हूँ और अतृप्त नेत्रोंसे तेरे अत्यन्त मनोहर रूपको नित्य निहारता रहता हूँ।

कहीं न मिला प्रेम शुचि ऐसा, कहीं न पूरी मनकी आश।
एक तुझीको पाया मैंने जिसने किया पूर्ण अभिलाष॥

तेरे-जैसा निर्मल पवित्र प्रेम मुझको कहीं नहीं मिला, कहीं भी मेरे मनकी आशा पूर्ण नहीं हुई। एकमात्र तू ही मुझको ऐसी मिली है जिसने मेरी अभिलाषा पूरी की है।

नित्य तृप्त निष्काम नित्यमें मधुर अतृप्ति, मधुरतम काम।
तेरे दिव्य प्रेमका है यह जादूभरा मधुर परिणाम॥

मैं (अपने ही आनन्दसे) नित्य तृप्त रहनेवाला और सदा निष्काम—कामनाहीन हूँ। ऐसे मुझमें मधुर अपरिमित अतृप्ति और अत्यन्त मधुर अपरिमित कामना जगा देना—यह तेरे अलौकिक प्रेमका ही जादूभरा मधुर फल है।

श्रीकृष्णके प्रेम निवेदन सुनकर श्रीराधा भाव-विह्वल हो जाती हैं, किसी प्रकार अपनेको सँभालकर वे कहती हैं

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

सदा सोचती रहती हूँ मैं, क्या दूँ तुमको, जीवनधन !
जो धन देना तुम्हें चाहती, तुम ही हो वह मेरा धन॥

मेरे जीवनधन ! मैं सदा सोचती रहती हूँ कि तुमको क्या दूँ। जो धन मैं तुमको देना चाहती हूँ, मेरा वह धन तो तुम ही हो।

तुम ही मेरे प्राण-प्रिय हो, प्रियतम ! सदा तुम्हारी मैं।
वस्तु तुम्हारी तुमको देते पल-पल हूँ बलिहारी मैं॥

तुम्हीं मुझको प्राणोंसे प्यारे हो और हे प्रियतम ! मैं सदा तुम्हारी हूँ। तुम्हारी ही वस्तु तुमको देती हुई मैं पल-पल तुमपर बलिहारी—न्योछावर हूँ।

प्यारे ! तुम्हें सुनाऊँ कैसे अपने मनकी सहित विवेक।
अन्योंके अनेक, पर मेरे तो तुम ही हो, प्रियतम ! एक॥

हे प्यारे ! मैं अपने मनकी बात विवेकपूर्वक—होश-हवासमें तुमसे कैसे कहूँ? औरोंके तो अनेक हैं, परन्तु मेरे तो हे प्रियतम ! तुम एक ही हो।

मेरे सभी साधनोंकी, बस, एकमात्र हो तुम ही सिद्धि।
तुम ही प्राणनाथ हो, बस, तुम ही हो मेरी नित्य समृद्धि॥

अधिक क्या कहूँ, मेरे सम्पूर्ण साधनोंकी सिद्धि सफलता एकमात्र तुम्हीं हो। तुम ही मेरे प्राणनाथ हो और तुम्हीं मेरा नित्य ऐश्वर्य—स्थिर सम्पत्ति हो; केवल इतनी ही बात मैं जानती हूँ।

तन–धन–जनका बन्धन टूटा, छूटा भोग–मोक्षका रोग।
धन्य हुई मैं, प्रियतम ! पाकर एक तुम्हारा प्रिय संयोग॥

देह, धन और परिवारका बन्धन टूट गया; भोग और मोक्षका रोग भी मिट गया। एक तुम्हारा प्यारा संयोग– मिलन पाकर, हे प्रियतम ! मैं धन्य–धन्य हो गयी।

भगवान‌के प्रति पूर्ण समर्पण होना चाहिये

जीवनमें सबसे बड़े महत्त्वका कार्य है–भगवान्‌के प्रति पूर्ण समर्पण। जगत्‌की आशामें तो दुःख–ही–दुःख है। मोहके कारण मनुष्य भोगोंमें सुख मानता है, पर वास्तवमें तो उनमें दुःख–ही–दुःख है। हमारे जीवनमें जो अशान्ति, जलन, दुःख, उद्वेग आदि हैं, उनका एकमात्र कारण है––भोगोंमें सुखकी आस्था; नहीं तो यहाँके द्वन्द्वोंमें वस्तुतः क्या हानि–लाभ है ? हमलोग व्यर्थ ही अनुकूल–प्रतिकूलकी कल्पनासे सुखी–दुःखी होते रहते हैं। किसीने यदि हमारी बड़ाई कर दी तो उन शब्दोंसे क्या मिल गया ? इसी प्रकार निन्दाके शब्दोंसे क्या बिगड़ गया ? पर हम मोहवश सुख-दुःख मानते हैं। अपनेको सर्वथा भगवान्‌का मान लेनेपर– उनके प्रति पूर्ण समर्पण हो जानेपर, इन बातोंका कोई भी असर नहीं रह जाता। फिर द्वन्द्वोंमें समता हो जाती है। भगवान्‌में––एकमात्र प्रियतम भगवान्‌में पूर्ण ममता––अनन्य ममता और जगत्‌के सभी स्वरूपोंमें समता––यही एक काम करना है। यदि यह काम हो गया तो फिर कहीं रहो, कैसे भी रहो, सर्वत्र सदा आनन्द–ही–आनन्द है।

समर्पित जीवनपर तुम्हारा अधिकार क्या है ?

तुम अपने शरीरके सम्बन्धमें नाना प्रकारके अनर्गल कुविचार किया करते हो––यह उचित नहीं है। सच बात तो यह है कि तुम्हारे समर्पित जीवनपर तुम्हारा अधिकार ही क्या है? भगवान्‌के मंगल–विधानपर विश्वास करके तथा उनको सदा ही अपना स्वामी समझकर उनके हाथकी पराधीन कठपुतलीकी भाँति सदा नाचना और हर हालतमें प्रसन्न रहना चाहिये। स्वामीकी वस्तु पर दुष्ट भावना करना तो एक प्रकारसे उनके प्रति अपराध है। तुम कभी भूलकर भी ऐसी कल्पना मत किया करो। श्रीहरि तुमपर परम प्रसन्न हैं, तुम्हें उन्होंने अपना लिया है, अपनी निज वस्तुके रूपमें स्वीकार कर लिया है, तुम धन्य तथा सफल–जीवन हो चुके हो––ऐसा अटल विश्वास करके संसारके मोहको हटा देना चाहिये। मोह है ही कहाँ ? वह तो सूर्योदय होते ही अन्धकारके नाश हो जानेकी भाँति नष्ट हो चुका है। केवल स्मृति–मात्र है; उसीको तुम यथार्थ मानकर दुःखी हो जाते हो, जो सर्वथा भूल है। तुम सदा ही उनके हो। उनका परमानन्द–समुद्र सदा ही तुममें लहरा रहा है। तुम उनकी रसमयी, सुधामयी परम

पावन सरिता हो, उनकी लीला-स्थली हो। तुम्हारा जीवन उन्हें पाकर गौरवमय हो चुका है। तुम अपने उस स्वरूपको देखो और आनन्दमय रहकर सर्वत्र आनन्दका वितरण करो। अपने शुद्ध प्रकाशसे सबको प्रकाशित कर दो, अपने विशुद्ध प्रेमसे सबके राग-द्वेषका नाश कर दो। तुम भगवान्‌के हो, भगवान् तुम्हारे हैं -तुम्हारे हैं। तुम उनमें हो, वे तुममें हैं--

तू है उनका, वे हैं तेरे, तू उनमें है, वे हैं तुझमें।
उनकी ही छाया है तू बस, उनका गौरव छाया तुझमें।।

श्रीराधा-माधव-प्रेमोदधिकी दो भाव-ऊर्मियाँ

श्रीराधा-माधव-प्रेमोदधि अनन्त एवं अपरिसीम है; उसमें नूतन सौन्दर्य-माधुर्यसे परिपूर्ण भाव-ऊर्मियाँ नित्य-निरन्तर हिलोरें लेती रहती हैं। कभी श्रीकृष्ण श्रीराधाको अपनी प्रेमास्पदा मानकर उन्हें प्रेमकी स्वामिनी और अपनेको प्रेमका कंगाल स्वीकार करते हैं और कभी श्रीराधा अपनेको अत्यन्त दीना और श्रीकृष्णको प्रेमके धनी रूपमें स्वीकार करती हैं। इन दो पदोंमें दोनोंके पारस्परिक प्रेमोद्गार दर्शनीय हैं--

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

राधे ! हे प्रियतमे ! प्राण-प्रतिमे ! हे मेरी जीवन-मूल।
पलभर भी न कभी रह सकता, प्रिये ! मधुर मैं तुमको भूल।।

राधे ! हे प्रियतमे ! हे मेरे प्राणोंकी पुतली ! हे मेरी जीवन-मूल ! हे प्रिये ! मधुरातिमधुर तुमको बिसराकर मैं किसी क्षण पलमात्र भी नहीं रह सकता हूँ।

श्वास-श्वासमें तेरी स्मृतिका नित्य पवित्र स्रोत बहता।
रोम-रोम अति पुलकित तेरा आलिंगन करता रहता।।

श्वास-श्वासमें तेरी यादका पवित्र झरना बहा करता है। मेरा रोम-रोम अत्यन्त पुलकित होकर नित्य-निरन्तर तेरा आलिंगन करता रहता है।

नेत्र देखते तुझे नित्य ही, सुनते शब्द मधुर यह कान।
नासा अंग-सुगन्ध सूँघती, रसना अधर-सुधा-रस-पान।।

मेरे नेत्र नित्य तुझको ही निरखते रहते हैं और यह कान तेरा ही मधुर-मनोहर बोल सुनते रहते हैं। मेरी नासिका तेरे ही अंगोंसे निकलनेवाली परम मनोहर सुगन्धको सूँघती रहती है और रसना तेरे ही अधरोंके सुधामय रसका पान करती रहती है।

अंग—अंग शुचि पाते नित ही तेरा प्यारा अंग—स्पर्श।
नित्य नवीन प्रेम—रस बढ़ता, नित्य—नवीन हृदयमें हर्ष।।

मेरा एक—एक अंग—अवयव तेरे प्यारे अंगोंका स्पर्श पाकर नित्य पवित्र होता रहता है। तेरे प्रेमका रस नित्य नया बढ़ता रहता है और उसीके साथ—साथ मेरे हृदयमें हर्ष भी नित्य नया बढ़ता रहता है।

श्रीकृष्णके इस प्रेम—निवेदनको सुनकर श्रीराधाजी कहती हैं—

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

मेरे धन—जन—जीवन तुम ही, तुम ही तन—मन, तुम सब धर्म।
तुम ही मेरे सकल सुख—सदन, प्रिय निजजन, प्राणोंके मर्म।।

हे प्राणप्रियतम ! मेरा धन, परिवार तथा जीवन तुम्हीं हो, तुम्हीं मेरा शरीर और मन हो, तुम्हीं मेरे सम्पूर्ण धर्म हो। तुम्हीं मेरे समस्त सुखोंके सुन्दर आलय हो, तुम्हीं प्रिय निज—जन और तुम्हीं प्राणोंके मर्म—आधार हो।

तुम्हीं एक, बस, आवश्यकता; तुम ही एकमात्र हो पूर्ति।
तुम्हीं एक सब काल, सभी विधि, हो उपास्य शुचि सुन्दर मूर्ति।।

अधिक क्या कहूँ, तुम्हीं मेरी एकमात्र आवश्यकता हो और तुम्हीं उसकी एकमात्र पूर्ति हो। तुम्हीं मेरे लिये सब समय और सब प्रकारसे उपासना करनेयोग्य पवित्र और मधुर—मनोहर मूर्ति हो।

तुम ही काम—धाम सब मेरे, एकमात्र तुम लक्ष्य महान।
आठों पहर बसे रहते तुम मम मन—मन्दिरमें भगवान्।।

तुम्हीं मेरे समस्त कार्य और घर हो और तुम्हीं मेरे एकमात्र महान् लक्ष्य हो। आठों पहर तुम मेरे मनरूपी मन्दिरमें भगवान्—इष्टदेवके रूपमें बसे रहते हो।

सभी इन्द्रियोंको तुम शुचितम करते नित्य स्पर्श—सुख—दान।
बाह्याभ्यन्तर नित्य—निरन्तर तुम छेड़े रहते निज तान।।

तुम मेरी समस्त इन्द्रियोंको नित्य पवित्रतम स्पर्श—सुखका दान करते रहते हो। मेरे भीतर और बाहर तुम सदा अविराम अपनी मधुर तान छेड़ा करते हो।

कभी नहीं तुम ओझल होते, कभी नहीं तजते संयोग।
घुले—मिले रहते करवाते—करते निर्मल रस—सम्भोग।।

तुम कभी मेरे नेत्रोंसे अदृश्य नहीं होते, एक पलकभर भी संयोगका त्याग नहीं करते और सदा घुले—मिले रहकर पवित्र रसका सम्भोग करते एवं करवाते रहते हो।

पर इसमें न कभी मतलब कुछ मेरा तुमसे रहता भिन्न।
हुए सभी संकल्प भंग मैं–मेरेके समूल तरु छिन्न॥

परन्तु इसमें मेरा तुमसे भिन्न कभी कुछ दूसरा अभिप्राय नहीं रहता। मेरे समस्त संकल्प भंग हो चुके हैं और अहंकार तथा ममताके वृक्ष जड़से कट गये हैं।

भोक्ता–भोग्य—सभी कुछ तुम हो, तुम ही स्वयं बने हो भोग।
मेरा मन बन सभी तुम्हीं हो अनुभव करते योग–वियोग॥

भोगनेवाले और भोगनेकी वस्तु––सब कुछ तुम्हीं हो और तुम्हीं स्वयं भोगकी क्रिया बने हो और मेरा मन बनकर तुम्हीं संयोग और वियोग––सभीका अनुभव किया करते हो।

भगवान्‌के अनुग्रह, सौहार्द और प्रीतिका अनुभव करो

तुम भगवान्‌के कृपापात्र हो, स्नेहपात्र हो, अपने हो, प्यारे हो। जगत्‌में चाहे तुम दीन, दुःखी, घृणित, अपमानित, उपेक्षित, विषय–पदार्थ–हीन, मलिन––कुछ भी माने जाते हो, कैसे भी दीखते हो; किंतु तुमपर भगवान्‌की आत्मीयता, उनका प्यार किसी अवस्थामें जरा भी कम नहीं होता। सर्वभूतसुहृद भगवान्‌का स्वभाव बदले, तब कहीं उसमें कमीकी शंका हो। नित्य सम एकरस भगवान्‌का सर्वभूतसौहार्द भी नित्य है; क्योंकि वह उनका स्वभाव है। फिर तुम जो अपनेको सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञके सर्वथा और सर्वदा प्रीतिभाजन और प्रिय होनेपर भी दीन–हीन एवं भाग्यहीन मानते हो, इसीसे तुम दीन–दुःखी हो। तुम अपनी इस झूठी मान्यताको छोड़ दो। भगवान्‌के अनुग्रहका, उनके सौहार्दका और उनकी प्रीतिका अनुभव करो तथा उनके कृपाबलको अपनी सम्पत्ति मानकर, उसपर अपना हक समझकर उससे सम्पन्न हो जाओ। जगत्‌के ये सारे दुःख–क्लेश, सारे अभाव–अभियोग, सारे शोक–विषाद तभीतक हैं, जबतक तुम्हें भगवान्‌की कृपाके दर्शन नहीं हुए। जिस क्षण भगवत्कृपाकी झाँकी तुम्हारे हृदयमें आ जायगी, उसी क्षण भगवत्कृपाका परम बल तुम्हारा सारा अभाव मिटा देगा।

सब काम भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही करो

अन्तःकरणको सदा पवित्र बनानेमें लगे रहो। अपने आचरणोंको शुद्ध करो। सबके प्रति प्रेम करो। सबका सत्कार और आदर करो। सबका हित करो। किसीका भी बुरा न चाहो। संसारके क्षणभंगुर भोगोंसे चित्तको हटाकर भगवान्‌में लगाओ। इस बातकी चिन्ता छोड़ दो कि लोग तुम्हें क्या कहते हैं। लोग तो अपने–अपने मनकी कहेंगे। राग–द्वेषका जैसा चश्मा होगा, वैसा ही देखेंगे और कहेंगे। उनकी प्रशंसामें भूलो मत और उनकी निन्दासे घबराकर अपने लक्ष्यसे

हटो मत। सब काम भगवानकी प्रीतिके लिये ही करो और इस बातका सदा ध्यान रखो कि जिस कार्यमें किसी भी प्राणीका अहित है, वह कार्य भगवान्‌की प्रीतिके लिये नहीं हो सकता।

दूसरोंका हित सोचो और करो

प्राणिमात्र सुख चाहते हैं और वास्तविक सुख ही सच्चा सुख है, इसलिये अपना हित चाहनेवालेको चाहिये कि वह जब-जब अपने हितकी बात सोचे-करे, तब-तब यह ध्यान रखे कि इससे दूसरे प्राणियोंका अहित तो होना ही नहीं चाहिये, पर उनका हित अवश्य होना चाहिये; क्योंकि जिस कार्यके परिणाममें दूसरोंका अहित होता है, उससे अपना हित होता ही नहीं और जिससे दूसरोंका परिणाममें हित होगा, उससे अपना हित निश्चय ही होगा। अतएव सुख चाहते हो तो अपने प्रत्येक विचार तथा कर्मके द्वारा दूसरोंका हित सोचो, और करो।

मानव-जीवनकी सबसे बड़ी असफलता

जिसका शरीर दूसरोंके अहितमें, गरीबोंको सतानेमें, लोगोंके दुःख बढ़ानेमें, स्वार्थवश परस्वापहरणमें, मोहपूर्ण इन्द्रिय-सेवनमें, गुरुजनोंके अपमानमें, धर्मके नाशमें, साधु-पीड़ामें, देशकी बुराईमें, विश्वमानव एवं जीवोंके अपकारमें, अधर्मपूर्ण स्वार्थभरे युद्धमें, काम, क्रोध, लोभ, मद, क्रूरता, हिंसा, द्रोह, वैर आदि असद्भावोंके वश होकर असदाचरणमें, असुर-भावापन्न मानव और आसुरी भोगोंकी आराधनामें, विषयचिन्तन--विषयसेवनमें और विषय भोगोंकी अमंगलमयी--परिणामदुःखमयी कामनामें लगकर मृत्युको प्राप्त होता है, वह जीते-जी चिन्ता, दुःख, निराशा, पाप और तन-मनकी यन्त्रणा भोगता है एवं मरनेके बाद अशुभ गति, आसुरी योनि और भीषण नरकादिको प्राप्त होता है। जिन मनुष्योंका जीवन इस प्रकार असत्कार्योंमें व्यतीत होता है, वे मनुष्यके रूपमें पशु, पिशाच या राक्षस हैं। वे ही असुर-मानव हैं और उनके जन्म-जीवनसे जगत्‌की बहुत बड़ी हानि होती है। वे केवल कुत्ते, सूअर, गदहेकी मौत ही नहीं मरते, वरं महान् दुःखोंका भोग करनेकी भूमिका बनाकर साथ ले जाते हैं। यह मानव-जीवनकी सबसे बड़ी असफलता है।

विषयोंसे चित्तको हटानेके साधन

विषयोंमें दुःख देखकर उनसे मनको हटाओ। मनमें निश्चय करो कि विषयोंमें न रमणीयता है न सुख। उनमें दोष और दुःख बुद्धि करो। धन-यौवनके मद, ऐश-आराम, पद-सम्मान, सजावट, शौकीनी, रूप-रंग, पूजा-प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार आदिमें प्रत्यक्ष तापका अनुभव करो, इनसे भय करो, साँप बिच्छू

और प्रेत पिशाचोंसे भी इन्हें भयानक समझो। किसी भी लोभ, लालच या प्रमादसे अथवा दूसरेके हित–रूप भ्रमपूर्ण भावनासे भी इनमें न भूलो। विषय–सुखको शरीर, शौर्य, शान्ति—सबका नाश करनेवाला समझकर उससे चित्तवृत्तिको बार–बार हटाते रहो।

विषयोंसे चित्तको हटानेके लिये प्रेम और नियमपूर्वक सत्संग और भजन करो। सत्संग और भगवान्‌के भजनसे चित्त स्थिर और निर्मल होगा। चित्तरूपी आधार जितना मल–दोषसे रहित और अधिक स्थिर होगा, उसमें परमानन्दरूप भगवान्‌की झाँकी उतनी ही स्पष्ट दीखती जायगी। भगवान्‌की नित्य अनन्त सुखमयी झाँकीके सामने विषयोंका सारा सुख–सौन्दर्य अपने–आप ही नष्ट हो जायगा। फिर भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य विषयोंमें रस घटता जायेगा; वैराग्य क्रमशः अपने–आप चमकेगा और उसके सुप्रकाशमें भगवान्‌की झाँकी और भी स्पष्ट होती जायगी। इस प्रकार वैराग्यसे भगवान्‌का प्रकाश और भगवान्‌के प्रकाशसे वैराग्यकी उज्ज्वलता बढ़ती जायगी। परिणाममें एक परमानन्दमय भगवान्‌का ही सारे हृदयपर अधिकार हो जायगा; दुःख, विषाद और चाञ्चल्य सर्वथा मिट जायँगे। तुम भगवान्‌के परम तत्त्वको पाकर कृतार्थ हो जाओगे। उस परम तत्त्वरूप भगवान्‌की अखण्ड, अनामय और अनन्तानन्दरससुधामयी मुनिमनहारिणी परम मधुर झाँकीका प्रत्यक्ष कर लेनेपर अन्य समस्त रस सूख जायँगे और एकमात्र उसी अनन्त अमृत–रससे समस्त विश्व–ब्रह्माण्ड भर जायगा। फिर कहीं भी अशान्ति और असुखका अस्तित्व नहीं रह जायगा। तुम दिव्य सुखके अनन्त सागरमें निमग्न हो जाओगे, स्वयं आनन्दमय होते हुए ही आनन्दका अनुभव करोगे और एक होते हुए ही अनेकों—अनन्त लीलाओंके दर्शन करोगे। उस समय तुम क्या होओगे, इस बातको कोई बता नहीं सकता, न बता सकेगा।

साधक मान–बड़ाईका दूरसे ही त्याग करता रहे

मनुष्यमें यही एक बड़ी दुर्बलता है कि वह अपनी बड़ाई सुनकर प्रसन्न हो जाता है और अपनी वास्तविक स्थितिको भूलकर अपने सम्बन्धमें लोगोंकी मिथ्या उच्च धारणाको स्वीकार कर लेता है। आप सोचिये तो, यदि किसी कंगालको कोई दूसरा पुरुष या समाजके बहुसंख्यक लोग भी बड़ा धनी मानकर उसकी प्रशंसा करने लगें तो इससे क्या वह धनी हो जाता है? इसी प्रकार हमारे अंदर यदि सद्‌गुण नहीं हैं, हमारे हृदयमें यदि प्रभुके प्रति निष्काम प्रेम नहीं है, हमारे पास यदि भगवान्‌के भजनका परम धन नहीं है और लोग हमें सद्‌गुणसम्पन्न, प्रेमी और भजनानन्दी मानते हैं तो इससे हमें क्या मिल गया और हमारा क्या

उपकार हो गया? यदि इसको हम स्वीकार कर लेते हैं तो अपनेको धोखेमें डालनेके अतिरिक्त और क्या करते हैं! इस झूठी बड़ाई तथा मिथ्या सम्मानके बोझको उठाकर हम सिवा अधिक बोझिल होनेके और कुछ भी तो नहीं पा सकेंगे।

बड़ाई तथा सम्मान यदि सच्चे गुणोंको लेकर भी हों तो भी साधकके लिये उन्हें स्वीकार करना परम हानिकर है। जहाँ मान-बड़ाईमें मिठास आया (और वह आता ही है), वहीं हमारी क्रियामेंसे वास्तविकता निकल जायगी और हम वही काम करने लगेंगे, जिसमें हमें लोगोंके द्वारा सम्मान मिले एवं लोग हमारी प्रशंसा करें। तात्पर्य यह कि फिर हमारे कार्य सत्यकी सेवा—प्रभुकी भक्तिके लिये न होकर केवल लोकरञ्जनके लिये होने लगेंगे, फिर वे चाहे अकार्य या अधर्म ही क्यों न हों और उनसे परिणाममें हमारा परम अकल्याण ही क्यों न होता हो। इसलिये साधकको चाहिये कि वह सदा सचेत रहे और मान-बड़ाईका दूरसे ही त्याग करता रहे, उन्हें पास भी न फटकने दे। साधकका आचरण विषयी पुरुषसे सर्वथा प्रतिकूल होना चाहिये, तभी उसे साधनामें सिद्धि मिलती है और तभी वह सिद्धावस्थाके समत्वमें स्थित होता है। विषयी मान-बड़ाईका भूखा रहता है और इन्हें पानेके लिये कोई भी अकार्य करनेको तैयार रहता है। पर साधक मान-बड़ाईको विषवत् मानकर उनका त्याग करता है तथा अपमानके योग्य किसी भी निन्दनीय कार्यको न करता हुआ भी अपमान और निन्दाको अपने लिये शुभ समझता है एवं बड़ी प्रसन्नतासे इनका वरण करता है। वही जब सिद्धावस्थामें पहुँच जाता है, तब उसके लिये मानापमान और निन्दा-स्तुति समान हो जाते हैं। अपने प्रिय भक्तोंका लक्षण बतलाते हुए भगवान् उन्हें मानापमानको तथा निन्दा-स्तुतिको समान माननेवाले बतलाते हैं—

'मानापमानयोस्तुल्यः' (गीता १४। २५)

'तुल्यनिन्दास्तुतिः' (गीता १२। १९)

सेवकमें सात गुण होने चाहिये

सेवकमें जब ये सात बातें होती हैं, तब सेवा सर्वांगसुन्दर तथा परम कल्याणकारिणी होती है—१-विश्वास, २-पवित्रता, ३-गौरव, ४-संयम, ५-शुश्रूषा, ६-प्रेम और ७-मधुर भाषण।

इसका भाव यह है कि (१) सेवकको अपने सेवा-कार्यमें विश्वास होना चाहिये। विश्वास हुए बिना जो सेवा होगी, वह ऊपर-ऊपरसे होगी—दिखावामात्र

होगी। (२) सेवकके हृदयमें विशुद्ध सेवाका पवित्र भाव होना चाहिये। यदि वह किसी बुरी वासना-कामनाको मनमें रखकर सेवा करेगा (जैसे इनको सेवासे संतुष्ट करके इनके द्वारा अमुक शत्रुको मरवाना है, आदि) तो सेवा अपवित्र हो जायगी और उसका फल अधःपतन होगा। (३) जिसकी सेवाकी जाय, उसमें आदर-बुद्धि, पूज्य-बुद्धि होनी चाहिये। अपनेसे नीचा मानकर या केवल दयाका पात्र समझकर अहंकारपूर्ण हृदयसे जो सेवा होगी, उसमें सेव्यका असम्मान, अपमान और तिरस्कार होने लगेगा, जिससे उसके मनमें सेवकके प्रति सद्भाव नहीं रहेगा और ऐसी सेवाको वह अपने लिये दुःखकी वस्तु मानेगा। अतः सेवाका महत्त्व ही नष्ट हो जायगा। इसलिये कहा गया है कि जिसकी सेवा की जाय, उसे भगवान् मानकर सेवा करे। (४) सेवककी इन्द्रियाँ संयमित होनी चाहिये। मन-इन्द्रियोंका गुलाम सच्ची सेवा कभी न कर सकेगा। जिसके मनमें बार-बार विषय-सेवनकी प्रबल लालसा होगी, वह सेवा क्या करेगा? (५) सेवकको सेवा-परायण होना पड़ेगा। जो मनुष्य किसी सेवाको नीची मानकर उसे करनेमें हिचकेगा, वह सेवा कैसे करेगा। (६) सेवकमें सेव्य तथा सेवाके प्रति प्रेम होना चाहिये। प्रेम होनेपर कोई भी सेवा भारी न लगेगी तथा सेवा करते समय आनन्दकी अनुभूति होगी, जिससे नया-नया उत्साह मिलेगा। और (७) साथ ही सेवकको मधुरभाषी होना चाहिये। कटुभाषी सेवककी सेवा मनोहत करती है और मृदुभाषीकी बड़ी प्रिय लगती है। मधुर एवं मृदु भाषण स्वयं ही एक सेवा है।

भक्तका जीवन संसारका सर्वोच्च आदर्श होता है

आजकल कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा हो गयी है कि भक्तिका साधन अत्यन्त सहज है, पाप-ताप, दुराचार-अनाचारमें फँसे रहते हुए भी हम पूर्ण भक्त बन सकते हैं। इसीसे आज भारतमें भक्तोंकी भरमार है। लोग काम, क्रोध, लोभ या दम्भवश भगवान्के दो-चार नाम लेकर या भक्तोंकी-सी पोशाक पहनकर अपनेको भक्त प्रसिद्ध कर देते हैं। यह नहीं सोचते कि भक्तको अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है, विषकी घूँटको प्रसाद समझकर आदरपूर्वक पी जाना पड़ता है तथा सारे भोग-विलास और धन-जनकी आसक्ति छोड़कर प्रभुके प्रति सर्वात्मरूपसे आत्म-समर्पण करना पड़ता है। ज्ञानसे भगवत्-स्वरूपको समझकर स्वकर्मके द्वारा भगवान्की शुद्ध उपासना करनेसे ही भक्ति सिद्ध होती है। भक्त तो भगवान्का निज-जन होता है। उसके योग-क्षेमका, उसके रक्षणावेक्षणका सारा भार भगवान् उठा लेते हैं, अतएव भक्त सब प्रकारके पाप-तापसे मुक्त हो जाता है। वह संसारका सर्वोच्च आदर्श होता है; क्योंकि उसके अंदर भगवान्के दिव्य

गुणोंका विकास हुआ करता है। ऐसा भक्त ही भगवान्‌को प्यारा होता है और ऐसे ही भक्तका उद्धार करनेके लिये भगवान् जिम्मेवारी लेते हैं। भक्त तो अपना हृदय, मन-बुद्धि, शरीर-परिवार, धन-ऐश्वर्य—सब कुछ भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर निश्चिन्त हो जाता है। वह सारे संसारमें अपने स्वामीको व्यापा देखता है, इसीलिये वह अखिल विश्वके सकल चराचर जीवोंके साथ प्रेम करता है और उनकी सेवा करनेके लिये पागल हुआ-सा घूमता है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।।

ऐसे अनन्य भक्तका जीवन प्रभुमय होता है, उसके समस्त कार्य प्रभुके कार्य होते हैं, वह प्रभुके ही परायण होता है, एकमात्र प्रभुका ही भजन करता है, संसारकी किसी वस्तुमें आसक्त नहीं होता और सर्वभूतोंके प्रति, अपने साथ वैर रखनेवालोंके प्रति भी निर्वैर रहता है। वह पहचानता है केवल अपने एक प्रभुको और संसारमें सर्वथा एवं सर्वदा केवल उसीकी लीलाका विस्तार देखता है। जीवन-मरण दोनों ही उसके लिये समान सुखप्रद होते हैं।

'जीवन-मरण चरणके चाकर, चिन्तारहित चित्त है नित्य।'

मनुष्यका सबसे पहला और प्रधान कर्तव्य

तुम मानव-योनिमें आये हो मायाके बन्धनसे छूटकर भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, देवत्वमें ओत-प्रोत होकर परम देव पुरुषोत्तमका पावन प्रेम और नित्य अपरोक्ष सांनिध्य प्राप्त करनेके लिये; किंतु इसके बदले यदि तुम काम-क्रोधादि शत्रुओंके—लुटेरोंके वशमें होकर मानव-जीवनके इस महान् उद्देश्यको भूल गये— विषय-सेवनमें लग गये और आसक्तिवश नये-नये पाप कमाने लगे तो देवत्व तो दूर रहा, मिला हुआ मानवत्व भी छिन जायगा और फिर तुम्हें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही नहीं, उससे भी अधम गतियोंमें जाना पड़ेगा। क्या मानव-जीवनका यह जघन्य फल तुम्हें स्वीकार है ? यदि नहीं, तो चेतो, सावधान हो जाओ और अपने उद्देश्यकी पूर्तिमें प्राणपणसे लग जाओ। समय बहुत थोड़ा है, प्रलोभन बहुत हैं और संसारमें फँसाये रखनेवालोंका तथा जीवनके उद्देश्यको भुलाये रखनेवाली प्रतिकूल परिस्थितियोंका पार नहीं है। जगत्‌की सारी परिस्थितियोंकी समाप्तिके बाद तुम उद्देश्य-साधनमें लगोगे —इस दुर्विचारको छोड़ दो। तुम जहाँ और जिस परिस्थितिमें हो, वहींसे अपने उद्देश्यकी पूर्तिमें लग जाओ। परिस्थिति अपने-आप बदल जायगी। तुम यह निश्चय कर लो कि तुम्हारा सबसे पहला और प्रधान कर्तव्य एकमात्र यही है।

भगवान्में ममता और जगत्में समता कीजिये

धर्मराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रश्नके उत्तरमें कहा था-- संसारमें प्रतिदिन प्राणी परलोककी यात्रा कर रहे हैं, किंतु जो शेष बचे हैं, वे सर्वदा जीवित रहनेकी इच्छा करते हैं। भला, इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो सकता है ?--

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(महा० वन० ३१३। ११६)

मोहवश हमलोगोंकी भी आस्था भोगोंमें ही हो रही है। दूसरोंको समझाने-सिखानेमें तो हम कुछ भी उठा नहीं रखते, परंतु स्वयं ऐसे व्यामोहमें फँसे हुए हैं कि भोगोंसे सुखकी आस्था जरा-सी भी नहीं हटती। देखते हैं, भोग दुःखमय हैं, अपने जीवनमें भी बार-बार इसका अनुभव होता है, तथापि उसी मार्गसे जीवन चला जा रहा है। अतएव क्या कहा जाय ? मृत्युको निकट समझकर हो सके तो निरन्तर भगवान्में चित्त लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। दूसरे क्या करते हैं और क्या कहते हैं, इसकी ओर देखनेकी आवश्यकता नहीं। भोगोंका बहुत अभाव हो या प्रचुर संग्रह, इससे वास्तवमें हमारे आत्मजीवनका कोई सम्बन्ध नहीं है। राजा, रंक, फकीर—सभी मृत्युके ग्रास बनते हैं और ममताकी सारी वस्तुएँ यहीं रह जाती हैं। हो सके तो भगवान्में अनन्य ममता कीजिये। तुलसीदासजी महाराजने एक ही दोहेमें बड़ा सुन्दर उपदेश दे दिया है—

तुलसी ममता राम सौं समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भए भव पार॥

(दोहावली ९४)

भगवान् श्रीरामके चरणोंमें अनन्य ममता हो और जगत्के समस्त द्वन्द्वोंमें समता हो तो राग-द्वेष रहेगा नहीं। राग-द्वेषके अभावमें पाप बनेगा नहीं। पापके अभावमें दुःख नहीं रहेगा और मनुष्य सहज ही भवसागरसे पार हो जायगा॥

मंगलमय प्रभुका प्रत्येक विधान मंगलमय है

जगत्में जीवोंके लिये फलरूपसे जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह सब सर्वशक्तिमान्, जीवोंके परम सुहृद भगवान्के नियन्त्रणमें और उनके विधानसे होता है। मंगलमय प्रभुका प्रत्येक विधान ही मंगलमय है। देखनेमें वह चाहे कितना ही भयंकर क्यों न हो, पर वास्तवमें वह कल्याणमय ही है। निपुण डाक्टर वैद्य-व्रण--जहरीले फोड़ेका ऑपरेशन करते हैं। छुरियोंसे अंगको काटते हैं। दर्द भी होता है। पर डाक्टर यह क्रूर कार्य करते हैं रोगीके मंगलके लिये ही तथा रोगी यदि विश्वासी और समझदार है तो वह इस निष्ठुर पीड़ादायक कर्ममें भी

डाक्टरकी दया मानकर प्रसन्न होता है और उसका कृतज्ञ होता है। इसी प्रकार हमारे परम सुहृद मंगलमय भगवान् भी कभी-कभी हमारे मंगलके लिये ऑपरेशन किया करते हैं। इस बातपर हमें विश्वास हो जाये तो फिर दुःख रहेगा ही नहीं। छोटे बच्चेको माँ रगड़-रगड़कर नहलाती है, बच्चा रोता है, पर माँ उसके शरीरका मैल उतारकर उसे स्वच्छ, पवित्र, निर्मल बनाकर नये कपड़े पहनाने और सजानेके लिये ही यह आयोजन करती है। इसी प्रकार भगवान् भी हमें निर्मल और पवित्र बनानेके लिये पापोंका फल--कष्ट भुगताया करते हैं। इसमें भी उनका वात्सल्य और कारुण्य ही भरा रहता है। इस दृष्टिसे यदि हम विश्वासपूर्वक विचार करें तो फिर दुःख नामकी कोई वस्तु नहीं रह जाती और हम प्रत्येक दशामें भगवान्के मंगल-विधानका दर्शन करके भगवान्के मंगलमय करकमलका स्पर्श पाकर आनन्दमुग्ध रह सकते हैं।

दुःखका प्रधान कारण है—दूसरोंसे सुखकी आशा करना

मनुष्यके दुःखका प्रधान कारण है—किसी वस्तु, स्थिति, व्यक्ति, अवस्था आदिसे सुखकी आशा करना। उनमें न कभी सुख है न वे सुख दे सकेंगे। भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें इन सबको 'दुःखालय' बताया है। जो दूसरोंसे सुख उधार लेनेकी आशा करता है, उसे सदा निराश ही होना पड़ता है। स्थायी सुख तो केवल श्रीभगवान्में और शुद्ध आत्मामें है। वह पूर्ण है, अखण्ड है और नित्य हमारे पास है। वह कभी घट नहीं सकता, मिट नहीं सकता अथवा छूट नहीं सकता। इस सुखकी आशा छोड़कर, जो वास्तवमें सुख है ही नहीं--है तो कृत्रिम है और जो है, वह भी सर्वथा अपूर्ण और मिटनेवाला है, उसको चाहना सर्वथा मूर्खता है। उस स्थायी सुखको पानेकी चेष्टा करनी चाहिये, जो कभी घटता या मिटता ही नहीं। वह आत्मसुख या परमात्म-सुख सदा हमारे पास है।

सद्विचारोंके पोषण और प्रचारका प्रयत्न करना चाहिये

१-ईश्वर हैं और वे एक, अनन्त, असीम, अचल, अखण्ड, अज, अविनाशी, नित्य, सत्य, सनातन, सम, विज्ञानानन्दघन, सर्वशक्तिमान्, सर्वोपरि, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वरूप, सर्वतश्चक्षु, सर्वनियन्ता, सच्चिदानन्द और पूर्ण हैं। वे निर्गुण भी हैं सगुण भी, साकार भी हैं, निराकार भी और इन सबसे परे भी हैं। वे अनिर्वचनीय हैं, अचिन्त्य हैं तथापि भक्तवत्सल हैं, हमारे परम सुहृद हैं, सब जीवोंके कल्याणकर्ता हैं, पुकारनेसे ही प्रकट हो जाते हैं और हमें दुःखोंसे छुड़ाकर अनन्त सुखधाममें पहुँचा देते हैं।

२-उन्हींकी शक्ति--प्रकृति उन्हींकी अध्यक्षतामें जगत्की रचना करती

है। उन्हींकी शक्तिसे जगत्‌का भरण-पोषण, नियन्त्रण और संहरण होता है।

३—यह सारा विश्व उन परमात्मासे ही निकला है, उन्हींसे बना है, वे ही इस समस्त चराचरात्मक विश्वमें व्याप्त हैं और यह सभी केवल उन्हींमें स्थित है।

४—आराम, विलासिता, भोग, नाम-यश, स्त्री-पुत्र, राजत्व-नेतृत्व, गुरुत्व-पूज्यत्व आदिकी प्राप्ति इस मानव-जीवनका उद्देश्य कदापि नहीं है।

५—सबको सुख पहुँचाते हुए, सबका मंगल चाहते हुए, सबका कल्याण करते हुए, सबके आराम तथा हितके नित्य साधन बनकर, तन, मन, धन, पदार्थ आदि सभी सामग्रियोंसे सर्वगत परमात्माकी पूजा करके उन्हें प्राप्त करना ही हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य या ध्येय है।

—इन सद्विचारोंके उदय, पोषण, विस्तार और प्रचार करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

भलाईके बीज बोओ

जैसा बीज होता है, वैसा ही फल होता है। भलाईके बीज बोओगे तो भलाई पैदा होगी और वह अनन्तगुनी होकर दूर-दूरतक फैल जायगी। इसलिये यदि किसीमें बुराई प्रकट है और वह तुम्हारे साथ भी बुरा व्यवहार कर रहा है, तो भी तुम उसके साथ भलाईका ही व्यवहार करो। भलाईकी इतनी प्रबल धार हो कि उसमें उसकी बुराईके सभी पौधे समूल बह जायँ। फिर उनके स्थानमें तुम अपनी भलाईके बीज बिखेर दो- -प्रचुर मात्रामें, जो निश्चितरूपसे भलाई-ही-भलाई उत्पन्न कर दें।

यदि लोग बुराईके बदले बुराई करना छोड़ दें तो बुराईकी परम्परा कुछ ही समयमें नष्ट हो जायगी और फिर सभीमें सब ओर भलाई-ही-भलाई भर जायगी; क्योंकि बुराईसे बुराई और भलाईसे भलाई उत्पन्न होती है। इसलिये बुराई करनेवालोंके साथ जी भरकर भलाई करो, निन्दा करनेवालोंमें भी गुणोंको खोजकर उनकी प्रशंसा करो, गाली देनेवालोंको आशीर्वाद दो, मारनेवालोंके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करो और अपने मनको सदा ही सद्भावनासे भरा रखो, जिससे वह किसीकी बुराईके बदलेमें बुराई करनेकी कल्पना भी न कर सके।

सद्भावोंको जाग्रत रखना और बढ़ाना जगत्‌की बड़ी सेवा करना है

अपनेको काम, क्रोध, लोभ, वैर, विरोध, हिंसा, द्वेष, मत्सर, ईर्ष्या, कृपणता, मान, अभिमान, विषाद, शोक, मोह, दम्भ, दोषदर्शन, अशुभचिन्तन, व्यर्थचिन्तन आदि बुरे विचारों और भावोंसे सर्वथा बचाकर इनके बदलेमें प्रेम, सौहार्द, दया, क्षमा, सेवा,

उदारता, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, त्याग, संतोष, शान्ति, आनन्द, प्रफुल्लता, विनय, सरलता, गुणदर्शन, शुभचिन्तन, प्रभुस्मरण आदि श्रेष्ठ विचारों और भावोंको जाग्रत् रखना और बढ़ाना जगत्‌की वस्तुतः बहुत बड़ी सेवा करना है; क्योंकि मनुष्यके विचारोंकी लहरें बाहर जाकर वैसा ही वातावरण बनाती हैं और बहुत दूर–दूरतक पहुँचकर वे प्राणियोंके मन, बुद्धि और क्रियापर न्यूनाधिकरूपमें प्रभाव डालकर उन्हें अपने साँचेमें ढालनेका प्रयत्न करती हैं।

अपने प्रत्येक कर्मसे भगवान्‌की पूजा करो

तुम संसारमें एक महान् कार्य करनेके लिये आये हो, जो अबतक किसी भी योनिमें सम्पन्न नहीं हुआ। वह महान् कार्य है––भगवत्प्राप्ति और तुम उसके पूर्ण अधिकारी हो। पर तुम अपने जीवनके इस परम पवित्र उद्देश्यको भूलकर उन प्राणि–पदार्थोंके पीछे पागल हो रहे हो, जो अन्तमें तुम्हें धोखा देंगे, तुम्हें उन सबको छोड़कर यहाँसे अकेले चला जाना पड़ेगा। फिर सिवा पछतानेके तुम्हारे हाथमें कोई भी उपाय नहीं रह जायगा। याद रखो, भगवत्प्राप्ति ही तुम्हारे जीवनका परम प्राप्य है। इसलिये तुम अपना प्रत्येक कर्म भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करो। निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए अपने प्रत्येक कर्मसे भगवान्‌की पूजा करो। कर्म करो सुचारुरूपसे, कहीं चूको मत। आलस्य या प्रमादके कारण कर्मका स्वरूप मत बिगाड़ो। पर करो केवल भगवान्‌के लिये ही। भोगोंकी आशा–आकांक्षाको मनसे निकाल दो।

विषयोंकी ओर पीठ करके भगवान्‌के सामने मुख कर लो

तुम मनुष्यके रूपमें इस संसारमें इसलिये नहीं भेजे गये हो कि दिन–रात भोग–लिप्सामें लगे रहकर पाप–जीवन बिताओ और पाप–कर्मोंका संचय बढ़ाकर रोते–कलपते मर जाओ। तुम्हें तो मानवरूप दिया गया है भगवान्‌की प्राप्तिके साधनमें लगकर पुण्य–जीवन व्यतीत करते हुए भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, मृत्युको मारकर दिव्य नित्य भागवत–जीवनकी प्राप्तिके लिये––इस बातको याद रखो और अपनी योग्यता तथा रुचिके अनुसार निर्दोष परमार्थ–साधनको अपनाकर इधर–उधर न ताकते हुए चलते रहो और जीवनके नित्य परम साध्य भगवान्‌को प्राप्त करके सफलजीवन बन जाओ।

हिमालयकी तपोभूमिकी ओर जानेवालेको जैसे आगे–से–आगे शीतलता, एकान्त भूमि, त्यागी साधु–महात्मा तथा सुख-शान्ति आदि मिलेंगे, इसके विपरीत गरम देशमें भोगपूर्ण बड़े–बड़े नगरोंकी ओर जानेवालेको उत्तरोत्तर गरमी, भीड़–भाड़, भोगी––विषयी लोग, चोर–ठग–डाकू, अशान्ति, चिन्ता आदिकी प्राप्ति होगी, ठीक

वैसे ही भगवान्‌की ओर जानेवालेको आगे-से-आगे दैवी सम्पत्ति, सत्संगति, विषय-वैराग्य, शान्ति, आत्मानन्द, पवित्र आचार-विचार आदि मिलते रहेंगे और भोगोंकी ओर जानेवालेको आसुरी सम्पदा, कुसंगति, विषयासक्ति, अशान्ति, भोगोंमें आनन्दका भ्रम, दिन-रातकी जलन आदि प्राप्त होंगे। अतएव अपने-आपको इन लक्षणोंके अनुसार देख-भालकर निर्णय कर लो कि तुम किस ओर जा रहे हो और यदि दुःखमय अनित्य भोगोंकी ओर जा रहे हो तो तुम्हारे लिये दुःख तथा पतन निश्चित है, फिर भले ही तुम बुद्धिमान्, ज्ञानवान्, साधु, भक्त, महात्मा, नेता, अधिकारी, ऐश्वर्यवान् और सुखी क्यों न समझे-कहे जाते हो या अपनेको मानते हो। अतः तुरंत विषयोंकी ओर पीठ करके भगवान्‌के सामने मुख कर लो।

अपनेको निर्दोष बनानेका सतत प्रयत्न करना चाहिये

मनुष्यको जहाँतक बने, अपने दोष देखने चाहिये, उनके लिये मन-ही-मन अपनी निन्दा करनी चाहिये तथा अपनेको निर्दोष बनानेका सतत प्रयत्न करना चाहिये। यदि सब लोग ऐसा करने लगें तो सभी निर्दोष हो जायँ और समाजका अपने-आप सुधार हो जाय। व्यक्तियोंका समुदाय ही तो समाज है, समाजका प्रत्येक व्यक्ति निर्दोष हो गया तो समाज स्वयमेव निर्दोष हो गया। परंतु भूल तो यह होती है कि मनुष्य अपनी बुराइयोंकी ओर नहीं देखता, वरं छोटी बुराई भी बहुत बड़ी दीखे——इस प्रकारका चश्मा चढ़ाकर दूसरोंकी बुराइयोंको देखता है। अपने द्वेष-दम्भ और हिंसा-प्रतिहिंसासे भरे हृदयके द्वारा दूसरोंकी बुराइयोंको मिटानेका प्रयत्न करता है। फलतः बुराइयाँ और भी बढ़ जाती हैं——अपनेमें भी तथा दूसरोंमें भी। इससे सभीकी हानि होती है। साधकको तो बड़ी सावधानीसे अपनेको इस दोषसे बचाना चाहिये। दूसरोंके दोष देखनेका उसको न तो अवकाश मिलना चाहिये और न उसके पास ऐसी आँखें ही होनी चाहिये।

तेरे भावैं जो करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठि के अपनो भवन बुहार॥

जिसमें दूसरेका अकल्याण है, उससे हमारा कल्याण कभी नहीं हो सकता

घर-परिवारका पालन, कुल-जातिकी सेवा और स्वदेश-प्रेम——सभी आवश्यक हैं, यथायोग्य सबको इनका आचरण अवश्य करना चाहिये, परंतु ऐसा नहीं होना चाहिये कि अपने घर-परिवारके पालनमें दूसरोंके घर-परिवारकी उपेक्षा, अपने कुल-जातिकी सेवामें दूसरे कुल-जातियोंकी हानि और स्वदेशके

प्रेममें अन्य देशोंके प्रति घृणा हो। सच्चा पालन, सच्ची सेवा और सच्चा प्रेम तभी समझना चाहिये जब अपने हितके साथ दूसरोंका हित मिला हुआ हो। जिस कार्यसे दूसरोंकी उपेक्षा, हानि या विनाश होता है, उससे हमारा हित कभी हो ही नहीं सकता। भगवान् सम्पूर्ण विश्वके समस्त जीवोंके मूल हैं, भगवान् ही सबके आधार हैं, भगवान्‌की सत्तासे ही सबकी सत्ता है, समस्त जीवोंके द्वारा और समस्त जीवोंके जीवनरूपमें भगवान्‌की ही भगवत्ता काम कर रही है। इस बातको याद रखते हुए सबकी सेवाका, सबके हितका और सबकी प्रतिष्ठाका ध्यान रखकर अपने कुटुम्ब, जाति और देशसे प्रेम करना तथा उनकी सेवा करनी चाहिये; तभी प्रेम उज्ज्वल होता है एवं सेवा सार्थक होती है। नहीं तो, जहाँ हम दूसरेके विनाशमें अपना विकास देखते हैं, वहाँ परिणाममें हमारा भी विनाश ही होता है। यह याद रखना चाहिये कि जिसमें दूसरेका अकल्याण है, उससे हमारा कल्याण कभी नहीं हो सकता।

तन—मन—वचन—तीनोंको भगवत्सेवामें ही लगाये रखो

तुम्हारे पास प्रधानतया तीन वस्तुएँ हैं, जिनसे तुम्हारे कार्य चलते हैं——शरीर, मन और वाणी या तन—मन—वचन। इन तीनोंके द्वारा ही अच्छे—बुरे कर्म होते हैं। अतएव इन्हें बुरे कर्मोंसे हटाकर निरन्तर अच्छे कर्मोंमें नियुक्त रखना चाहिये। सबसे अच्छा और एकमात्र परम पावन कर्म है——भगवत्सेवा। अतः इन तीनोंको भगवत्सेवामें ही लगाये रखो। शरीरके द्वारा जो कुछ भी करो, सबमें भगवान्‌के संस्पर्शका अनुभव करते हुए केवल भगवत्सेवाकी ही भावना रखो। भगवत्सेवाके लिये ही जब शरीरसे कर्म होने लगेंगे तब उनके सारे दोष सहज ही नष्ट हो जायँगे और वे परम पावन कर्म बन जायँगे। मनके द्वारा विषय—चिन्तनको सर्वथा छोड़कर भगवच्चिन्तन करो। भगवान्‌की सेवाके लिये ही सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, त्याग, सेवा आदि सद्गुणरूप सद्विचारोंका मनन—चिन्तन करो और विशुद्ध आत्मभाव तथा भगवान्‌के दिव्य स्वरूप, सौन्दर्य, माधुर्य और आदर्श लीला—गुणोंका स्मरण करो एवं वाणीके द्वारा भगवान्‌के ही नाम—गुणगानरूप शब्दोंका उच्चारण करो। वाणीसे न कभी मिथ्या बोलो, न रूखा—कडुआ उच्चारण करो, न किसीकी निन्दा—चुगली करो, न अपनी बड़ाई करो, न व्यर्थकी बात करो, न अनर्थकी बात करो, सदा सत्य बोलो, मधुर तथा हितकर सत्य बोलो और बोलो केवल भगवान्‌की तुष्टिके लिये ही। यों जब तुम्हारे तन—मन—वचन नित्य भगवान्‌से जुड़े रहकर प्रतिक्षण केवल भगवत्सेवाका कार्य ही करते रहेंगे, तब तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा और तुम अपने परम लक्ष्यको प्राप्त करके कृतार्थ हो जाओगे।

मन लगाकर भजन करनेकी चेष्टा कीजिये

भगवान्‌में प्रेम होनेपर उनका नाम इतना प्रिय लगता है कि फिर भुलाये भी नहीं भूलता, छुड़ाये भी नहीं छूटता। भगवान्‌में प्रेम बढ़े, इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये और नाम-जप किसी भी भावसे करते चले जाइये। जब नाममें यथार्थ रुचि हो जायगी—नामको पूरी मिठास मिल जायगी, फिर तो नाम-जप अपने-आप होने लगेगा। फिर संख्याकी आवश्यकता नहीं होगी। संसार-सागरसे पार होनेका उपाय तो भगवान्‌का सहारा ही है। भगवान्‌ने कहा है—'जो मुझमें मन लगाकर मेरा भजन करते हैं, उनको मैं संसार-सागरसे बहुत शीघ्र पार कर देता हूँ।' भगवान् स्वयं पार करनेको तैयार हैं, फिर और क्या चाहिये। आप मन लगाकर भजन करनेकी चेष्टा कीजिये। असल बात तो यह है कि आप पार होनेकी बात भी क्यों सोचते हैं? इस पार रहें या उस पार, यदि भगवान्‌का प्रेमसे भजन होता है तो दोनों ही पार उत्तम और आनन्दमय हैं। नरक-यन्त्रणा भोगते हुए भी यदि भजन हो तो उत्तम है तथा ऊँची-से-ऊँची गतिमें भी यदि भजन छूट जाय तो वह निकृष्ट और दुःखमयी है। इसीसे गोसाईंजीने कहा है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
(मानस २। २०४)

वे हमें इस संसार-सागरमें ही रखें, कोई आपत्ति नहीं, परंतु हृदयमेंसे निकलें नहीं, आँखोंसे कभी ओझल न हों। हमें मुक्तिसे क्या प्रयोजन है। हमें तो प्रयोजन होना चाहिये उनके पाद-पद्मोंसे, उनके प्रेमसे, उनके स्मरणसे, फिर चाहे वे कहीं, किसी भी दशामें कैसे ही रखें।

सदा यही चाहो कि भगवान्‌की इच्छा पूर्ण हो

भगवान्‌की अहैतुकी कृपा, प्रीति, सौहार्द, सर्वज्ञता आदिपर विश्वास करके तुम अपनी स्वतन्त्र इच्छाको छोड़कर भगवान्‌की इच्छापर निर्भर करते हो तो अपना सहज मंगल करते हो। अतएव सदा यही चाहो कि भगवान्‌की इच्छा पूर्ण हो। यह विश्वास रखो—देखनेमें कहीं भयानक या विनाशक होनेपर भी भगवान्‌की इच्छासे होनेवाला परिणाम, तुम्हें मिलनेवाला फल निश्चय ही तुम्हारे लिये परम कल्याणरूप होगा।

अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी फल तुम्हें प्राप्त होता है, वह भगवान्‌के मंगल-विधानसे ही होता है। उसके विपरीत कभी इच्छा न करो, उसमें कभी असंतुष्ट मत होओ; वरं भगवान्‌का मंगल-प्रसाद समझकर उसे सिर चढ़ाओ। भगवान्‌से कभी कोई माँग करनी हो, कुछ चाहना हो तो बस, केवल यही माँगो, यही चाहो कि

'मंगलमय भगवन् ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। तुम्हारी इच्छाके विपरीत मेरी कभी कोई इच्छा हो ही नहीं और कदाचित् कभी कुछ हो भी जाय तो उसे कभी पूरी मत करना।'

अपना तन–मन–धन भगवान्‌के अर्पण करके निश्चिन्त और आनन्दमग्न हो जाओ

अपना तन–मन–धन सब भगवान्‌के अर्पण कर दो। वे तुम्हारे हैं भी नहीं, भगवान्‌के ही हैं। तुम अपना मान बैठे हो —ममता करते हो, इसीसे दुःखी होते हो। ममताको सब जगहसे हटाकर केवल भगवान्‌के चरणोंमें जोड़ दो, अपने माने हुए सब कुछको भगवान्‌के अर्पण कर दो। फिर वे अपनी वस्तुको चाहे जैसे काममें लायें, बनायें या बिगाड़ें; तुम्हें उसमें व्यथा क्यों होने लगी ? भगवान्‌को समर्पण करके तुम तो निश्चिन्त और आनन्दमग्न हो जाओ।

विधान और विधातामें कोई भेद नहीं है। खेल भी वही और खिलाड़ी भी वही। इस परम रहस्यको समझकर हर हालतमें, प्रत्येक अवस्थामें विधानके रूपमें आये हुए विधाताको पहचानकर उन्हें पकड़ लो ! फिर आनन्द–ही–आनन्द है।

साधकको सदा–सर्वदा साधु–व्यवहार करना चाहिये

साधकको व्यवहारमें सदा–सर्वदा साधुता रखनी चाहिये। सब प्रकारके दुःख–कष्टोंको शान्तिपूर्वक सहना, क्रोधका बदला क्षमासे देना, वैरके बदले प्रेम करना, शापके बदले वरदान देना, बुरा करनेवालेके साथ भलाई करना, अपनेको सबसे छोटा समझना, अपनेमें किसी बातके बड़प्पनका अभिमान न करना, किसीका दोष न देखना, किसीसे घृणा न करना, किसीके दोषोंकी समालोचना न करना, पर–स्त्रीमात्रको भगवान्‌का या माताका रूप समझना, आहार–विहारमें संयम रखना, बहुत कम बोलना, अनावश्यक न बोलना, सदा सत्य और मीठे वचन बोलना, यथासाध्य सबकी यथायोग्य सेवा करनेके लिये तैयार रहना, परंतु अपनेमें सेवकपनका अभिमान न रखना, अपनेद्वारा की हुई सेवाको परोपकार न समझकर उसे आवश्यक कर्तव्य समझना, अपनी सेवामें त्रुटियोंको देखना और उन्हें दूर करनेके लिये सचेष्ट रहना, सेवाके लिये किसीपर अहसान न करना, सेवाका कुछ भी बदला न चाहना, दीनताका व्यवहार करना, सबसे नम्र व्यवहार करना, माता–पिता गुरु आदि अपनेसे बड़े लोगोंको सेवासे संतुष्ट रखना, प्रतिष्ठा–मानकी इच्छाका विषके समान त्याग करना, जहाँ प्रतिष्ठा या मान मिलनेकी सम्भावना हो, वहाँसे दूर रहना, अपनी बड़ाई सुननेका अवसर ही न आने देना, दीनोंपर दया करना और उनकी सेवाके निमित्त बड़े–से–बड़े त्यागके लिये अपनेको तैयार रखना, यथासम्भव किसी पंचायतीके प्रपञ्चमें न पड़ना, सभा–समितियोंसे भरसक अलग रहना, परमार्थमें अनुपयोगी

साहित्यको न पढ़ना, विवाह और उत्सव आदि भीड़–भाड़ और अधिक जन समुदायके अवसरोंसे यथासाध्य बचनेका प्रयत्न करना, किसी दूसरेके धर्मकी कभी निन्दा न करना, छल छोड़कर सबसे सरल व्यवहार करना और दम्भाचरणसे बचनेकी सदा चेष्टा रखना आदि साधु–व्यवहार हैं। इनमें जो जितनी उन्नति करेगा, वह उतना ही परमार्थके साधनमें अग्रसर हो सकेगा।

सद्विचार ही पारमार्थिक उन्नतिका प्रधान कारण है

साधकको सदा आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये। जब चित्तमें बुरे और अपवित्र विचारोंका अभाव तथा विषय–चिन्तनमें क्रमशः कमी होने लगे, भगवान्‌में अहैतुकी प्रीति, निष्कामभाव, शान्ति, एकाग्रता, आनन्द, सन्तोष, समता, प्रेम आदि गुणोंका प्रादुर्भाव होने लगे तो समझना चाहिये कि उन्नति हो रही है। जबतक ऐसा न हो, तबतक यही मानना चाहिये कि अभी यथार्थ साधनाके सत्य पथपर चलना आरम्भ नहीं हुआ है। यह याद रखना चाहिये कि असत्–विचार ही पारमार्थिक अवनतिका और सत्–विचार ही पारमार्थिक उन्नतिका प्रधान कारण है। पुराने असत्–विचार नष्ट हों, नये न पैदा हों––इसके लिये सावधानीके साथ असत्–संगका सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये और सत्–विचारोंकी जागृति, उत्पत्ति और वृद्धिके लिये सत्संग, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय, सत्–चर्चा, सदाचारका पालन, सत्–कर्म आदि उपाय करने चाहिये। असत्–विचारों और असत्–कर्मोंके बढ़नेमें प्रधान कारण विषय–चिन्तन ही है। अतएव जहाँतक बन सके, विषय–चिन्तनको चित्तसे हटानेके लिये साधकको भरपूर चेष्टा करनी चाहिये। चित्त जितना ही विषय–चिन्तनरहित होगा और भगवच्चिन्तनमें लगेगा, उतना–उतना ही साधक परमार्थके पावन पथपर अग्रसर होता रहेगा।

वाणीसे किसी बुरे शब्दका उच्चारण नहीं करना चाहिये

जिस प्रकार मनमें कभी बुरे विचार नहीं लाने चाहिये, उसी प्रकार वाणीसे भी किसी बुरे शब्दका उच्चारण नहीं करना चाहिये। अश्लील, असत्य, अहितकर, व्यर्थ, अप्रिय, अपमानजनक, क्रोधपूर्ण, दर्पपूर्ण, नास्तिकताका समर्थन करनेवाली, भय और अभिमानसे भरी वाणी कभी नहीं बोलनी चाहिये। ऐसी वाणीका उच्चारण करनेसे वहाँका वायुमण्डल दूषित होता है। जिसको लक्ष्य करके ऐसी वाणी बोली जाती है, उसपर तो बुरा असर होता ही है; परन्तु जहाँतक वह ध्वनि जाती है, वहाँतकके प्राणियोंके मनोंपर भी यह बहुत बुरा असर डालती है। जैसे शूरताकी वाणीसे मनुष्यमें शूरता आती है, वैसे ही कायरोंकी भयभरी वाणी लोगोंको कायर बना देती है। रणवाद्य और चारणोंकी जोशीली कविताओं

तथा संतोंकी वैराग्यपूर्ण वाणियोंका अद्भुत प्रभाव तो प्रत्यक्ष देखा ही जाता है।

रोगको मारना चाहिये, रोगीको नहीं

मनमें द्वेषकी भावना रखकर जब किसीको दण्ड दिया जाता है, तब जान-अनजानमें यही इच्छा रहती है कि उसको अधिक-से-अधिक कष्ट हो, इसलिये उसे यथासाध्य अधिक-से-अधिक बुरे रूपसे सताया जाता है और उसे महान् कष्ट भोगते देखकर चित्तमें प्रसन्नता होती है। यह हितके लिये दिया जानेवाला दण्ड नहीं है, यह घोर हिंसा है या तीव्र प्रतिहिंसाका कार्य है। हिंसा या प्रतिहिंसासे कभी किसीका हित नहीं होता। हम आज जिसे मारते हैं, वही कल दूसरा शरीर पाकर हमें मारनेको प्रस्तुत होगा। असलमें हमने उसको दोषी माननेमें ही भूल की। वह दोषी नहीं था, दोष था उसके मानस रोगोंका, जिनके वशमें होकर वह बुराई कर रहा था और जिनके वशमें होनेके कारण ही आज हम भी उसके हितके नामपर वही बुराई कर रहे हैं। जैसे शारीरिक रोग होते हैं, वैसे ही मानस रोग भी होते हैं। शरीरके कठिन-से-कठिन रोग तो मरनेके साथ ही मर जाते हैं अर्थात शरीर छूटनेके साथ ही छूट जाते हैं, परंतु काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सरता, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा और वैर आदि मानस रोग तो मरनेपर भी जीवके साथ ही जाते हैं। हमने यदि किसीको दण्ड देनेके नामपर उसमें इन रोगोंको बढ़ाया तो आगे चलकर इस जन्ममें या अगले जन्ममें हमारे और समाजके लिये वह और भी भयानक सिद्ध होगा। इसलिये उसके साथ प्रेमका व्यवहार करके उसके मानस रोगोंको मारनेकी चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा न हो सके तो कम-से-कम उदासीन रहकर मन-ही-मन उससे प्रेम करना चाहिये तथा उसके मानस रोगोंके नाशके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये। रोगको मारना चाहिये, रोगीको नहीं। इसीमें अपना और समाजका मंगल है।

ईश्वरके साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध जोड़ लीजिये

ईश्वरकी अखण्ड सत्ताको हृदयंगम करके उसके साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध जोड़ लीजिये। वास्तवमें ईश्वर और जीवका सम्बन्ध तो नित्य ही जुड़ा हुआ है, किंतु अज्ञानवश हमें उसका अनुभव नहीं हो रहा है। ईश्वर हमारा माता-पिता, भाई-बन्धु, सखा-सुहृद, पति और प्रियतम सब कुछ है। अपनेको जो सम्बन्ध प्रिय लगे, वही सम्बन्ध जोड़ लीजिये। जगत्के लोगोंसे हमने अनेकों सम्बन्ध जोड़ रखे हैं; वे सभी सम्बन्ध अनित्य हैं, क्षणिक हैं, शरीरके साथ ही और पहले भी टूट जानेवाले हैं, किंतु ईश्वर सनातन है, उसका नेह, उसका नाता भी

सनातन है, उसके टूटने और फूटनेका डर नहीं, भय नहीं। ईश्वर आपका है और आप ईश्वरके हैं। जिस तरह रीझे, रिझायें। शास्त्रोंद्वारा उसकी आज्ञाको जान लें। जो ईश्वरको अभीष्ट हो, वही करें, जो उसे प्रिय नहीं, उसे छोड़ दें, सदा उसके अनुकूल चलें, उसीके होकर रहें। यदि ऐसा हुआ तो आपसे अधिक चिन्ता वही आपके लिये करेगा। योगक्षेमका सारा भार अपने ऊपर लेकर वह सदाके लिये आपको निश्चिन्त कर देगा।

भगवत्पूजाके भावसे ही कर्तव्य-कर्म कीजिये

संसारमें जो कुछ है, सब भगवान्‌का रूप और जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्‌की लीला है, परंतु जहाँ-जहाँपर विशेष विभूति और पूज्य सम्बन्ध हो, वहाँ विशेषरूपसे भगवान्‌की भावना करनी चाहिये। माता-पिताको भगवान्‌का ही स्वरूप समझकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये और उनकी आज्ञाओंका पालन कर उन्हें सुख पहुँचाना चाहिये। इन प्रत्यक्ष भगवत्स्वरूपोंकी पूजा करनेसे भगवान् बड़े प्रसन्न होते हैं। भक्त पुण्डरीककी कथा प्रसिद्ध है। साथ ही गृहस्थ-पालनके लिये धर्म और न्याययुक्त आजीविकाके कर्म भी भगवत्पूजाके भावसे करने चाहिये। भगवत्पूजाका भाव रहनेपर प्रत्येक शास्त्रोक्त और वैध कर्म भगवान्‌का भजन बन जाता है।

शान्तिका उपाय है—भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर विश्वास करके उनके अनुकूल आचरण करना

शान्ति कहीं बाहरसे नहीं आती। या तो कामना-स्पृहा, अहंता-ममता, आसक्ति-अभिमानके नष्ट होनेपर शान्ति मिलती है या भगवान्‌के प्रत्येक विधानकी निश्चित मंगलमयतापर विश्वास होनेपर। दोनों ही कार्य हमारे अधीन हैं। बाहरका कोई व्यक्ति हमें कुछ समझा-बता सकता है, पर कामना आदिका त्याग या भगवान्‌के विधानकी मंगलमयतापर विश्वास तो स्वयंको ही करना पड़ेगा। भगवान्‌ने कहा है—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥'

(गीता ५। २९)

भगवान् समस्त प्राणियोंके सुहृद हैं। वे जिसके लिये जो कुछ विधान करते हैं, कल्याणकारी ही करते हैं; क्योंकि सुहृद हैं—यह जान लेनेपर, इसपर विश्वास हो जानेपर शान्ति मिल जाती है। हम भोगोंपर विश्वास करते हैं, इसलिये भोगोंकी चाह करते रहते हैं तथा मिलनेपर अधिक मिलनेकी कामनासे,

न मिलनेपर कामनापर आघात लगनेसे तथा मिली हुई वस्तुके चले जानेपर उसके शोकसे सदा जलते रहते हैं; अशान्त रहते हैं और अशान्त मनुष्यको कभी सुख होता ही नहीं—*'अशान्तस्य कुतः सुखम्'।* (गीता २। ६६) शान्तिका सीधा उपाय है—भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर, उनके सहज सौहार्दपर विश्वास करके जीवनमें उनके अनुकूल आचरण करना।

भगवान्‌की इच्छा ही हमारी इच्छा हो जाय

श्रीभगवान् मंगलमय, आनन्दमय, ऐश्वर्यमय, ज्ञानमय, दयामय, प्रेममय, सौन्दर्यमय, माधुर्यमय और सामर्थ्यमय हैं। वे प्रत्येक प्राणीके स्वाभाविक ही सुहृद् हैं। उनसे माँगना हो तो यही माँगना चाहिये कि 'हे भगवन्! आप जो ठीक समझें, मेरे लिये वही विधान करें। आप जो चाहें सो मुझे दें, मैं चाहूँ सो मत दें। ऐसी शक्ति दें, जिससे मेरे मनमें कोई कामना ही पैदा न हो और यदि हो तथा वह आपकी इच्छाके विरुद्ध हो तो उसे तुरंत नष्ट कर दें। उसे पूरी तो करें ही मत।'

बस, भगवान्‌की जो रुचि है, वही हमारी रुचि हो, भगवान्‌की इच्छा ही हमारी इच्छा हो। हमारे गिरनेपर भगवान् हँसें तो हम भी उस हँसीको देखकर आनन्दमें मतवाले होकर हँस उठें। हमारे गौरव प्राप्त करनेपर यदि भगवान्‌का चेहरा उदास दीखे, उन्हें वह गौरव न रुचे तो हमें भी उसमें नरक-यन्त्रणाका अनुभव हो।

भगवान्‌की रुचिकी अनुकूलताके सिवा और कोई इच्छा न हो, भगवान्‌के चिन्तनको छोड़कर और कोई चिन्ता न हो, समस्त जीवन उन्हींके प्रति निवेदन की हुई एक प्रार्थना हो, हृदयमें केवल उन्हींका सिंहासन रहे, सारे कर्म उन्हींकी सेवाके लिये हों। इस प्रकार सदा सर्वार्पित हुआ रहे। हमपर हमारा अधिकार न हो, भगवान्‌का हो। हमारा 'हम' उनके प्रति अर्पित हो जाय। हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारी इन्द्रियाँ सर्वदा और सर्वथा उन्हींकी वस्तु बन जायँ और उन्हींकी सेवामें लगी रहें।

नित्य-निरन्तर साधनमें लगे रहो

भगवान् एक हैं, परंतु उनतक पहुँचनेके मार्ग अनेक हैं। साध्य—लक्ष्य एक है, परंतु उसे प्राप्त करनेके साधन अनन्त हैं। साध्य एक होनेपर भी साधनोंमें अनेकता अनिवार्य है। जैसे काशी एक है, पर काशी पहुँचनेके पथ विभिन्न हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—सभी दिशाओंके मनुष्य काशीको लक्ष्य बनाकर चलेंगे तो काशी पहुँच जायँगे, परंतु वे चलेंगे अपनी-अपनी दिशासे तथा अपने-अपने मार्गसे ही; मार्गोंके अनुभव भी उनके पृथक्-पृथक् होंगे। कोई यह

चाहे कि पूर्वसे आनेवाला पश्चिमसे आनेवालेके पथसे ही आये तथा उत्तरसे आनेवाला दक्षिणके पथसे ही आये तो जैसे यह चाहना भ्रममूलक है, वैसे ही भगवान्तक—अपने परम लक्ष्यतक पहुँचनेका साधन सबका एक ही हो—यह मानना भी भ्रम है। रुचि, समझ, अन्तःकरणके स्वरूप, त्रिगुणोंकी न्यूनाधिकता, पूर्व-संस्कार, वातावरण आदिके अनुसार ही विभिन्न साधन होंगे। अतः भगवत्प्राप्तिके किसी भी साधनकी न निन्दा करो और न किसीको देखकर ललचाओ। प्रतिक्षण लक्ष्यपर दृष्टि रखकर अपने पथसे चलते रहो। भगवान् ही जीवनके परम साध्य हैं, इसको क्षणभरके लिये भी न भूलते हुए नित्य निरन्तर अपने साधनामें लगे रहो। दूसरे क्या करते है, क्या कहते हैं—इसकी ओर न देखकर निरन्तर अपने मार्गपर असावधानीसे आगे बढ़ते रहो।

साधनको ही साध्य बना लें

जैसे बिना नींवके मकान नहीं बन सकता और यदि बना दिया जाय तो शीघ्र ही ढह जाता है, उसी प्रकार पारमार्थिक क्षेत्रमें साधनके बिना साध्यकी प्राप्ति नहीं होती। 'अष्टांगयोग'में पहले 'यम-नियम' आवश्यक है, 'अद्वैत-ज्ञान'की सिद्धिमें 'साधन-चतुष्टय' आवश्यक है, धर्मके पालनमें मनुमहाराजकथित 'दस मानवधर्म' आवश्यक हैं और भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें 'समर्पणयुक्त भजन' अत्यन्त आवश्यक है। हमलोग यहीं भूल करते है—साध्यकी बात करने लगते हैं, परंतु साधनकी उपेक्षा करते है। चाहिये यह कि हम साधनको ही साध्य बना लें, फिर साध्य अपने-आप उतर आता है।

मानव-योनि कर्मयोनि है, अतः मनुष्य कर्म किये बिना भी नहीं रह सकता। इसलिये उसे उत्तरदायित्वके साथ निरन्तर अच्छे कर्ममें नियुक्त रहना चाहिये। सत्कर्मका परित्याग कर देनेपर मन-इन्द्रियाँ निकम्मी तो रहेंगी नहीं, वे प्रमाद-कर्म करेंगी। इसीलिये तो त्यागी वैष्णव संतोंने प्रतिदिन तीन लाख नाम-जपका नियम बना रखा है, जिससे दूसरी बात सोचनेके लिये, करनेके लिये अवकाश ही न मिले।

साधक छः बातोंको सदा ध्यानमें रखे—

(१) परचर्चा, परनिन्दा, परदोष-दर्शन, परदोष-कथन और परदोष-श्रवण—ये सब करके मनुष्य व्यर्थ ही पाप-संस्कारोंका संग्रह करता है। वह केवल जीवनका अमूल्य समय ही नहीं खोता, उसे अनर्थके सेवनमें लगाता है। अतः इनका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

(२) आलस्य-प्रमादमें समय न खोकर एक-एक क्षण नाम-जप, भगवत्पूजन, स्वाध्याय, सेवा आदिमें नियमित रूपसे जीवनको लगाये रखना चाहिये।

(३) कभी भी यह नहीं सोचना चाहिये कि बिना साधन किये दूसरा कोई हमें भगवान्के धाममें पहुँचा देगा। संत या गुरु मार्ग बताते हैं, चलना अपनेको ही पड़ता है। दूसरा क्या करता है, क्या कहता है—इसकी ओर न देखकर अपने गुरूपदिष्ट मार्गपर सावधानीके साथ चलते रहना ही श्रेयस्कर है।

(४) जहाँतक बने, काम, क्रोध, वैर, हिंसा, द्वेष, द्रोह, अभिमान तथा गर्वको आश्रय नहीं देना चाहिये। दम्भ कभी न करना चाहिये। भगवान्को हम किसी प्रकार भी ठग नहीं सकते। जो भगवान्को ठगना चाहता है, वह आप ही ठगाता है।

(५) मन, वाणी, शरीरसे कभी भी किसी प्रकार भी कुसंगमें न पड़ना चाहिये। जिनसे सांसारिक प्रपञ्चोंमें रुचि बढ़ती हो, इन्द्रिय-संयम घटता हो, त्यागके बदले भोग-भावना बढ़ती हो, आसुरी सम्पत्तिकी ओर वृत्ति जाती हो, भगवान्का भजन कम होता हो और भगवान्की लीला आदिमें रुचि घटती हो, वे सब-के-सब कुसंग हैं; अतः बड़ी सावधानीसे उनका त्याग करना चाहिये।

(६) धारणा-ध्यान-समाधि—ये पीछेकी बातें हैं। सबसे पहले तो भगवान्में हमारी रुचि हो, इसके लिये संसारका भजन कम-से-कम करके भगवान्का भजन अधिक-से-अधिक करना चाहिये और भगवान्को जो प्रिय हैं, इस प्रकारके दैवी आचरणोंका आश्रय लेना चाहिये। जगत्की बातें कहने-सुननेसे अधिक-से-अधिक बचना चाहिये।

इन सब बातोंपर यदि ध्यान रखा जायगा तो आप साधनामें सचमुच अग्रसर होंगे। अपनेको साधक, प्रेमी, भक्त, ज्ञानी, कर्मयोगी, संत आदि मान लेनेसे अथवा किसीके कहनेसे उसे स्वीकार कर लेनेसे ही वास्तवमें हम वैसे नहीं बन जाते। जिसके जीवनमें जो वस्तु मूर्त होती है, वही उसका वास्तविक स्वरूप होता है।

दीन-दुःखी प्राणियोंपर दया करो

दीन, दुःखी, रोगी, असहाय, विपत्तिग्रस्त, अभावमें पड़े हुए और असमर्थ प्राणियोंपर दया करो। निरन्तर इस दया-वृत्तिको बढ़ाते रहो। यह विचार करो कि यदि हम स्वयं इस अवस्थामें होते तो किस प्रकार सहायताकी बाट देखते, ऐसे ही वे भी देखते होंगे। जैसे अपना संकट टालनेके लिये पहलेसे ही सचेष्ट रहते हो, वैसे

ही दूसरोंके दुःखोंको टालनेकी चेष्टा करो। जो मनुष्य दीन-दुःखियोंके साथ सच्ची सहानुभूति रखता है और उनको विपत्तिसे बचानेकी चेष्टा करता है, विपत्तिकालमें उसे भी दूसरे प्राणियोंसे सहज ही सहानुभूति और सहायता मिलती है।

दया और सेवाका भाव अत्यन्त दृढ़ हो जानेपर तथा इच्छाशक्तिमें दया और सेवाका पूरा योग हो जानेपर यहाँतक हो सकता है कि तुम जिसपर दया तथा जिसकी सेवा करना चाहोगे, उसपर भगवान्‌की दया होगी और उसकी आवश्यक सेवा किसी-न-किसी साधनसे अपने-आप हो जायगी। तुम्हारी इच्छामात्र उसका दुःख नाश करनेके लिये पर्याप्त होगी। फिर तुम्हारे संकल्पसे ही जगत्‌के प्राणियोंका दुःख दूर हो सकेगा। तुम अपने स्थानपर बैठे जिस प्राणीके लिये एक बार मनमें ऐसा भाव कर लोगे कि उसकी विपत्ति टल जाय, तुम्हारी सच्ची इच्छाशक्तिके प्रभावसे भगवान् उसकी विपत्तिको टाल देंगे। जब तुम्हारे संकल्पमात्रसे दूसरोंके दुःख टल जायँगे, तब तुम दुःखरहित हो जाओगे—इसमें तो कहना ही क्या है।

दीन-दुःखियोंकी सेवा करनेवाले तो बहुत लोग हैं, परन्तु सबमें उपर्युक्त शक्ति नहीं है। इसका प्रधान कारण यही है कि उनमेंसे अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो केवल दीन-दुःखियोंके विपत्तिनाशका ही शुद्ध मनोरथ नहीं करते। उनके मनमें दीन-दुःखियोंके दुःख-नाशकी आड़में अपने किसी व्यक्तिगत लाभकी वासना भी छिपी रहती है, अधिक नहीं तो मान-बड़ाईकी कामना प्रायः रहती ही है। इसीसे उनका संकल्प भी शुद्ध नहीं होता, अतः उनकी इच्छाशक्तिमें दया और सेवा पूर्णका प्रादुर्भाव नहीं होता।

मान बड़ाईसे चित्त हटाना चाहिये

मान बड़ाईकी बीमारी तो बड़ी दुःसाध्य है। भगवान्‌की कृपासे ही इसका यथार्थ नाश होता है। मान-बड़ाईमें मनुष्य एक प्रकारके सुखका-सा अनुभव करता है। मानसे भी बड़ाईकी कामना अधिक प्रबल होती है। बड़ाईके लिये मनुष्य मानका भी त्याग कर देता है। वस्तुतः मानका ही विशेष विकसित रूप बड़ाई है। मान-बड़ाई किसी अंशमें लाभदायक भी मानी जा सकती है। कारण, बहुत बार मान-बड़ाईके लाभसे ही मनुष्य दान-पुण्य, सेवा-सत्संग, भजन आदि ऐसे सत्कार्य करता है, जो मान-बड़ाईकी इच्छा होनेके कारण उसको मोक्षस्वरूप महान् फल न दे सकनेपर भी अन्तःकरणकी शुद्धिमें सहायक होते हैं; परंतु मान-बड़ाईकी इच्छा दम्भकी उत्पत्तिमें बड़ी सहायक होती है। मान-बड़ाईकी इच्छासे किये जानेवाले कर्मका उद्देश्य ऊँचा नहीं होता। सत्संग भजन आदि भी यदि मान-बड़ाईके उद्देश्यसे होते हैं तो ऐसी अवस्थामें ऐसा

करनेवालेको सत्संग-भजनकी उतनी परवाह नहीं होती, जितनी मान-बड़ाईकी होती है। धीरे-धीरे उसका मन इन सत्कार्योंसे हट जाता है और फिर वह मान-बड़ाईकी चाहसे सत्संग-भजन आदिका दम्भ करता है। यदि भजन-सत्संगादि सत्कार्योंमें मान-बड़ाई मिलनेकी आशा नहीं होती तो फिर वह इनको स्वरूपतः भी त्याग देता है। जिन कार्योंमें मान-बड़ाई मिलती है, वही करने लगता है। अतएव मान-बड़ाईकी इच्छा सन्मार्गमें रुकावट तो है ही, कुसंगवश बुरे लोगोंमें मान-बड़ाई पानेकी इच्छा बड़े-से-बड़े पतनका कारण भी बन जाती है। यही सब सोचकर मान-बड़ाईसे चित्त हटाना चाहिये।

भगवान्‌के समान बहुमूल्य एवं महत्त्वकी वस्तु और कौन-सी होगी !

भगवान्‌की ओर चित्तका प्रवाह कम तथा सांसारिक विषयों एवं प्रलोभनोंकी ओर अधिक है——यह अवश्य ही चिन्ताकी बात है। जिस दिन पूर्णरूपसे यह भाव दृढ़ हो जायगा कि भगवान्‌को भूलनेसे बढ़कर और कोई महती हानि नहीं है, उस दिनसे फिर ऐसी बात नहीं होगी। किसी भी अधिक मूल्यवान् और अधिक महत्त्वकी वस्तुके लिये कम मूल्यकी या कम महत्त्वकी वस्तुका त्याग अनायास हो सकता है। भगवान्‌के समान बहुमूल्य और महत्त्वकी वस्तु और कौन-सी होगी। बुद्धिसे सोचनेपर ऐसा ही प्रतीत भी होता है; परंतु इस तत्त्वपर पूरी श्रद्धा नहीं होती, इसीसे भगवान्‌को छोड़कर विषयोंकी ओर चित्त-वृत्तियोंका प्रवाह होता है। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि वे कृपापूर्वक हमें श्रद्धा और विश्वासका दान करें। श्रीभगवान्‌का महत्त्व यथार्थतः जान लेनेपर अपना सब कुछ देकर भी उन्हें पानेमें उनकी कृपा ही कारण दिखायी देती है। भक्त समझता है और अनुभव करता है कि मैंने जो कुछ दिया, उससे करोड़गुना दिया जाता तो भी थोड़ा था। अथवा उन्हें पानेके लिये जितना दुःख-कष्ट भोगा है, उससे करोड़गुना अधिक भोगा जाता तो भी उनके मिलन-सुखके सामने उसकी कोई कीमत न होती। त्याग या तपकी कीमत देकर कौन भगवान्‌को खरीद सकता है ? उस अमूल्य निधिकी तुलना किसी दूसरे वस्तुसे की ही नहीं जा सकती, फिर क्षुद्र भोगोंका त्याग तो एक तुच्छ-सी बात होगी। भला, विचार तो कीजिये, उनके समान सौन्दर्य, माधुर्य, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, श्री, यश आदि अन्य किसमें हैं। उनके समान प्रलोभनकी वस्तु और कौन-सी है ? जो हम उस दिव्य सुधा-सागरको छोड़कर विषय-विषकी ज्वालासे पूर्ण माया-मधुर विषयोंके पीछे पागल हो रहे हैं। उन मुनिजनमनमोहन, निखिल आनन्द-रसनिर्यास, सौन्दर्य-माधुर्यके परमनिधि, परमधाम प्रियतमको

छोड़कर क्षण–विध्वंशी, अनित्य और सुखरहित भोगोंकी प्राप्तिके लिये मृत्युकाल तक तरसते रहते हैं। 'भगवान् हमारी मति पलटें'—यह कातर प्रार्थना कीजिये। सच्ची प्रार्थनाका उत्तर बहुत शीघ्र मिलता है।

भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण करें

जो भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है, वह नित्य परम शान्तिको प्राप्त होता है, अशान्ति या चित्तकी चञ्चलता तभीतक रहती है, जबतक चित्तमें जन्म–मृत्युमय जगत्‌के अनन्त दृश्य भरे रहते हैं। जब चित्त भगवान्‌के चिन्तनमें घुल–मिल जाता है, तब यह नित्य शान्तिमय भगवान्‌का निवासस्थल बन जाता है। सागरके ऊपर–ऊपर ही तरंगे उछलती हैं, उसका अन्तस्तल अत्यन्त गम्भीर और शान्त होता है, इसी प्रकार चित्त जबतक बाहरी जगत्‌में रमता है, तबतक उसकी चञ्चलता नहीं मिटती, पर वही जब अनन्त अथाह गहराईमें जाकर भगवान्‌को पा जाता है, तब सर्वथा शान्त स्थितिमें पहुँच जाता है।

जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया, वह आनन्दका दिव्य और अटूट भण्डार बन गया। उसके भीतर नित्य आनन्दका समुद्र लहराता रहता है और वह जगत्‌के अनेकानेक त्रितापतप्त प्राणियोंको दिव्य शान्तिमयी आनन्द–सुधाधारामें बहाकर उनके तापको सदाके लिये मिटा देता है। उसका अस्तित्वमात्र ही जगत्‌के कल्याणमें बहुत बड़ा सहायक बनता है, चाहे वह कुछ करे या न करे। उसके सम्पर्कमें आनेवाले महापातकी लोगोंका जीवन भी पलट जाता है। वे घोर नरकसे निकलकर दिव्य भगवद्धाममें पहुँच जाते हैं, तरण–तारण बन जाते हैं।

जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया, उसके लिये पृथ्वीपर ही भगवान्‌का दिव्य धाम उतर आता है। वह नित्य भगवद्धाममें ही सोता–जागता, चलता–फिरता, खाता–पीता और सारी क्रियाएँ करता है। वह कभी भगवान्‌से अलग नहीं होता और भगवान् कभी उससे अलग नहीं होते। उसके भीतर–बाहर सर्वत्र सदा भगवान् ही भरे रहते हैं।

भगवान् तो अनन्य इच्छामात्रसे प्राप्त होते हैं

भगवान् है और नित्य सत्य हैं। जीव–जीवनकी सफलताके लिये—अचल, अखण्ड, नित्य, सत्य, पूर्ण आनन्दकी प्राप्तिके लिये, जिसकी मनुष्यमात्रको आकांक्षा है—भगवान्‌को ही अनिवार्य आवश्यकता है और मनुष्य-योनि भगवत्प्राप्तिके अधिकारके साथ ही मिलती है। अतएव कोई भी मनुष्य चाहे तो प्रयत्न करके भगवत्प्राप्ति कर सकता है।

अन्यान्य वस्तुएँ जो प्रारब्धाधीन हैं, किये हुए कर्मोंके फलरूपमें प्राप्त होती हैं; परंतु भगवान् तो केवल अनन्य इच्छासे ही मिल जाते हैं; क्योंकि जीव उनका सनातन अंश है, उनके साथ उसका अखण्ड सम्बन्ध है और वह उन्हींसे ओतप्रोत है। जिस क्षण वह अन्यान्य सारे मनोरथोंका त्याग करके भगवान्को पानेकी इच्छा करेगा, अपने नित्य अभिन्न अंशी परम प्रभु भगवान्के लिये व्याकुल होकर उसके प्राण रो उठेंगे, बस, उसी क्षण भगवान् प्राप्त हो जायँगे।

भगवान्के समान आत्मीय, अत्यन्त समीप और नित्य-निरन्तर साथ रहनेवाला अपना और कोई भी तथा कुछ भी नहीं है। जैसे अपनी वस्तुपर—अपनेपर अपना अधिकार होता है, वैसा ही अधिकार परम प्रेममय प्रभुपर तुम्हारा है। अन्यान्य वस्तुएँ तो जड़ अथवा सीमित ज्ञानवाली होनेके कारण चाहे तुम्हारे मनकी व्याकुलताको तथा तुम्हारे अधिकारको न समझें; पर भगवान् तो सर्वव्यापी, सर्वतश्चक्षु तथा नित्य सत्य चेतनानन्दघन हैं, अतः वे तुम्हारी प्रत्येक बातको जानते हैं। वे जब देखेंगे कि तुम्हारे मनमें उनकी—एकमात्र उन्हींकी चाह जाग उठी है, तुम उनके दर्शनके लिये आतुर हो। बस, तभी वे तुम्हें दर्शन देकर, तुम्हारे अपने बनकर सदाके लिये कृतार्थ कर देंगे।

कोई क्षण भगवत्स्मरणसे रहित न बीते

भगवान्ने गीतामें आज्ञा दी है—

'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' (८। ७)

'सर्वकालमें मेरा स्मरण कर।' यह जीवनमें उतारनेकी बात है। हमारा प्रत्येक क्षण भगवान्के स्मरणमें बीते। भगवान् कैसे हैं और क्या हैं, इसका निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं है। जिसके मनमें जैसे भगवान् हैं, चाहे वे निर्गुण-सगुण, साकार-निराकार, सविशेष-निर्विशेष हों, उनमें भी चाहे राम, कृष्ण, नारायण, दुर्गा, शिव——कोई रूप, कोई नाम हो, जिसका मन जहाँ लगे, जिसके लिये जो नाम-रूप रुचिकर हो, वह उसीका स्मरण करे। स्मरण भी नामका करे, लीलाका करे, स्वरूपका करे अथवा भगवान्के तत्त्वका करे, जिसका मन जहाँ लगता है, उसीका करे; परंतु भगवान्के साथ चित्त जुड़ा रहे, यह मुख्य बात है। इसका निश्चित फल है——भगवान्की प्राप्ति। इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है—

'मामेवैष्यस्यसंशयम्' (गीता ८। ७)

ये भगवान्के प्रतिज्ञावचन हैं कि 'निस्संदेह वह मुझको ही प्राप्त होगा।' जीवनमें निरन्तर याद रखनेकी बात यह है कि हमारे जीवनका कोई भी क्षण भगवान्के स्मरणसे रहित न बीते।

जीभ निरन्तर भगवन्नाम रटती रहे

जीभके द्वारा भगवान्‌के नामका जप करना—वह बहुत सरल, बड़ा सीधा साधन है। इसमें किसी प्रकारकी कोई ऐसी बात नहीं, जो आपत्तिजनक हो। केवल जीभसे अभ्यास डाल लेना है। भगवान्‌का जो भी नाम रुचे, उसीको जीभ निरन्तर रटा करती रहे। उससे यह होगा कि जितने भी पूर्वके गज—पाप संचित हैं, वे नष्ट हो जायँगे। यह बड़ी आवश्यक, जीवनमें उतारनेकी, करने—करानेकी बात कही जा रही है।

भगवत्प्राप्ति होगी और इसी जन्ममें होगी

भगवान्‌के कृपा—बलपर भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें असंदिग्ध हो जाना एक महान् साधन है। भगवान्‌की प्राप्ति मुझे इसी जीवनमें भगवान्‌की कृपाके बलपर अवश्य होगी——इस प्रकारका मनमें निश्चय कर ले। यह निश्चय भगवत्प्राप्तिमें बड़ा सहायक है। अपनी असमर्थता, अपनी अयोग्यता, अपनी अनधिकारिता——ये सब होते हुए भी भगवान्‌की कृपामें जो बल है, वह इतना अपरिमित है, इतना असीम है, इतना प्रभावशाली है कि भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेनेपर सारे दोष, सारे विघ्न, सारी अड़चनें अपने-आप टल जाती हैं। भगवान्‌ने घोषणा की है——

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।'

(गीता १८। ५८)

'मेरे प्रसादसे, मेरे अनुग्रहसे तुम सारे—के—सारे विघ्नोंको लाँघकर आगे बढ़ जाओगे। तुम विघ्नोंपर विजय प्राप्तकर लोगे। बस, तुम केवल एक काम करो कि मेरी कृपापर अपने आपको छोड़ दो। 'मच्चित्त' बन जाओ।' भगवान्‌की कृपाका भरोसा जगत्‌में सबसे बड़ा भरोसा है। इससे बढ़कर कोई शक्ति नहीं, इससे बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं, कुछ नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं——'अपनेपर मुझे विश्वास नहीं। अपने साधनोंपर मुझे विश्वास नहीं। अपने मन—इन्द्रियोंपर मुझे विश्वास नहीं। ये सब—के—सब प्रभुके विमुख हैं—— *'सकल अंग पद—बिमुख नाथ'*——मेरे सारे अंग आपके चरणोंके विमुख हैं। केवल एक जीभने, एक मुखने नामकी ओट ली है। परंतु सबसे बड़ी वस्तु मेरे पास यह है——

है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु—मूरति कृपामई है।'

(विनयप० १७० । ७)

यह मेरा अनन्य विश्वास है, एकान्त विश्वास है, एकनिष्ठ विश्वास है। मेरे प्रभु साकार हैं और ये कृपासे बने हुए हैं, जो कृपामय हैं, वे कृपा करेंगे ही; मैं कैसा भी जीव क्यों न हूँ।'

उनकी जिसपर कृपा होगी, उसके लिये कौन-सी वस्तु शेष है। कौन-सी बाधा, कौन-सा विघ्न उसको भटका सकता है! सारी अड़चनें चूर-चूर हो जाती हैं भगवान्‌की कृपाशक्तिके सामने। अतः भगवान्‌की कृपाके बलपर इसी जीवनमें, इसी जन्ममें भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें निश्चय कर लें कि भगवान्‌की प्राप्ति होगी ही, अवश्य ही होगी।

सर्वत्र भगवान्‌को ही देखें

प्रत्येक प्राणीमें, संसारके प्रत्येक जीवमें भगवान् हैं अथवा भगवान् उन जीवोंके रूपमें प्रकट हैं; उनमें भगवान् हैं अथवा वे ही भगवान् हैं—दोनों ही बातें ठीक हैं। यह समझकर निरन्तर सबमें भगवद्‌बुद्धि रखनी चाहिये। इस बातको जीवनमें उतार लें। इसको फिरसे दोहराता हूँ; क्योंकि यह बहुत कामकी वस्तु है—लड़का सामने आये, अपनी पत्नी सामने आये, नौकर सामने आये, भंगीसे काम पड़े, किसीसे भी काम पड़े, इस रूपमें उनके सामने पड़ते ही बस, तत्काल इस बातको याद कर लें कि ये मेरे इष्टदेव हैं, मन-ही-मन प्रणाम कर लें। प्रणाम करनेके बाद जो व्यवहार करना हो, उस व्यवहारके लिये उनसे आज्ञा माँग लें—'प्रभो ! आपका स्वाँग नौकरका, मेरा स्वाँग मालिकका है, आपका स्वाँग पत्नीका, मेरा स्वाँग पतिका है; आपका स्वाँग बेटेका, मेरा स्वाँग पिताका है; इन स्वाँगोंके अनुसार आपकी आज्ञा माननेके लिये मैं व्यवहार करूँ। परंतु नाथ ! मुझे यह शक्ति दें, बल दें, स्मृति दें, जिससे मैं इस बातको कभी भूलूँ नहीं कि इस रूपमें मेरे सामने साक्षात् आप हैं।' इसे कहनेमें कोई कठिनाई नहीं होती, परंतु यह अभ्यासमें आनी चाहिये; फिर आपको दिनभर भगवान्‌के दर्शन होंगे और दिनभर आप जो करेंगे, उसके द्वारा भगवान्‌का ही पूजन होगा—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

जितना भी यह संसार है, जगत्-प्रपञ्च है, चराचर भूत हैं—ये सब-के-सब निकले हैं भगवान्‌से और सबमें भगवान् भरे हैं। भगवान् सब जगह हैं, सब समय हैं और सबमें हैं—ऐसी अवस्थामें भगवान्‌का पूजन हम चाहे जहाँ, चाहे जब, चाहे जिस रूपमें कर सकते हैं। *'स्वकर्मणा'* अर्थात् अपने स्वाँगके अनुसार बरतना है; पर यह याद रखते हुए कि यह भगवान् हैं; यही स्वकर्मसे उनकी पूजा है। आप इस साधनको एक दिन करके देखें, घंटेभर ही करके देखें। जो सामने आये, तत्काल याद कर लें कि इस रूपमें नारायण आये हैं। सचमुच

वे नारायण ही हैं, अतः आपको नारायणकी अनुभूति होने लगेगी, आपको नारायणका दर्शन होने लगेगा। इसे करके देख सकते हैं।

किसीके प्रति द्वेष न रखें

भगवान्‌ने कहा है—— 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'

(गीता १२। १३)

किसी भी प्राणीके साथ कभी भी किसी प्रकारसे भी मनमें द्वेष न रखें। द्वेष एक बहुत बड़ा पाप है। इतना ही नहीं, यह पापकी जड़ है। जिसका किसीसे द्वेष होगा, मनमें वैर होगा, उस मनुष्यकी दुर्गति होगी, यह निश्चित बात है। वैरवाले, द्वेषयुक्त पुरुष बड़े भीषण प्रेत हुआ करते हैं। वे पिशाच होते हैं और उनको नरकोंमें बड़ी बुरी यातनाएँ मिलती हैं। यह मनमें धारण कर लें कि हम किसीसे द्वेष लेकर नहीं मरेंगे। यदि कहीं किसीमें द्वेषकी अथवा वैरकी भावना आ गयी तो मरनेसे पहले ही उसे मनसे निकाल देंगे। किसी प्राणीके प्रति भी हमारे मनमें द्वेष न हो। यह एक बड़ी आवश्यक बात है खासकर जो गरीब हों, दुःखी हों, उसके प्रति करुणाभाव रखें। सबके साथ मैत्रीभाव रखें और जहाँ आवश्यक हो, वहाँ अत्यन्त करुणा करें, दया रखें।

निरन्तर सत्संग करे

निरन्तर अच्छे संगमें रहनेकी चेष्टा करे। अच्छा संग केवल मनुष्यका ही नहीं, प्रत्येक अच्छी वस्तुका संग हो। बुरा स्थान, बुरा खान-पान, बुरा साहित्य, बुरे दृश्य, इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण होनेवाली सभी वस्तुएँ जो बुरी हों, उन्हें त्याग दें। जिन वस्तुओंसे भगवान्‌की रति बढ़े, वे शुभ और जिनसे विषयोंकी रति बढ़े, वे अशुभ हैं। यह शुभाशुभका सीधा-सा हिसाब है। इसी कसौटीपर कस कर कर्म करे। देखनेकी, सुननेकी, स्पर्श करनेकी, चखनेकी, बोलनेकी, जानेकी, मिलनेकी, व्यवहार करनेकी जो भी वस्तुएँ हों, जो भी जड़-चेतन, प्राणी-पदार्थ हों, यदि उनके संगसे भगवान्‌में रुचि होती है तो वे हमारे लिये परम शुभ हैं——

तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥

(विनयप० १७४। ५)

यदि बड़े-से-बड़ा दुःख भी भगवान् श्रीरामके चरणोंमें प्रेम करानेवाला हो तो वह भी हृदयसे स्वागत करनेकी वस्तु है। संसारका बड़े-से-बड़ा भोग भी यदि भगवान्‌से अलग करानेवाला हो तो वह भोग भी हमारे लिये किसी कामका नहीं, अपितु वह आग लगाने योग्य है। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं——

जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ।।

वह भोग जल जाने योग्य है; क्योंकि वह हमें भगवान्‌से छुड़ाकर भोगोंमें लगाता है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम है नरक। इसलिये सब पदार्थोंमें यह ख्याल रखें कि कोई थोड़ी-सी भी ऐसी वस्तु न आ जाय, जो भगवान्‌से हटानेवाली हो। आगकी चिनगारी भी यदि झोंपड़ेमें आ गिरी तो हवाका झोंका लगते ही प्रचण्ड आग बन जायगी, इसी तरह अशुभका थोड़ा-सा भी स्पर्श महान् भयकारक है। इसके विपरीत शुभका स्पर्श जितना भी हो, मंगलप्रद ही है। अतः सत्संगमें रुचि रखनी चाहिये और असत्संगमें अरुचि। नारदजीने कहा है—

'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।'

(भक्तिसूत्र ३९)

'संतका मिलना बड़ा दुर्लभ है, उनको पहचानना और भी कठिन है, पर मिल जाय तो उनका संग अमोघ होता है।' *'बिनु हरि कृपा मिलें नहिं संता'* भगवान्‌की बड़ी कृपा हो, तब किसी संतका मिलना होता है।

जिसके पास रहनेसे, जिसकी बात माननेसे, जिसके संगसे भगवान्‌में अभिरुचि हो और दैवी सम्पत्ति बढ़ती हो, वह चाहे कैसा भी हो, तुम्हारे लिये संत है; परंतु जिसके संगमें रहनेसे, जिसकी बात माननेसे आसुरी सम्पत्ति बढ़ती हो, भगवान्‌के प्रति उपेक्षा हो, वह चाहे कितना ही बड़ा संत माना जाय, तुम्हारे लिये कदापि संत नहीं है।

मान-बड़ाई और कामिनी-कञ्चनसे बचे

कामिनी, कञ्चन और मान—इन तीनोंकी जहाँ माँग है, वहाँ सावधान हो जाना चाहिये। मान-दोष इतना दूषित नहीं है; क्योंकि यह सूक्ष्म है और यह अच्छे पुरुषोंमें भी बड़ी दूरतक रहता है। पर ये कामिनी-कञ्चन तो बड़े दूषित और स्थूल दोष हैं। अतः ये दोष जिस संतमें हों, वह हमारे लिये संत नहीं, ऐसा मानना चाहिये। एक बात इसी प्रसंगमें यह भी कह देनेमें कोई अनुचित नहीं कि जो मनुष्य भगवान्‌के स्थानपर अपनी पूजा करवाना चाहे, वहाँ भी सावधान रहना चाहिये। यह एक बड़ा दोष है और आजकल यह बहुत अधिक बढ़ गया है। भगवान्‌का आसन व्यक्ति ले बैठता है और यह कहता है कि देखो, रामायणमें गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है कि भगवान्‌से बढ़कर भक्त है। भगवान् भक्तकी पूजा करते हैं। संत भगवान्‌से भी बढ़कर हैं। इस प्रकार शास्त्रीय उक्तियोंका अनुवाद करके वह कहता है

कि मैं भक्त हूँ, संत हूँ, महापुरुष हूँ, भगवान‌का प्रेमी हूँ, इसलिये भगवान‌ने जो कुछ है, वह तो मुझमें ही है।

ऐसी उक्तियाँ हैं और ये ठीक हैं। जैसे—*'गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाँय।'* कोई कहता है कि भाई! गोविन्दसे भी बढ़कर गुरु हैं; क्योंकि उन्होंने गोविन्दको मिला दिया। इस तरह बहुत-सी शास्त्रकी पंक्तियाँ हैं और हैं भी यथार्थ, परंतु ऐसे गुरु हों, तब न? उनका दुरुपयोग करके मनुष्य भगवान‌के स्थानपर अपनी पूजा करवाता है। यहाँ जीवनमें अपने लिये भी सावधानीकी आवश्यकता है। अतः इन तीन बातोंसे स्वयं भी बचें। कभी भी इनमें अनुराग न करे। कामिनी, कञ्चन और मान-बड़ाई—ये गृहस्थके लिये भी हानिकी वस्तुएँ हैं। यदि मनुष्य कञ्चनका लोभी है तो वह निश्चय ही गिरेगा। आजीविकाके लिये धन चाहिये और धनको शुद्ध कमाईसे कमाया जाय—यह दोषकी बात नहीं है; परंतु यदि कञ्चन और कामिनीमें आसक्ति है तो परधन और परस्त्रीमें लोभ-काम जाग्रत् हो सकता है और वह महापाप है। इसी प्रकार अपनी पूजा करवानेसे भी मनुष्यको बचना चाहिये। जहाँ-जहाँ मान बड़ाई मिलती हो, वहाँ-वहाँ-से हट जाना चाहिये।

मनुष्यके मनमें एक चाह रहती है कि मरनेके बाद मेरा नाम रहे, इतिहासमें मेरा नाम रहे। अरे, किसका नाम रहेगा? तुम तो आत्मा हो, इसका तो नाम है नहीं और शरीर एक दिन जला दिया जायगा। इसके नामको यदि तुम अपना नाम मानते हो, तब तो महान् अज्ञानी हो। अज्ञान और क्या होता है? अज्ञानका रूप क्या है? इस शरीरको मैं माने, इस नामको मैं माने, वही अज्ञानी है। अतः जो अपना स्टेचू (स्मारक) बनाना चाहे, अपनी आटोबाइग्राफी (आत्मकथा) अपने-आप लिखकर अपनी प्रशंसा करना चाहे और इतिहासमें अपना नाम चाहे, वह अज्ञानी ही माना जायगा। नाम क्या है? आत्माका तो नाम होता नहीं। आत्माका रूप भी नहीं है। इस पाञ्चभौतिक पुतलेका नाम और इसकी पूजा तो जो भूत-पूजक हैं, वे करते हैं, आत्मपूजक तो करता नहीं। यह अज्ञानका स्वरूप है। इसलिये इससे बचना चाहिये। मान बड़ाईसे भी दूर रहना चाहिये। यह बड़ी मीठी छुरी है, सदा घात करती है। अंदर-ही-अंदर काटती है। सारे सत्कर्मोंको, पुण्योंको यह धो डालती है। इससे मनुष्य अपना पुण्य खो देता है। इसलिये मान-बड़ाई और कामिनी-कञ्चनसे सदा हटकर रहना चाहिये।

मानव-जीवन केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है

अन्तिम बात यह है कि मानव-जीवन बार-बार नहीं मिलता। यह

भगवान्‌की बड़ी कृपासे मिल गया है। इसको हम खो न दें। इससे बड़ा घाटा दूसरा कोई है नहीं। सारे घाटे न जाने कितनी योनियोंमें कितनी बार पूर्ण हो चुके हैं, परन्तु यह घाटा यदि रह गया तो *'महती विनष्टिः'* है। इतना बड़ा घाटा जिसकी पूर्ति सहजमें नहीं होती। इसपर भी बड़े आश्वासनकी बात तो यह है कि हमारा जितना जीवन शेष है, उतना भगवान्‌की प्राप्तिके लिये पर्याप्त है। हमने पहले कुछ भी किया हो, उसकी हमें कोई चिन्ता नहीं करनी है, यदि हम एक काम कर लें कि अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप दें, अपने बचे हुए जीवनको चाहे वह एक युग हो, एक वर्ष हो, एक महीना हो, एक घड़ी हो, एक मिनट हो अथवा अन्तिम श्वास ही क्यों न हो, यदि हमने भगवान्‌को सौंप दिया तो वह एक श्वासका जीवन भी हमें भगवत्प्राप्तिके लिये पर्याप्त है। इसलिये निराश—हताश होनेकी आवश्यकता नहीं है; परंतु यह समझ लेना चाहिये कि मानव—जीवन केवल और केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। यह भोगोंकी प्राप्तिके लिये है ही नहीं।

मानव-योनि भोगयोनि नहीं है। यह यदि भोगमें लग गया और इसका विवेक भोगमें प्रवृत्त हो गया तो यह निश्चित राक्षस बनेगा, पिशाच बनेगा, असुर बनेगा। ये जितने भी जंगली जानवर, हिंसक जीव हैं, ये इतने जीवोंको नहीं खा सकते, जितनोंको यह (मनुष्य) खाता रहेगा। हर प्रकारसे यह हिंसामय बनेगा। इसके कारखाने, इसकी मिलें, इसके आयोजन, इसके बड़े—बड़े युद्ध, इसके बड़े—बड़े (हत्यामय) काण्ड, इसकी बड़ी—बड़ी फैक्ट्रियाँ, इसके आविष्कार— सब क्या हैं? ये सब कसाईखानेसे बढ़कर हैं। यह भोगोंमें प्रवृत्त हुआ कि इसका पतन हुआ। फिर इसमें मानवता नहीं रह सकती। मनुष्यकी मनुष्यता तो बस, एक बातको लेकर ही है कि उसके जीवनकी गति भगवान्‌की ओर हो।

अन्तिम बात यह है, जो मुझे प्रार्थनाके रूपमें आपसे कहनी है, कि मानव—जीवनकी जो वास्तविक सुन्दर स्थिति है, उसको भूलें नहीं। जो कुछ भी मानवको प्राप्त है, वह भगवान्‌की कृपासे ही है। मनुष्य अपने जीवनको इसीकी प्राप्तिमें लगाये, दूसरे किसी काममें नहीं। जो काम इसमें बाधक हो, उसे न करे। जो कोई भी प्राणी, पदार्थ अपने हैं, वे भगवान्‌के सम्बन्धसे ही हैं। जितना बचा हुआ जीवन है, अथवा जितने श्वास बाकी हैं, उतना ही भगवान्‌को सौंप दे— 'भगवन्! अबतक तो मैं बड़ी कुप्रवृत्तिमें रहा। मैंने खोया-ही—खोया, आपकी सारी पूँजी गवाँ दी। अब तो सात श्वास बचे हैं। सात ही नहीं, दो श्वास बचे हैं, वे आपको अर्पण हैं।' इतनेमें ही वे कह देंगे—'भाई! आ गया!

आखिर सब कुछ खो–खा करके भी शरणमें तो आ गया।' और कहेंगे––'चिन्ता मत करो। तुम आये और मैं आया!' यह भगवत्प्राप्तिकी बड़ी सीधी राह है। इसलिये जीवनके इस प्रधान कार्यको कभी न भूलें और इसीमें लगे रहें।

प्राणी–पदार्थोंमें ममता करना विघ्नों और दुःखोंको बुलाना है

तुम जो अपने अध्यवसाय, परिश्रम, बुद्धिमत्ता, विद्या, प्रभाव और विविध इन्द्रिय–ज्ञानका प्रयोग करके उनके द्वारा तथा भगवान्‌की स्तुति–प्रार्थना करके उसके द्वारा संसारके भोग–पदार्थोंको 'मेरे'के घेरेमें लाकर जीवनको निर्बाध––विघ्नरहित तथा प्रचुर सुविधाओं एवं सहायकोंसे समन्वित बनाना चाहते हो, यह तुम्हारी भूल है। संसारके जितने ही अधिक प्राणी–पदार्थ तुम्हारे 'मेरे'के घेरेमें आयेंगे, उतने ही तुम बाधाओं और विघ्नोंसे घिर जाओगे, उतनी ही तुम्हारी सुख–सुविधाएँ छिन जायँगी एवं उतना ही तुम अपनेको चारों ओरसे मानो सर्वस्व लूटनेवाले शत्रुओंसे घिरा पाओगे। कितना मोह है––जो मनुष्य विघ्न–नाशके लिये बार–बार नये–नये विघ्नोंको बुलाता है और जीवनको अधिकाधिक विघ्न–संकुल बनाकर अपने ही अज्ञानसे आप दुःखी होता रहता है!

अपने नित्य निरामय स्वरूपमें स्थित हो जाओ

तुम शरीर नहीं हो, इसलिये तुम्हारा न जन्म होता है न मरण, जन्म–मृत्यु तो शरीरके होते हैं। तुम मन नहीं हो, इसलिये संसारके सुख–दुःख तुमको नहीं सता सकते। तुम प्राण नहीं हो, इसलिये भूख–प्यास तुमको व्याकुल नहीं कर सकते। तुम तो नित्य–मुक्त शुद्ध–बुद्ध आत्मा हो। तुम यदि अपनेको रोग–दुःखादिसे युक्त तथा मरणधर्मा मानोगे तो इससे तुम्हारा अज्ञान ही दृढ़ होगा।

जन्म–मरण एवं ससारके सुख–दुःख उसीको होते हैं, जो 'प्रकृतिस्थ' है। जिसने प्रकृतिके परिणामके साथ अपना तादात्म्य–सम्बन्ध मान रखा है, वही वास्तवमें 'रोगी' है। तुम यथार्थमें प्रकृतिसे परे आत्मा हो, नित्य निरामय हो, अपने स्वरूप––आत्मामें स्थित हो जाओ––'स्व–स्थ' हो जाओ। भव–रोगकी सारी बाधाएँ मिट जायँगी। तुम्हारे लिये भवसागर सूख जायगा।

सबका सम्मान, हित और सेवा करो

इस जगत्‌में जो कुछ है, उस सबमें भगवान् विराजमान हैं, सब भगवान्‌के शरीर हैं अथवा सब स्वयं भगवान् ही हैं––यह समझकर सबका सम्मान करो, सबका हित करो, सबकी सेवा करो। किसीका भी कभी अपमान न करो, किसीका कभी अहित मत करो, किसीको भी कभी दुःख मत पहुँचाओ; इस सत्यको सदा स्मरण रखो। केवल साधनाके समय ही नहीं, व्यवहारके समय भी।

फिर तुम्हारा प्रत्येक व्यवहार साधन बन जायगा, प्रत्येक कर्मसे तुम भगवान्‌की पूजा करोगे; क्योंकि प्रत्येक प्राणी–पदार्थ, जिससे तुम्हारा सम्पर्क होगा, तुम्हें अपने इष्ट भगवान्‌के रूपमें ही दिखायी देगा।

व्यवहारमें अपने–अपने वेशके अनुसार (वर्ण, आश्रम, व्यक्ति, सम्बन्ध तथा कर्मके अनुसार नाटकके अभिनयकी भाँति) भेद होगा, पर उस भेदमें भी तुम्हारी दृष्टिमें एक भगवान् ही रहने चाहिये––इस अभ्यासका आरम्भ पहले अपने घरसे करो। नौकर सामने आया, उसे देखते ही पहचान लो––इस नौकरके रूपमें मेरे आराध्यदेव भगवान् सामने खड़े हैं, मन–ही–मन उन्हें प्रणाम कर लो; फिर (मन ही–मन) उनसे आज्ञा माँगो, कहो –'भगवन् ! आप नौकरके स्वाँगमें हैं और मैं मालिकके। अब आप मुझे आज्ञा दें कि मैं स्वाँगके अनुसार आपके साथ बर्ताव-व्यवहार करूँ; परंतु मेरी प्रार्थना है, नाथ ! मैं व्यवहार करते समय यह कभी न भूलूँ कि मेरे सामने नौकरके रूपमें मेरे प्रभु खड़े हैं और मैं अपने प्रत्येक व्यवहारसे उनकी प्रीतिके लिये उनकी पूजा कर रहा हूँ।' भगिनिसे भेंट हो तो उस भगिनि-भैयामें भी भगवान्‌को पहचानकर मन-ही–मन प्रणाम करो और फिर प्रार्थना करके उसके साथ यथायोग्य व्यवहार करो। इसी तरह पत्नी, पति, पुत्र, कन्या, माता, पिता, भाई–– सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए प्रभुके दर्शन करो और उनकी पूजा करो। तुम अपने प्रत्येक कर्मसे इस प्रकार दिन भर भगवान्‌की प्रत्यक्ष पूजा कर सकते हो। वकील मवक्किलको और मवक्किल वकीलको, डॉक्टर–वैद्य रोगीको और रोगी डॉक्टर–वैद्यको, दूकानदार ग्राहकको और ग्राहक दूकानदारको, धनी गरीबको और गरीब धनीको भगवान्‌के रूपमें देखे और उन्हें पहचानकर मन-ही–मन प्रणाम कर ले तथा प्रार्थना करके व्यवहार करे एवं व्यवहार करते समय यह भूले नहीं कि मैं भगवान्‌के साथ व्यवहार कर रहा हूँ।

ऐसा कर सके तो तुम्हारा जीवन पूजामय बन जायगा और तुम प्रतिक्षण भगवान्‌के दर्शन–पूजनका सौभाग्य प्राप्त करके शीघ्र ही सर्वत्र तथा सर्वरूपमें एकमात्र भगवान्‌की उपलब्धि कर लोगे और यों जीवनके परम साध्यको सहज ही प्राप्त कर सकोगे।

सेवा कभी व्यर्थ नहीं जाती

सेवा करनेके बाद परिणामकी अनुकूलता–प्रतिकूलता देखकर सच्चा सेवक हर्ष–विषादमें नहीं डूबता। वह चाहता है, फल अच्छा हो; परंतु उसे अपने

हाथकी बात न समझकर संतोष करता है। आपने एक रोगीकी सेवा-शुश्रूषा की, वह अच्छा हो जाता तो बहुत ही आनन्दकी बात थी, परंतु आपके अनेक यत्न करनेपर भी वह मर गया; आपने किसीके भूकम्पमें टूटे हुए मकानको बनवा दिया, कुछ ही दिनों बाद बाढ़ उसे बहा ले गयी--ऐसी हालतमें अपनी सेवाको व्यर्थ हुई जानकर क्षोभ करना उचित नहीं। यद्यपि सफलतामें हर्ष और विफलतामें विषाद होना अज्ञानके कारण स्वाभाविक-सा हो गया है, परंतु सच्ची सेवामें इस हर्ष-विषादको स्थान नहीं है। वस्तुतः सेवकको सेवाके कार्यसे इतनी फुरसत ही नहीं मिलती कि वह अनुकूल-प्रतिकूल परिणामपर हर्ष-विषाद करे। वहाँ तो सेवाका अवसर मिलनेमें ही आनन्द है और सेवा न बननेमें ही विषाद है। सेवा कभी व्यर्थ नहीं जाती। सेवा करते समय सच्चे सेवकको आनन्द मिलता ही है। ऐसा भी नहीं मानना चाहिये कि हमने जिस मनुष्यकी सेवा की, वह सेवाके योग्य नहीं था। ऐसा माननेसे पश्चात्ताप होता है, जिससे उत्साहमें कमी आती है। यह धारणा करनी चाहिये कि हमारे स्वामी श्रीभगवान् ही सबमें हैं, सब भगवत्स्वरूप ही हैं, इसलिये सभी हमारी सेवाके पात्र हैं। हमको तो अपनी शक्तिके अनुसार किसीकी भी सेवा करनेमें अपना सौभाग्य मानना चाहिये

अपने मनमें सबके प्रति मित्र-भाव हो

आपकी दुःख-गाथा पढ़कर दुःख हुआ, पर इसका उपाय तो आपकी तपस्या तथा भगवत्प्रार्थना ही है। धर्मके लिये कष्ट सहन करते हुए भगवान्से कातर प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थनामें बड़ी शक्ति है, उससे मनुष्यका हृदय पलट सकता है। शरीरका अन्त कर देनेसे दुःख तो मिटेंगे नहीं, प्रत्युत वह एक भयानक अपराध होगा और उसका भीषण परिणाम परलोकमें भोगना पड़ेगा। यह सत्य है कि चारों ओरसे ठुकराये जानेपर मनुष्यका चित्त अत्यन्त विकल हो जाता है और उसे बुराई ही सूझती है, परंतु ऐसी स्थितिमें ही धैर्यकी आवश्यकता है। आप अपने मनसे किसीको विरोधी न मानकर समस्त घटनाओंको अपना कर्मफल मानिये और बार-बार सद्भावना करके उन लोगोंके मनके जहरको मारिये। यदि प्रतिदिन मनुष्य कम-से-कम पाँच मिनट उस व्यक्तिके लिये, जो अपनेसे विरोध रखता है तथा बुरा व्यवहार करता है, भगवान्से प्रार्थना करे--'भगवन् ! उसके चित्तमें जो मेरे प्रति द्वेष है, उसे आप दया करके निकाल दीजिये और मेरे मनमें कभी उसके प्रति दुर्भाव न आये, मैं उसे अपना विरोधी मानूँ ही नहीं, मुझे उसके अंदर आपके मधुर दर्शन हों और उसकी क्रियामें आपका मंगल-विधान दिखायी दे--ऐसी शक्ति दीजिये। मेरा कोई वैरी न हो, सबके प्रति मेरे मनमें मित्र भाव

हो।' इस प्रकार प्रार्थना और सद्भाव करनेपर विरोधी व्यक्तियोंका विरोध नष्ट हो जाता है और धीरे–धीरे वे मित्र बनने लगते हैं। अपने मनकी विरोध-भावना विरोधियोंकी संख्या तथा विरोधी–भाव बढ़ाती है और अपने मनकी मैत्री–भावना–मित्रता बढ़ाती है। यह अटल सत्य है, प्रयोग करके देखिये। आत्महत्याकी तो बात सोचना ही पाप है। धैर्य रखिये, भगवान्‌के नामका जप कीजिये और कातर–भावसे विश्वासपूर्वक भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये।

सत्पुरुष कहलानेकी इच्छा न रखकर सत्पुरुष बननेकी इच्छा रखो

हम बहुत ऊँची–ऊँची बातें करते हैं, ब्रह्मज्ञानका निरूपण करते हैं, बात-बातमें संसारके मिथ्या होनेकी सूचना देते हैं, लोगोंको उनके दोष दिखाकर बुरा कहते और भाँति-भाँतिके उपदेश देते हैं; परन्तु अपनी ओर बहुत कम देखते हैं। ऊँची–ऊँची बातें बनाते और ब्रह्मज्ञानका निरूपण करते समय भी हमारे हृदयके किसी कोनेमें जागतिक सम्मान या कीर्तिकी कामना छिपी रहती है। थोड़ा गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे हम उसे तत्काल पकड़ सकते हैं। सच बात तो यह है कि जहाँ हमारा मन होता है, हम वहीं होते हैं और हमारी यथार्थ स्थितिका अंदाजा भी उसीसे लग जाता है। यदि हमारे मनमें बार–बार काम–क्रोध–लोभकी वृत्तियाँ जाग्रत् होती हैं और ऊपरसे हम सत्संगकी बातें कर रहे हैं तो समझना चाहिये कि अभीतक हम असली सत्संगी नहीं बन सके हैं। असली सत्संगी तब होंगे, जब हमारा हृदय 'सत्'रूप परमात्मासे भर जायगा अर्थात् उनसे हमारी एकात्मता हो जायगी। काम, क्रोध और लोभकी वृत्तियाँ कभी धर्मानुकूल आवश्यक समझकर जगानेपर भी नहीं जगेंगी। विषयोंके समीप रहकर भी विषयोंपर भोग–दृष्टिसे मन नहीं जायगा। खेदकी बात तो यह है कि आजकल हम सभी गुरु और उपदेशक बनना चाहते हैं, श्रद्धालु शिष्य बनकर साधनमें प्रवृत्त होना नहीं चाहते। अपने भीतर रहे हुए मलकी कुछ भी परवाह न कर दूसरेका मल धोना चाहते हैं, परिणाम यह होता है कि हृदयमें मल और भी बढ़ जाता है, जिससे चित्त अशान्त होकर नाना प्रकारके अन्यान्य दोषोंको भी जन्म दे डालता है। अनेक प्रकारके मत–मतान्तर, अभिमान, राग–द्वेष, क्रोध, हिंसा आदिके उत्पन्न होनेमें इससे बड़ी सहायता मिलती है। अतएव उचित यह है कि हम अपनी ओर देखें, अपने हृदयके मलको धोवें। नम्रताके साथ दूसरोंसे कुछ सीखना चाहें और जो कुछ अच्छी बात मालूम हो, उसमें मन लगाकर चुपचाप उसका सेवन करें। एक मनुष्य यथार्थमें धनी हो और संसार उसे धनी न

समझता हो तो उसकी कोई भी हानि नहीं होती, संसारके न जाननेसे उसका धन कहीं चला नहीं जाता, परंतु जो धन न होनेपर भी धनी कहलाता या कहलाना चाहता है, उसकी बुरी दशा होती है, वह स्वयं भी अनेक दुःख भोगता है और जगत्‌को भी धोखा देता है। इसी प्रकार सत्पुरुष कहलानेकी इच्छा न रखकर सत्पुरुष बननेकी इच्छा रखनी चाहिये और उसके लिये श्रद्धाके साथ चुपचाप सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। जबतक अपना ध्येय न मिल जाय, तबतक दूसरी ओर ताकनेकी भी फुरसत नहीं मिलनी चाहिये, यही सच्ची साधना है।

सच्चा प्रेमी पद-पदपर सुखका ही अनुभव करता है

आप अपनेको भगवान्‌का प्रेमी मानते हैं और सांसारिक सुविधाओं तथा अनुकूलताओंके लिये इतने अधिक चिन्तित भी हैं, यह आश्चर्यकी बात है। संसारके दुःखोंको तो वह बुद्धिमान मनुष्य भी धीरजके साथ सह लेता है, जो उन्हें अपने ही किये हुए कर्मोंका अनिवार्य फल मानता है। वह भी समझता है कि प्रारब्धके अनुसार जो फल प्राप्त होता है, उससे कर्मका ऋण ही उतरता है, अतः उसमें चिन्ताकी कोई बात नहीं है। उससे आगे बढ़ा हुआ वह भगवान्‌का विश्वासी पुरुष है, जो प्रत्येक फलको भगवान्‌के मंगलमय विधानद्वारा निर्मित मानता है और विपरीत प्रतीत होनेपर भी विश्वासके बलपर उसे उनका मंगलमय परिणाम मानकर प्रसन्न होता है। उससे भी आगे बढ़ा हुआ वह प्रेमी है, जो किसी घटनाको प्रतिकूल तो समझता है, पर यह मानकर प्रसन्न होता है कि 'इससे मुझे तो दुःख होगा, पर मेरे प्रियतम भगवान्‌को सुख होगा। ऐसी बात न होती तो भगवान् यह विधान करते ही क्यों? भगवान् जिस बातमें सुखी हों, वही मेरे लिये सुख है, इसलिये मैं सुखी हूँ।' इससे भी आगे बढ़ा हुआ वह सच्चा प्रेमी है, जिसको दुःख तो होता ही नहीं; वरं जो प्रत्येक फलमें भगवान्‌का स्पर्श पाकर सुखी होता रहता है। प्रियतम भगवान् जो कुछ करते हैं, उसमें उसे प्रतिकूलताकी कल्पना भी नहीं होती। वह पद-पदपर सुखका ही अनुभव करता है। भगवान् जो कुछ करते हैं, उसकी अवहेलना करके किसी भी सांसारिक सुविधा और अनुकूलताकी ओर उसका मन कभी जाता ही नहीं।

आप अपने लिये कहते हैं कि 'मैं भगवान्‌के प्रेमके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता हूँ और न चाहता हूँ, फिर तो सांसारिक सुविधा और अनुकूलताको जाननेका भी प्रश्न आपके लिये नहीं उठना चाहिये। अतएव आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप प्रेमके स्वरूपको समझिये और सदा आनन्दमग्न रहिये। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ आनन्द ही रहेगा। जितनी-जितनी प्रेमकी कमी होगी, प्रेमके स्थानपर कोई अन्य वस्तु

होगी, उतना ही आनन्दका अभाव होगा—यह सिद्धान्त है।

सच्चा धन तो भगवान्‌का भजन है

धनसे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। यदि किसीके पास धन आये तो उसे तुरंत भगवत्प्रीत्यर्थ लोक-सेवाके काममें लगाना आरम्भ कर देना चाहिये। धनकी सार्थकता तथा सफलता इसीमें है। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये व्यय किया हुआ धन भगवान्‌की प्रसन्नताका कारण होता है, फलतः व्यय करनेवालेको भी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

धनकी तीन गतियाँ प्रसिद्ध हैं—दान, भोग और नाश। इनमें भगवत्प्रीत्यर्थ धनका दान उसका सर्वोत्तम उपयोग है। भोग निकृष्ट है और परिणाममें दुःखदायी है। वैसे भी धन नष्ट तो होगा ही, पर वह दुःख, संकट, अपमान, कलह, अनाचार और मौततक देकर होगा।

बड़ी साधसे छिपाकर रखा हुआ धन जब बलपूर्वक छीन लिया जाता है, तब बहुत दुःख होता है। पहले उसका सद्व्यय किया नहीं, इसलिये सिर पटककर रोना पड़ता है। धन भी छूटता है और वह सुखको भी साथ ले जाता है। बटोरे हुए धनका बलात्कारसे अपहरण और विनाश आज प्रत्यक्ष है, यह धनकी अवश्यम्भाविनी गति है। आप चाहे जितने दुःखी हों, यह तो जायगा ही। बस, इसके बटोरनेमें आपने जो पाप किये, उनका फल यहाँ और आगे आपको भोगना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इसको लेकर यहाँ जो चिन्ता तथा दुःख है, वह अलग है। मेरा तो यही निवेदन है कि बचे-खुचे धनका यदि अब भी कुछ सदुपयोग हो सके तो करना चाहिये। मान लीजिये, यदि आपने छल-छद्म करके किसी तरह इसको बचा भी लिया, जिसकी सम्भावना बहुत कम है तो आपके उत्तराधिकारी इसका कैसा सुन्दर सदुपयोग करेंगे, इसका अनुमान आप, उनके वर्तमान विचारों और आचरणोंसे लगा सकते हैं।

सच्ची बात तो यह है कि धनको जो इतना महत्त्व दिया जा रहा है, यही भूल है। सच्चा धन तो भगवान्‌का भजन है, मन लगाकर उसका संचय कीजिए। छोड़िये इसकी चिन्ताको, यह तो कभी छूटेगा ही। इस समय रह भी जाता तो मरनेके समय इसे छोड़ना पड़ता, यह साथ तो जाता ही नहीं; फिर अभीसे इसका मोह छोड़कर निश्चिन्त क्यों नहीं हो जाते? आप अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं और बुद्धिमान हैं भी; किंतु यह तो बुद्धिका दुरुपयोग हुआ, जिससे आज आपको दुःखी होना पड़ रहा है। इस बुद्धिको, विवेकको उस ओरसे मोड़कर भगवान्‌की ओर लगा दीजिये। घबरानेकी जरा भी बात नहीं है। आपकी जितनी

आयु शेष है, यदि उसका एक-एक श्वास आपने भगवान्‌को सौंप दिया तो सारे पाप-तापोंसे मुक्त होकर आप इसी जन्ममें भगवान्‌को पाकर अनन्त जीवनकी साध पूरी कर सकते हैं। आशा है, आप मेरी प्रार्थनापर ध्यान देंगे।

नामकी शरण ले लो

भजन मन, वचन और तन--तीनोंसे ही करना चाहिये। भगवान्‌का चिन्तन मनका भजन है, नाम-गुण-गान, नाम-जप वचनका भजन है और भगवद्भावसे की हुई जीव-सेवा तनका भजन है। भजन सर्वोत्तम वही है, जिसमें कोई शर्त न हो, जो केवल भजनके लिये ही हो। तन-मनसे भजन न बन पड़े तो केवल वचन (वाणी) से ही भजन करना चाहिये। भजनमें स्वयं ऐसी शक्ति है कि जिसके प्रतापसे आगे चलकर अपने-आप ही सब कुछ भजनमय हो जाता है।

आजकलके दुर्बल प्रकृतिके नर-नारियोंके लिये भजनमें सबसे अधिक उपयोगी और लाभदायक है--भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन। बस, जप और कीर्तनपर विश्वास करके नामकी शरण ले लो, नाम अपनी शक्तिसे अपने-आप ही तुम्हें अपना लेगा। नाम-नामीमें अभेद है, इसलिये नामके द्वारा अपनाये जाकर नामी भगवान्‌के द्वारा तुम सहज ही अपनाये जाओगे। याद रखो, जिसको भगवान्‌ने अपना लिया, उसीका जन्म और जीवन सफल है, धन्य है!

उत्कट इच्छा ही भगवत्प्राप्तिका साधन है

भगवत्प्राप्तिका सबसे प्रथम और परम आवश्यक साधन है—भगवत्प्राप्तिकी उत्कट इच्छा; ऐसी इच्छा कि जैसे प्याससे मरते हुए मनुष्यको जलकी होती है। इस प्रकारकी तीव्र और अनिवार्य आवश्यकता उत्पन्न हो जानेपर—जैसे प्यासेको जलका अनन्य चिन्तन होता है और जल मिलनेमें जितनी ही देर होती है, उतनी ही उसकी व्याकुलता बढ़ती है, वैसे ही भगवान्‌का अनन्य चिन्तन होगा और हृदयमें भगवान्‌के लिये परम व्याकुलता होगी; इससे सहज ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी।

याद रखना चाहिये, भगवान् किसी कर्मके फलरूपमें नहीं प्राप्त होते, वे तो प्रबल और उत्कट इच्छा होनेपर ही मिलते हैं। ऐसी इच्छा होनेपर अपने-आप ही सारे कर्म उनके अनुकूल हो जाते हैं और साधककी प्रत्येक चेष्टा भक्ति बन जाती है। फिर वह यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रीय और खाना-पीना, सोना-उठना, चलना-फिरना, कमाना-खोना आदि लौकिक सभी कार्य स्वाभाविक ही भगवान्‌के लिये करता है; क्योंकि भगवान् ही उसके परम आश्रय, परम गति और परम प्रियतम होते हैं। उसकी सारी आसक्ति, ममता और प्रीति सब जगहसे सिमटकर

एकमात्र अपने प्राण-प्राण श्रीभगवान्‌में केन्द्रीभूत हो जाती है। वह अनवरत उन्हींका स्मरण करता रहता है। भगवान् जब इसप्रकार उसकी व्याकुलताको देखते हैं, तब सहज ही आकर्षित होकर उसके सामने प्रकट हो जाते हैं और उसे अपने अंकमें लेकर, अपने हृदयसे लगाकर सदाके लिये निहाल कर देते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

> अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
> तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
>
> (गीता ८। १४)

'जो मनुष्य अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हो जाता हूँ, वह मुझे सहज ही प्राप्त कर लेता है।'

ज्ञान-वैराग्यसे युक्त भक्ति ही प्रेमरूपा बनती है

भगवान्‌के प्रति अहैतुक अनन्य निष्काम प्रेममें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है, परंतु प्रेम यथार्थ होना चाहिये। भक्ति ही पूर्णता प्राप्त कर प्रेमके रूपमें परिणत हो जाती है; परंतु वही भक्ति प्रेमरूपा बनती है, जो ज्ञान-वैराग्यसे युक्त है। जिस भक्तिमें भगवान्‌के स्वरूप, उनके महत्त्व और प्रभावका ज्ञान नहीं रहता, वह भक्ति अधूरी होती है और जिस भक्तिमें भोगोंसे वैराग्य नहीं होता, उसमें भगवान्‌के साथ पूर्ण अनुराग होनेकी गुंजाइश नहीं रहती। वैराग्य और ज्ञान—दोनों ही भक्तिके संरक्षक, वर्धक और सहायक हैं। इन दोनोंके अभावमें भक्तिका प्रवाह विशुद्ध अनन्य प्रेमकी ओर न जाकर दम्भ और मोहकी ओर बहने लगता है, जिससे भक्ति दूषित हो जाती है और आगे जाकर वह दम्भके रूपमें परिणत हो जाती है। अतएव ज्ञान-वैराग्यको सहायकरूपमें साथ लेकर ही भक्तिके पवित्र मार्गपर चलना श्रेयस्कर है।

श्रीराधाका प्रेम परम विशुद्ध और उज्ज्वल है

श्रीराधाका प्रेम अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है। उसका वर्णन न श्रीराधा कर सकती है न श्रीमाधव ही करनेमें समर्थ हैं। कहनेके लिये इतना ही कहा जाता है कि वह प्रेम परम विशुद्ध तथा परम उज्ज्वल है। स्वर्णको बार-बार अग्निमें जलानेपर जैसे उसमें मिली हुई दूसरी धातु या दूसरी वस्तुएँ जल जाती हैं और वह अत्यन्त विशुद्ध तथा आबदार हो जाता है,वैसे ही राधाका प्रेम केवल विशुद्ध प्रेम है; किंतु वह स्वर्णकी भाँति जलानेपर विशुद्ध नहीं हुआ है, वह तो सहज ही ऐसा है। सच्चिदानन्दघनमें दूसरी धातु आती ही कहाँसे ? यह तो साधकोंके लिये बतलाया गया है कि श्रीकृष्ण-प्रेमकी साधनामें परिपक्व

व्रजरस—साधकके हृदयसे सांसारिक आसक्तिद्वारा उत्पन्न होनेवाले दोष सर्वथा समाप्त हो जाते हैं और उनका प्रेम एकान्त, परिशुद्ध हो जाता है। श्रीराधामें यह दिव्य प्रेम सहज और परमोच्च शिखरपर आरूढ़ है। इसी राधा—प्रेमका दूसरा नाम 'अधिरूढ़ महाभाव' है। इसमें केवल 'प्रियतम—सुख' ही सब कुछ है।

प्रत्येक स्थितिमें भगवान्‌के मंगलमय स्वरूपको देखो

भगवान् मंगलमय हैं, जगत् भगवान्‌से भरा है, अतएव तुम भी मंगलमें ही निवास करते हो। जैसे बादलसे सूर्य ढका रहता है और जैसे राखसे आग ढकी रहती है, वैसे ही तुम्हारे अविश्वाससे मंगलमय भगवान् ढके हुए हैं। वास्तवमें उनका मंगलमय स्वरूप नित्य और सर्वत्र है।

प्रत्येक स्थितिमें, प्रत्येक सिद्धि—असिद्धिमें, प्रत्येक चिन्तनमें भगवान्‌को—उनके मंगलमय स्वरूपको देखो; फिर तुम्हें कभी अमंगलके दर्शन नहीं होंगे। तुम मंगलमय भगवान्‌को भूलकर, मंगलमयी भगवत्कृपाको भूलकर नित्य अमंगलका चिन्तन, अमंगलकी आशंका और अमंगलका भय करते हो, फलस्वरूप व्यर्थ ही तुम्हारे सामने नाना रूपोंमें अमंगल आ खड़ा होता है। वह तुम्हारी ही कल्पना है, वास्तवमें कुछ नहीं है।

यह निश्चय करो—मैं सर्वत्र, सर्वथा और सर्वदा मंगलसे घिरा हूँ, मंगलसे भरा हूँ, मंगलमें डूबा हूँ, मंगलसे सना हूँ, मंगलसे बना हूँ और मेरे बाहर—भीतर, भूत-भविष्य—सभी मंगलसे ओत—प्रोत हैं, क्योंकि नित्य मंगलमय भगवान्‌का मुझमें नित्य निवास है और मैं नित्य मंगलमय भगवान्‌में स्थित हूँ।

विरोधी विशुद्ध विचारोंद्वारा मनके दोषोंका नाश करो

मनके प्रधान पाँच दोष हैं—विषाद, क्रूरता, व्यर्थचिन्तन, निरंकुशता और गंदे विचार। विरोधी विशुद्ध विचारोंद्वारा इनका नाश करो। प्रसन्नता, सौम्यत्व, मानसिक मौन, मनोनिग्रह और शुद्ध भावोंका परिशीलन—ये इनके विरोधी विचार हैं। भगवान्‌के मंगलमय विधानसे जो कुछ फलरूपमें प्राप्त होता है, सब मंगलमय ही है, चाहे देखनेमें भयानक ही हो; ऐसा विश्वास हो जानेपर प्रत्येक स्थितिमें प्रसन्नता रहेगी। तुम्हारे साथ कोई क्रूरताका बर्ताव करे तो तुम्हें कितना बुरा लगता है और शान्त—सौम्य व्यवहारसे कितना सुख होता है! इसी प्रकार तुम्हारी क्रूरता लोगोंको बुरी लगती है और तुम्हारी सौम्यतासे उनको सुख होता है, इस प्रकारके विचारसे सौम्यता आयेगी।

दिन—रात संसारके अनुकूल—प्रतिकूल विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे चित्तमें कभी शान्ति नहीं होती, अतएव इसके बदले प्रभुके मंगलमय नाम, गुण,

लीला, तत्त्व, रहस्य आदिका चिन्तन—मनन सदा—सर्वदा करते रहनेसे विषयोंके लिये मन मौन हो जायगा। जबतक मन वशमें नहीं है, तबतक वह जहाँ तहाँ भटकता और अशुद्ध संकल्प--विकल्पोंमें पड़कर नये—नये दुःखोंकी सृष्टि करता रहता है। मन वास्तवमें तुम्हारा (आत्माका) सेवक है, स्वामी नहीं; इस बातको अच्छी तरह समझकर मनको वशमें कर लोगे तो वह तुम्हारे नियन्त्रणमें आकर प्रत्येक शुभ प्रयत्नमें तुम्हारा सहायक बन जायगा।

मनमें जो काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, हिंसा, असत्य, स्तेय और मान आदि अशुभ भाव भरे हैं, इनके कारण इन्हींके अनुकूल क्रियाएँ बनती हैं और जीवन अशुभका मूर्तिमान रूप बन जाता है; इन दुर्भावोंकी जगह ब्रह्मचर्य, क्षमा, संतोष, विवेक, विनय, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अमानिता आदिके स्वरूप, गुण और लाभोंका चिन्तन किया जाय तो चित्त शुद्ध भावोंसे भर सकता है। इस प्रकार जब चित्तमें ये पाँचों बातें भलीभाँति आ जायँगी, तब तुम्हारा मानस—तप सिद्ध हो जायगा; फिर तुम्हारा बाहरी व्यवहार भी वैसा ही विशुद्ध होगा।

आत्मस्वरूप सच्चिदानन्दमय, स्वतन्त्र और विभु है

निश्चय करो— तुम आनन्दमय हो, तुम्हारे आनन्दमें कभी कमी हो ही नहीं सकती। किसीकी शक्ति नहीं, जो तुम्हारे आनन्दमें बाधा दे सके और तुम्हारे आनन्दको मिटा सके।

निश्चय करो—तुम्हारी अखण्ड सत्ता है; किसीकी शक्ति नहीं, जो तुम्हारी सत्ताको हिला सके। मौत तुम्हें मार नहीं सकती; क्योंकि मौत भी तुम्हारी ही सत्तासे सत्ताकी है। तुम्हारी सत्ता अखण्ड, अनन्त, अमर और सनातन है। देहके नाशसे तुम्हारा कभी नाश नहीं होता।

निश्चय करो—तुम चेतन हो, नित्य चेतन हो। तुम्हारी चेतनतामें कोई विघ्न उपस्थित नहीं कर सकता। तुम्हारी ही चेतनासे सबमें चेतना है। तुम्हारी यह चेतना अखण्ड और असीम है।

निश्चय करो—तुम स्वतन्त्र हो। मायाका कोई भी कार्य तुम्हें बाँध नहीं सकता। कोई भी किसी भी कालमें तुम्हें परतन्त्र नहीं कर सकता। जेलकी काली कोठरीमें भी तुम सदा स्वतन्त्र हो। कोई भी दीवाल तुम्हारी स्वतन्त्रतामें—तुम्हारी मुक्तिमें बाधा नहीं डाल सकती।

निश्चय करो—तुम स्वामी हो, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीर—सब तुम्हारे गुलाम हैं। तुम इन्हें वशमें कर सकते हो। तुमपर इनका कोई बल नहीं चल सकता। तुम अपने बलको, अपने स्वरूपको भूल रहे हो, इसीसे अपनेको इन मन और इन्द्रियों

आदिके वशमें नाच रहे हो। तुम अपने स्वरूपको सँभालो—बलको याद करो; फिर देखोगे, तुम्हीं सबके स्वामी हो—सब तुम्हारे अनुचर हैं, आज्ञाकारी चाकर हैं।

इस प्रकार तुम अपनेको आनन्दरूप, सत्तारूप, चेतनरूप, स्वतन्त्र और विभु समझो। वस्तुतः तुम्हारा आत्मस्वरूप ऐसा ही है। शरीर और मनसे कोई भी विभु, स्वतन्त्र, चेतन, सत् और आनन्दरूप नहीं है, प्रत्युत ऐसा मानना तो अज्ञान और अहंकार है; जबकि आत्मासे ऐसा न मानना अज्ञान है। आत्मस्वरूपकी उपलब्धि तो तब समझी जाय, जब मानने-न-माननेका प्रश्न ही न रह जाय। वस्तुतः तुम ऐसे ही हो।

अध्यात्म-पथके पथिककी प्रगतिका माप-दण्ड

मानव-जीवनका लक्ष्य है—भगवत्प्राप्ति। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके साधनमें जो लगा है, वही मानव है।

जैसे व्यापारी अपना लेखा-जोखा देखता रहता है कि मुझे क्या घाटा हुआ और क्या लाभ, उसी प्रकार उस साधकको, जो भगवत्प्राप्तिके साधनमें प्रवृत्त हो गया और भगवान्‌की ओर चलने लगा है, अपनी स्थितिपर विचार करते रहना चाहिये। दूसरे लोग मुझे देखकर महात्मा कहते हैं या भक्त, धर्मात्मा कहते हैं या पाखण्डी, इस ओर उसे ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं। उसे तो निरन्तर अपने-आपको देखते रहना है कि वास्तवमें मेरी प्रगति हो रही है या नहीं। उस प्रगतिका माप-दण्ड क्या है, इसे दूसरा मनुष्य नहीं जान सकता, वह तो अपनेद्वारा ही जाना जा सकता है।

जो अध्यात्म-पथपर चलता है, उसके चित्तमें उत्तरोत्तर शान्ति और आनन्दकी वृद्धि होती रहती है। उसके अंदर स्वतः दैवी सम्पत्तिके गुण—अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, प्रेम, दया, करुणा, त्याग आदि प्रकट होने लगते हैं। जब उपर्युक्त गुण प्रकट होने लगें और शान्ति तथा आनन्दका अनुभव हो, तब समझना चाहिये कि हमारी उन्नति हो रही है। हमने नाम बदल दिया, स्थान बदल दिया, वेश बदल दिया, खान-पान बदल दिया—इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। यह साधना अन्तर्मुखी वृत्तिसे होती है, बाह्यवृत्तिसे नहीं। यद्यपि कतिपय बाहरी परिवर्तन भी साधनामें सहायक होते हैं, परंतु वास्तविक साधना होती है अन्तर्मुखी वृत्तिसे ही। उसके लिये दो उपाय हैं—एक तो वृत्तिको सांसारिक पदार्थोंके आकर्षणसे मुक्त करना, दूसरा उसमें भगवान्‌के प्रति राग उत्पन्न करना। रागका अर्थ है—जिसमें जाकर चित्त अटक जाय। इस प्रकारकी वृत्तिको हम आसक्ति कह सकते हैं। भोगोंमें जो हमारी आसक्ति हो रही है, राग

हो रहा है, इसे दूर करनेका नाम है—'वैराग्य' और भगवान्‌की ओर जो हमारा चित्त खिंचता है, इसका नाम है—'राग, असली राग।'

जबतक यह राग विषयोंकी ओर है, जबतक हम विषयानुरागी हैं, तबतक हम सचमुच पतनकी ओर जा रहे हैं। भगवान् शंकर कहते हैं—

सुनहु उमा ते लोग अभागी।
हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥

(मानस ३। ३२। २)

जो भगवान्‌को छोड़कर भोगोंमें राग करता है, भोगोंमें आसक्त रहता है, वह अभागा है। अभागा इसलिये है कि *'बड़ें भाग मानुष तनु पावा'*—बहुत बड़े भाग्यसे मानव-शरीर मिला और उसे प्राप्त करके उसका जो वास्तविक फल है—भगवत्प्राप्ति, उसमें वह नहीं लगा; अन्यान्य फँसानेवाले विषयोंमें, नीची गतिमें ले जानेवाले विषय-भोगोंमें, नरकोंमें ले जानेवाले पापकर्मोंमें यदि लगा रहा तो वह मानव अभागा है, उसका भाग्य फूटा हुआ है। इस दृष्टिसे अपनेको नापना है कि हम कहाँ जा रहे हैं? यदि भगवान्‌में अनुराग बढ़ रहा है तो वास्तविक प्रगति हो रही है। भगवान्‌के प्रति जिनमें अनुरागका आरम्भ हो गया है, उनके मनमें जगत्‌के भोगोंके प्रति अनास्था, विरक्ति एवं उदासीनता आने लगती है। पहले उदासीनता आती है, उपेक्षा होती है, तत्पश्चात् उनका मन भोगोंसे हटने लगता है, उन्हें भोग खारे लगने लगते हैं। जब सांसारिक विषय-भोग कड़वे लगें, तब समझना चाहिये कि वे ठीक मार्गपर चल रहे हैं। उसके बाद शनैः-शनैः उनके मनसे भोगोंकी सत्ता मिट जाती है और केवल भगवान्‌की, जो अपने अनुरागके परम विषय हैं सत्ता रह जाती है। फिर भोग भोगरूपमें ही नहीं रह जाते, अपितु भगवान्‌की लीलाके रूपमें अथवा भगवान्‌की पूजा-सामग्रीके रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं। इसके लिये अन्तर्मुखी वृत्तिसे निरन्तर चेष्टा करनेकी आवश्यकता है। ऐसा नहीं कि हम घड़ी-आध-घड़ी कभी बैठ गये, मन लगा या न लगा, हमने अपना नियम तो पूरा कर लिया। यद्यपि किसी भी प्रकारसे भगवान्‌की स्मृतिके लिये बैठनेका अभ्यास बहुत लाभदायक है, यह साधन भी छोड़ना नहीं है, तथापि इतनेसे काम नहीं चलेगा। यह तो लगातार होना चाहिये। इस विषयमें नारदजी स्पष्ट कहते हैं—

'अव्यावृतभजनात्' (ना० भ० सू० ३६)

भजनके तीन साधन—अभ्यास, रुचि और रति

भजनके तीन साधन हैं—अभ्यास, रुचि और रति। पहले-पहल जब हम सुनते हैं कि भजन बड़ी अच्छी वस्तु है, तब मनमें इच्छा उत्पन्न होती है कि हम इसे कैसे करें? जब हमारे मनमें उसकी महत्ताका कुछ अनुभव होता है, तब

हम समझते हैं कि अब इसे करना ही है। उस समय हम उसमें लगनके साथ लग जाते हैं। उस लगनेका नाम है--अभ्यास।

एक सज्जन कहने लगे कि ध्यान नहीं होता। दूसरेने कहा कि मानस-पूजा नहीं होती। अरे भाई! मानस-पूजा और ध्यान—ये मनके विषय हैं। मनकी वृत्ति जिस आकारकी बन जाती है, उसी आकारकी वस्तु उसे दिखाई देने लगती है। इसी वृत्तिका नाम ध्येयाकार वृत्ति—ध्यान है। यदि हमें गायका ध्यान करना है तो गायके पैरसे लेकर सींगतक सम्पूर्ण शरीरका पूरा-पूरा चित्र पहले मनमें बैठा लेना होगा। मनमें दृढ़ताके साथ मूर्तिके जँच जानेपर हम आँख मूँदकर गायका ध्यान करें। आँखें खुली रहनेपर ध्यान देरसे होता है। आँख मूँद लेनेपर जब जगत्की अन्य वस्तुएँ दिखाई न दें, तब मनकी आँखसे मनपर अंकित गायकी मूर्ति देखें। यदि मूर्ति मनपर अंकित है तो ठीक तौरसे दिखायी देगी, अन्यथा नहीं।

एक सज्जन बोले--हम नित्य आँख मूँदकर ध्यान करने बैठते हैं, चित्र भी सामने रख लेते हैं, पर ध्यान नहीं होता। यदि चित्रमें अंकित श्रीविग्रहका पूरा ध्यान नहीं होता तो उसके एक-एक अंगका ध्यान करना चाहिये। जैसे, भगवान्के श्रीमुख अथवा चरण-कमलको ही ले लें, उनको अपने मनपर पूर्णरूपसे अंकित कर लें। मनपर जो अंकित हो जाता है, मन उसीके आकारका बन जाता है। मन जिसके आकारका बन गया, उसका ध्यान हो गया। इस प्रकारकी मानस-पूजामें भगवान्का श्रीविग्रह तो सामने रहता नहीं, केवल मनपर अंकित भगवद्विग्रह ही रहता है। वहाँ मनकी वृत्ति ही धूप बनती है, मनकी वृत्ति ही उसे जलाती है, मनकी वृत्तिसे ही उसमें धूआँ पैदा होता है और मनकी वृत्तिसे ही वह भगवान्को चढ़ाया जाता है। इस प्रकार मानस-पूजा या मानस-ध्यान होता है, परंतु यदि मनमें वह आकृति बैठ गयी, तभी होता है; अन्यथा नहीं। मनमें उस आकृतिके बैठनेका उपाय भगवान्ने स्वयं बतलाया है--

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २६)

यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिन-जिन शब्दादि विषयोंके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उन-उन विषयोंसे रोककर अर्थात् वहाँसे हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे।'

यह मन बड़ा ही चञ्चल एवं अत्यन्त दुर्धर्ष है। अर्जुन बोले--'महाराज! मनको रोकना तो मेरे लिये बड़ा कठिन है--*'वायोरिव सुदुष्करम्'* (गीता ६। ३४) अर्थात् जैसे हवाको रोकना कठिन है, ऐसे ही मनको भी। भगवान्ने भी उनकी बातका खण्डन नहीं किया और कहा--'तुम्हारा कथन ठीक है, पर तुम महाबाहु

हो, वीर हो। जैसे तुम बाह्यरूपसे वीर हो, उसी प्रकार अपनी आन्तरिक वीरता भी प्रकट करो और अभ्यास करके मनको वशमें करो, कायर मत बनो। तुम यह मत कहो कि मन हमारे वशमें नहीं होता'—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

(गीता ६। ३५)

'हे महाबाहो! मन निःसंदेह दुर्निग्रह अर्थात् बड़ी कठिनतासे पकड़में आनेवाला एवं चञ्चल है, परंतु अभ्यास और वैराग्यसे वह पकड़में आता है, आ सकता है, ग्रहण किया जा सकता है।'

मनुष्य जब पहले-पहल ध्यानका अभ्यास करनेके लिये बैठता है तो उसे ऐसी व्यर्थकी बातें याद आने लगती हैं, जो कभी देखी-सुनी भी न थीं। प्रश्न होता है कि वे बातें आती कहाँसे हैं ? इसका उत्तर यह है कि वे पूर्वजन्मके संस्कारसे घटित होती हैं। स्वप्नमें हम ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ देखते हैं, जो हमने इस जन्ममें कभी नहीं देखी। हमारे मनमें न जाने कितने जन्मोंके संस्कारोंका समूह एकत्र है। मन कभी निकम्मा नहीं रहता। जब ध्यान करनेवाली मूर्तिमें, भगवद्विग्रहमें, भगवान्‌के स्वरूपमें मन नहीं लगता, तब जैसे फिल्मकी वस्तुएँ सामने आकर दीखने लगती हैं, उसी प्रकार मनरूपी फिल्मपर अंकित प्राचीन चित्र दीखने लगते हैं। ऐसी दशामें घबराना नहीं चाहिये; प्रत्युत यह चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ भागे, वहीं-वहींसे उसे बार-बार भगवान्‌में लगानेका अभ्यास करना चाहिये। वस्तुतः मनमें इतनी अधिक शक्ति है नहीं, हमने ही आत्मशक्तिको भूलकर उसे महान् शक्तिशाली मान लिया है।

अर्जुन भी जब अपनी शक्तिको भूलकर मनसे हार मान बैठे, तब भगवान्‌ने अर्जुनको याद दिलाया—'तुम मन-बुद्धिके गुलाम नहीं हो। तुम आत्मा हो, मन-बुद्धिके स्वामी हो। स्थूल इन्द्रियोंसे ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम हैं, उनसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और जो बुद्धिसे भी परे है, वह आत्मा है और वह तुम हो—यों समझकर इस कामरूपी वैरीको मार डालो, घबराओ नहीं।' मनका एक स्वभाव है कि उसे नयी वस्तुओंमें लगाने लगो तो प्रारम्भमें नहीं लगता, पर बार-बार अभ्यास करके लगानेसे अपने-आप लगने लगता है, फिर हटाये नहीं हटता। जैसे पुराने खूँटेपर बँधी हुई गाय नये खूँटेपर नहीं जाना चाहती; यदि ले जाते हैं तो भागकर वापस आ जाती है, रस्सा तोड़कर आ जाती है; परंतु कुछ दिनोंतक नये खूँटेपर बाँधकर रखा जाय तो वह पुरानेको भूल जाती है और नयेमें रम जाती है। फिर वह उसीको अपना स्थान मान लेती है। ठीक ऐसे ही मन अभ्यासद्वारा भगवान्‌में लगाते-लगाते उन्हींमें रम जाता है। इस प्रकार भजन और

ध्यानका पहला साधन अभ्यास कहा गया है।

पहले-पहल अभ्यास कहीं-कहीं कडुवा भी लगता है। लोग कहते हैं- 'भाई! इतने दिन हो गये, कुछ हुआ तो नहीं, छोड़ो इसे।' इस प्रकार मन ऊब जाता है, उकता जाता है, कभी नींद आने लगती है, कभी-कभी मन घबरा जाता है और घबराकर साधन छोड़ देता है। यदि ठीक अभ्यास किया गया होता तो ऐसा कैसे होता, पर मनमें न तो दृढ़ धारणा थी, न मूर्तिको ही सामने लाया गया, केवल आँख मूँदकर बैठ गये, फिर नयी वस्तुका ध्यान कहाँसे होगा?

अभ्यास करते-करते चित्तके ऊबनेपर, उकतानेपर, घबराहट होनेपर अथवा बुरा मालूम होनेपर भी साधक यदि कड़वी दवा खानेकी भाँति अभ्यास करता चला जाता है तो कुछ दिनोंमें रुचि पैदा हो जाती है। रुचिका अर्थ है--स्वाद आना। जब स्वाद आने लगता है तो रुचि स्वतः होने लगती है। हमलोग कहा करते हैं--'भाई! क्या करें, वैद्यजीके कथनानुसार खा लेते हैं, पर खानेमें स्वाद नहीं आता, रुचि नहीं होती।' वस्तुतः जबतक रुचि नहीं होती, तबतक कमीका ही अनुभव होता है और मन कहता है कि खाकर क्या करेंगे? पर वैद्यजीके कथनानुसार पथ्य लेते-लेते जब रुचि हो जाती है, तब खानेको मन चाहने लगता है। इसी प्रकार अभ्यास करते-करते ध्यानके लिये इच्छा होने लगती है और मन अपने-आप लगने लगता है, स्वाद आता है, रस आता है, रुचि होती है।

रुचिके बाद रति प्रकट होती है। रति कहते हैं--रागको। रतिका नाम ही प्रेम है। चित्तका प्रेमास्पदमें रत हो जाना--उसमें रमण करने लगना ही रति है। चित्त जब रमण करने लगता है अर्थात् चित्तमें जब प्रेम पैदा हो जाता है तो जिस वस्तुमें प्रेम है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। हमलोग जो ऐसा कहते हैं कि हमारा भगवान्‌में प्रेम तो है, पर भगवान्‌को हम भूल जाते हैं—यह हमारी मिथ्या धारणा है। यदि सच्चा प्रेम होता तो हम उन्हें कभी भूल नहीं सकते। प्रेम दोमें नहीं होता है, वह एक जगह ही होता है और जिसमें होता है, वह उसके जीवनका जीवन, प्राणका प्राण और आत्माका आत्मा बन जाता है। रति होनेके बाद निरन्तर भजन और ध्यान होने लगता है।

भगवद्भजन ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है। पहले अभ्यास करे, अभ्यासके बाद रुचि होगी, रुचिके बाद रति होगी। रति होनेके बाद यदि कोई कहे कि तुम इसे छोड़ दो तो यह प्रेमीके लिये असम्भव है। छोड़े कैसे, छूटता जो नहीं। उसे छोड़नेकी कल्पनामात्रसे जैसे श्वास अवरुद्ध होनेपर, दम रुकनेपर व्याकुलता होती है, उसी प्रकारकी, अपितु उससे भी कहीं अधिक व्याकुलता होती है। भजन नहीं होता या छूट जाता है, इसका अर्थ यह है कि अबतक रति उत्पन्न नहीं हुई।

रति उत्पन्न करना ही है—ऐसा दृढ़ निश्चय करके साधनमें लगें तो बात बने।

जगत्‌के समस्त भोग अनित्य हैं

वस्तुतः बात समझमें आती नहीं, यदि आ जाय तो बड़ा अच्छा हो कि संसारके जितने बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे भोग हैं, वे सारे-के-सारे अनित्य हैं, सदा रहनेवाले नहीं हैं। दूसरी बात, ये सब-के सब अपूर्ण हैं, कोई भोग ऐसा नहीं, जिसे प्राप्त करके आप यह अनुभव कर सकें कि अब और कुछ नहीं चाहिये। जितने भोग अधिक मिलेंगे, उतनी ही उनकी चाह अधिक बढ़ेगी। जिसके पास जितना बड़ा भोग-समुदाय है, उसकी भोगोंकी भूख उतनी ही बड़ी होती है और जितनी बड़ी भोगोंकी भूख होती है, उतना ही बड़ा दुःख होता है। जैसे—जितनी अधिक आग होती है, उतनी ही अधिक गर्मी होती है, उसी प्रकार जितना भोग-बाहुल्य है, उतना ही दुःख-बाहुल्य है, ताप बाहुल्य है, यह एक नियम है। अन्य बात समझ लेनेकी यह है कि ये जितने भोग हैं, वे सभी मिलते हैं प्रारब्धसे ही। हमलोग भोग-प्राप्तिके लिये मिथ्या प्रयास करते हैं, झूठ बोलते हैं, छल करते हैं, कपट करते हैं, आपसमें लड़ते हैं—पड़ोसी पड़ोसीसे, भाई भाईसे, पिता पुत्रसे। यह क्यों होता है? इसलिये कि हम मनमें ऐसा मान रहे हैं कि हम प्रयास करके अधिक पा लेंगे, अपनेको हानिसे बचा लेंगे; किंतु यह सिद्धान्तकी बात है कि प्रारब्धका फल प्रायश्चित्तसे, भगवच्छरणागतिसे अथवा ज्ञानसे भले ही जल जाय; किंतु जबतक वह जलता नहीं, तबतक उसका फल भोगना ही पड़ेगा—

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

अतः भोगोंके लिये मिथ्या प्रयत्न करना बहुत बड़ी भूल है। यह भूल मिटानेमें नाम-मनात्र सर्वथा समर्थ एवं स्वतन्त्र हैं।

मानव-जीवनका परम फल—भगवत्प्राप्ति

मानव-योनि भगवत्प्राप्तिरूप महान् पारमार्थिक लाभके लिये ही प्राप्त हुई है। भगवान्‌की महती कृपासे यह साधनधाम मानव-शरीर मिला है। इसे केवल इसी महान् कार्यकी साधनामें लगाना यथार्थ मानवता है। यदि मानव-शरीरका उपयोग भोग-कामना और भोगोपार्जनमें किया जाय तो वह उसका दुरुपयोग ही है, यदि भोगोंके लिये दुर्गुण, दुर्विचारोंका आश्रय लेकर दूषित कर्म किये जायँ, तब तो मानव-जीवनका महान् दुरुपयोग है ही; क्योंकि मानव-जीवनमें किये हुए कर्मोंका फल ही जीवको अनन्त लोकों तथा अनन्त योनियोंमें विविध प्रकारसे भोगना पड़ता है।

जीव जबतक मनुष्य-योनिमें नहीं आता, तबतक तो वह अपने पूर्व मानव-जन्मकृत भोगोंको भोगकर कर्म-ऋणसे क्रमशः मुक्त होता रहता है। पर मानव-शरीर प्राप्त करके यदि भगवत्प्राप्तिके साधनमें नहीं लगता और भोग-प्राप्त्यर्थ

सत्कर्म करता है तो उसे जन्म–मरणके चक्रमें पड़े रहकर सत्कर्मोंके फलस्वरूप विविध लोकों तथा योनियोंमें लौकिक सुख मिलता है, भगवत्प्राप्ति नहीं होती। यह महती हानि है। मानव–जीवनका सुदुर्लभ अवसर हाथसे चला जाता है। यदि वह मानव–शरीरमें दुष्कर्म करता है, तब तो उसे विविध प्रकारकी भीषण नरक–यन्त्रणाओं और विविध जघन्य योनियोंमें जन्म लेकर अपार कष्टोंका भोग करना पड़ता है।

ध्यान रहे, मानव–शरीर–प्राप्ति विफल न हो जाय; नहीं तो फिर बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ेगा। अवसर हाथसे निकल जानेपर कोई भी उपाय नहीं रह जायगा; अतएव जबतक शरीरमें चेतना है, जबतक इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि क्रियाशील हैं, तबतक इनके द्वारा मानव–जीवनके एकमात्र कार्य भगवत्प्राप्तिके साधनमें लग जाओ। लौकिक हानिसे बचनेके लिये या लौकिक लाभकी प्राप्तिके लिये कोई भी ऐसा कार्य कभी भूलकर भी मत करो, जिससे पारमार्थिक लाभमें बाधा पहुँचे और तनिक भी पारमार्थिक हानि हो।

लौकिक विपत्ति वस्तुतः विपत्ति नहीं है; क्योंकि वह तो मरनेके साथ ही मर जायगी। इसी प्रकार लौकिक सम्पत्ति भी सम्पत्ति नहीं है; क्योंकि वह भी मरनेके साथ ही छूट जायगी। यथार्थ विपत्ति भगवान्‌का विस्मरण और सच्ची सम्पत्ति भगवान्‌का पावन स्मरण ही है; इसलिये उस सम्पत्तिको सदा विपत्ति मानो, जो भगवान्‌को भुलाकर आसुरी–सम्पदामें प्रीति उत्पन्न करा दे और उस विपत्तिको सदा परम लोभनीय सम्पत्ति मानो, जो दैवी–सम्पदाका नित्य सांनिध्य प्रदान कर जीवनको एकमात्र भगवान्‌की ओर लगा दे। भगवान्‌का भजन ही जीवन बन जाय।

मानवताकी सफलता एकमात्र भजनमें ही है

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> यः प्राप्य मानुषं लोकं मोक्षद्वारमपावृतम्।
> गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥
>
> (११। ७। ७४)

'जो मनुष्य मोक्षके खुले दरवाजेके समान मनुष्य–देहको पाकर भी अबोध पक्षियोंकी भाँति (स्त्री–पुत्र–परिवारादि) घरमें आसक्त हो रहा है, उसे बहुत ऊपर चढ़कर भी गिरा हुआ ही मानना चाहिये।'

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

> साधन धाम मोच्छकर द्वारा।
> पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
> सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।

कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ।।

(मानस ७। ४२। ४ एवं ४३)

अतएव हमलोगोंको मन लगाकर दृढ़ता और त्वराके साथ भगवत्प्राप्तिके पथपर अग्रसर होना चाहिये। मनुष्य-जीवनका परम और चरम पुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति ही है। जीवनकी अमूल्य घड़ियाँ बीती जा रही हैं। जबतक शरीर स्वस्थ है, तभीतक कुछ कर लीजिये। जब शरीर अस्वस्थ हो जायगा, इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जायँगी, मन व्याधियोंके कारण विचलित हो जायेगा, उस समय भजन सहजमें नहीं हो सकेगा। अभी चेतिये और अपने जीवनका अधिक-से-अधिक समय और मन भगवान्के मंगलमय भजनमें ही लगाइये। तभी मानव-शरीरकी सार्थकता है—

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा।
जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा।।

(मानस ७। ९६। १)

वही शरीर पवित्र और वही सुन्दर है, जिससे भगवान् श्रीराघवेन्द्रका भजन होता है।

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता।।
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जाकर मन राता।।
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना।।
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा।।

(मानस ७। १२६। १-२)

सारे गुणोंकी, धर्मकी, कुलकी, विद्याकी, ज्ञानकी, नीतिकी, बुद्धिमत्ताकी, पाण्डित्यकी, चतुराईकी, विज्ञानकी, और मानवताकी सफलता बस, एकमात्र भजनमें ही है।

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।।

(मानस ७। १२२क)

भगवान्के प्रत्येक दानको आनन्दसे ग्रहण कीजिये

जाना और आना, यही तो संसारका स्वरूप है। यह यात्राका प्रसंग चला ही आ रहा है, चलता ही रहेगा। भगवान्की सृष्टिमें इसका कभी कहीं विराम नहीं है; परंतु सभी अवस्थाओंमें, सभी जगह भगवान् हमारे साथ हैं। इस क्षणभंगुर संसारमें बस, एक भगवान् ही नित्य हैं, जो सदा सब जगह रहते हैं। जीवन-मृत्यु, दुःख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान—सभीमें ये मुख छिपाये सदा हँसते रहते हैं। इनकी मुस्कान बड़ी मधुर है; परंतु ये दीखते नहीं, छिपे रहते हैं। जो अपने सुखकी स्पृहा छोड़कर केवल इन्हींकी ओर अपने मानस-नेत्रोंको लगाना चाहता है, उसके सामनेसे ये योगमायाका पर्दा हटा लेते हैं; फिर तो

सर्वत्र असीम माधुर्य–सौन्दर्य, महान् आनन्द, महती शान्ति, दिव्य ज्योति और शीतल प्रकाश ही दिखाई देता है; इनकी हँसी ऐसी ही होती है——ऐसी ही है।

भगवत्कृपासे असम्भव भी सम्भव हो सकता है, इस बातपर विश्वास कीजिये। आप जैसे और जो कुछ भी हैं, भगवान्के प्रति समर्पित रहिये। आप तो बहुत अच्छे हैं, बहुतोंसे बहुत भले हैं। प्रभु तो महान् पापीको भी ग्रहण करनेमें नहीं सकुचाते। पापीका सारा पाप लेकर स्वयं उसको वैसे ही धोते हैं, जैसे माँ छोटे शिशुका मल धोती है——बिना किसी घृणाके, अत्यन्त स्नेहसे, प्रसन्नतापूर्वक। माताका उदाहरण भी पूरा नहीं घटता; क्योंकि माताका स्नेह प्रभुके स्नेहकी छायाकी छायाको भी नहीं छू सकता। आपको जो कुछ करना पड़े, चमत्कार देखने पड़े, आप अभिमानके पल्ले बाँधकर उनका महत्त्व गँवाइये मत। ये सब भगवान्की लीलाके अंग हैं, इन्हें देख–देखकर प्रसन्न होते रहिये। आनन्द लूटिये। रोनेके अभिनयमें भी अंदर–अंदर हँसिये। उनके विधानके उत्ससे सदा आनन्दका ही स्रोत बहता है। विपत्ति, आपत्ति, प्रतिकूलता–परवशता, अपमान–तिरस्कार, पीडा–मृत्यु——सभीमें उनकी आनन्दभरी मुस्कान देखिये। भगवान्के प्रत्येक दानको आनन्दसे ग्रहण कीजिये।

भगवत्कृपापर निर्भर हो जाइये

श्रीभगवान्के प्रेमकी प्राप्तिको छोड़कर जीवनका अन्य कोई भी उद्देश्य न रहे तथा जीवनमें प्रतिक्षण होनेवाली प्रत्येक चेष्टा इसी उद्देश्यके लिये हो। जैसे गंगाका प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर जाता है, उसी प्रकार जीवन–प्रवाह भगवान्की ओर ही चले——ऐसा प्रयत्न हमलोगोंको करना चाहिये। इस प्रयत्नमें प्रधान बातें हैं——भगवान्की अहैतुकी कृपामें विश्वास, 'भगवान् ही एकमात्र प्राप्त करनेयोग्य सर्वश्रेष्ठ परम वस्तु हैं', यह निश्चय, भगवान्की ओरसे हटानेवाले प्रिय–से–प्रिय और आवश्यक–से–आवश्यक पदार्थमें तुच्छ और त्याज्य–बुद्धि, भगवान्की नित्य–निरन्तर स्मृति बनाये रखनेकी भरपूर चेष्टा, भगवान्के पवित्र नामोंका निरन्तर उच्चारण तथा भगवत्सेवाके भावसे ही शरीर, मन और वाणीकी क्रियाएँ।

भगवान्की कृपामें ऐसी अमोघ और अनिवार्य शक्ति है, जो असाध्यको भी साध्य बना देती है। अपनी समस्त इच्छाओंको, सम्पूर्ण भावनाओंको भगवत्कृपाके प्रति समर्पित कर देना चाहिये। भगवत्कृपा सभीपर है, परंतु हमने अपने–आपको निर्भरताके साथ भगवत्कृपाके प्रति समर्पित नहीं किया है। समर्पण——सब कुछ भगवान्को पूर्णरूपसे सौंप देना ही भगवत्कृपारूप परम लाभकी प्राप्तिका प्रधान साधन है। यह बड़ी सीधी–सी बात है, यदि मनुष्य कर सके। भगवान्की कृपा

तैयार खड़ी है—हमारे सामने, हमारा कल्याण करनेके लिये। बस, विश्वास करके उसपर निर्भर हो जाइये।

कामनाओंका त्याग कीजिये

मन बड़ा ही बलवान और चञ्चल है। यह कामनाओंसे भरा है। ज्यों-ज्यों कामनाओंकी पूर्ति होती है, त्यों-ही-त्यों उसकी कामनाका क्षेत्र बढ़ता जाता है। उसका बल और उसकी चञ्चलता इसमें सहायता करती है। यदि कामनाओंका दमन कर लिया जाय तो यही मन अपना सारा बल परमात्माकी ओर चलनेमें लगा देगा। चञ्चलता तो कामनाओंका त्याग करनेमें ही नष्ट हो जायगी; फिर रह जायगी अखण्ड शान्ति और अपार आनन्द। याद रखना चाहिये, कामनाकी पूर्तिमें—वासनाकी तृप्तिमें दुःख बढ़ते हैं। आनन्द—सच्चा आनन्द तो वासना-कामनापर विजय-प्राप्त करनेपर ही मिलता है। कामनाओंकी पूर्तिसे होनेवाले आनन्दमें और कामनाओंपर विजय-प्राप्तिसे होनेवाले आनन्दमें बड़े महत्त्वका भेद है; परंतु हमें तो उस आनन्दका अनुभव ही नहीं है, इसीसे हम कामना-पूर्तिके आनन्दको आनन्द मानकर, जो वस्तुतः सच्चे आनन्दका सच्चा आभास भी नहीं है, विषयोंके पीछे भटक रहे हैं। आप निश्चय कीजिये कि भगवानसे बढ़कर कोई है ही नहीं। यदि मन केवल उन्हींकी कामना करने लगेगा तो वह स्वयं निहाल हो ही जायगा, आपको भी निहाल कर देगा। फिर तो आप आनन्दमें मग्न हो जायँगे।

भगवान् शीघ्र सुनते हैं

आपसे मेरी बार-बार यही प्रार्थना है कि आप भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर विश्वास करें। छोटे बालककी भाँति आप अपनेको श्रीभगवान्‌के सामने छोड़ दें; फिर आपको प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं होगी; सुन्दर चटकीली भाषामें और अच्छे सुरीले शब्दोंमें पदगान करके उनको रिझानेकी बाहरी क्रिया नहीं करनी पड़ेगी। जैसे स्नेहमयी जननी मैलमें सने बच्चेको, उसके बिना कहे ही स्वयं अपने हाथों धोती, पोंछती है तथा सजाकर गोदमें बैठा लेती है, वैसे ही भगवान् भी अपने-आप ही आपकी सँभाल करेंगे। भगवान्‌ने अपनेको शिशुकी भाँति उनपर छोड़ देनेवालेका 'योगक्षेम' स्वयं वहन करनेकी प्रतिज्ञा की है—'*योगक्षेमं वहाम्यहम्*' (गीता ९। २२)

माताके हृदयमें स्नेह है, वात्सल्य है, जो उसे अबोध शिशुकी सार-सँभाल करनेके लिये बाध्य करता है; फिर भगवान् तो माताओंकी माता हैं। अनन्त मातृहृदयोंमें अनादि कालसे लेकर अनन्त कालतक जो स्नेहका अखण्ड स्रोत बहता रहता है, कभी सूखता ही नहीं, उसका मूल उद्गमस्थान कहाँ है ? वह है भगवान्‌में। जगत्‌में स्नेह-सुधा-रसके जो बिखरे हुए अनन्त कण दिखायी पड़ते

हैं, वे सब के-सब एकत्र कर लिये जायँ तो भी भगवान्‌के अनन्त गम्भीर स्नेह-सुधार्णवकी एक बूँदके बराबर भी नहीं होंगे। अतएव जगत्‌के जीवोंके प्रति भगवान्‌की स्वाभाविक कृपा है, सहज सौहार्द है।

सब जीव भगवान्‌के अंश हैं, सदा उन्हींकी गोदमें हैं; पर जैसे बालक कभी-कभी अज्ञातवश स्नेहमयी माताको कठोर समझ लेता है, उसके व्यवहारमें रूक्षता, कटुता, विषमता और उपेक्षा देख पाता है, वैसे ही अज्ञानी जीव भी भगवान्‌को स्नेहशून्य, कठोर, पक्षपाती और उदासीन मान लेता है एवं कह बैठता है कि भगवान् मेरी एक भी नहीं सुनते; पर वास्तवमें ऐसा है नहीं। भगवान्‌के समान शीघ्र पुकार सुननेवाला अन्य कोई है ही नहीं। हम किसी भी भाषामें अथवा बिना ही कुछ बोले मन-ही-मन भगवान्‌से अपने मनकी बात कहें, भगवान् तुरंत सुनते हैं और हमारे समझानेमें त्रुटि होनेपर भी वे उसे यथार्थ समझ लेते हैं तथा उसी क्षण उसका आशापूर्ण उत्तर भी दे देते हैं। भगवान् हमारे पूर्वके पापोंको नहीं देखते, हमारे पापाचरणपर ध्यान नहीं देते; क्योंकि वे पतितपावन हैं। वे तो बस, इतना ही चाहते हैं कि जीव मुझपर विश्वास करके उसी प्रकार मेरा आश्रय ले ले, जैसे छोटा शिशु माताके आश्रित होता है।

उनके सामने हृदयको खोलनेकी आवश्यकता है, वाणीको नहीं। वे हृदयमें रहते हैं, उनसे कुछ भी छिपा नहीं; इसलिये जो लोग अपना हृदय खोलकर उनके सामने अपने पाप-तापोंको रख देते हैं, भगवान् उन्हें अपना लेते हैं और ऐसा बना देते हैं कि फिर उन्हें पाप-ताप छू भी नहीं सकते; परंतु जो लोग पापोंको छिपाकर भगवान्‌को धोखा देना चाहते हैं, उनके सामने दम्भ करते हैं, वे अन्तर्यामी भगवान्‌के सामने कुछ छिपा तो सकते ही नहीं, उनकी पतितपावनताके प्रभावसे वञ्चित अवश्य रह जाते हैं।

अतएव आप श्रीभगवान्‌की कृपापर विश्वास करके उनके निज-जन बन जाइये; फिर वे आपके दोषोंको नहीं देखेंगे। भगवान्‌का स्वभाव इतना मृदुल है कि वे अपने जनोंका दोष न देखकर उन्हें सहज ही अपना लेते हैं--

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(मानस ७। १। ३)

जब भगवान् आपको अपना लेंगे, तब आप सहज ही पाप और संतापसे सर्वथा रहित हो जायँगे; फिर समस्त दिव्य गुण अपने-आप ही अपनेको सार्थक करनेके लिये आपकी शरणमें आ जायँगे--

जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्यो।
सोइ सुसील, पुनीत, बेदबिद, बिद्या गुननि भर्यो॥

(विनयप० २३६)

ज्ञान–प्राप्तिके उपाय

सम्पूर्ण गीता कह जानेके बाद अठारहवें अध्यायके अन्तिम भागमें श्रीभगवान् अपने यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके उपाय बताते हैं। गीता तो सुना ही दी थी, फिर क्या आवश्यकता थी उपाय बतलानेकी? उपाय बतलानेका यही तात्पर्य है कि केवल पढ़ने–सुननेसे काम नहीं चलेगा, पढ़-सुनकर वैसा आचरण करना पड़ेगा, तब भगवान्‌की 'परा–भक्ति' मिलेगी और परा भक्ति मिलनेपर भगवत्कृपासे भगवान्‌के यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति होगी। वे उपाय हैं—सम्पूर्ण पाप–ताप, छल–छिद्र, दम्भ–दर्प और ऐसे ही अन्यान्य दोषोंको मिटाकर बुद्धिको परम शुद्ध करना, एकान्तमें बैठकर वृत्तियोंको संयत करना, परिमित और शुद्ध आहार करके शरीरका शोधन करना, मन, वाणी और शरीरपर अपना अधिकार स्थापन करना, दृढ़ वैराग्य धारण करना, नित्य भगवान्‌का ध्यान करना, विशुद्ध धारणासे अन्तःकरणका नियमन करना तथा शब्दादि समस्त विषयोंका त्याग; अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग, सब जगहसे ममता हटाकर चित्तको सर्वथा शान्त करना आदि; इसके बाद ब्रह्मभूत अवस्था, अखण्ड प्रसन्नता, शोक और आकांक्षासे रहित सम स्थिति तथा सम्पूर्ण भूतोंमें समता—एकात्म–भावके प्राप्त होनेपर भगवान्‌की 'परा- भक्ति' प्राप्त होगी। उस परा–भक्तिसे भगवान्‌के तत्त्वका (अर्थात् भगवान् कैसे हैं, क्या हैं) ज्ञान होगा। ऐसा यथार्थ ज्ञान होते ही भक्त भगवान्‌में प्रवेश कर जाता है।

भूत–भविष्यकी चिन्ता न करके वर्तमानको सुधारो

पहलेके दोषों और पापोंके लिये चिन्ता न करो, उससे कोई लाभ नहीं, जो होना था, वह हो चुका। चुपचाप बैठे रहकर भविष्यके लिये भी शोक न करो। जहाँतक बने, वर्तमानको सुधारो; फिर भूत और भविष्य——दोनों अपने–आप ही सुधर जायँगे। वर्तमानमें प्रयत्न करके भगवत्कृपासे यदि तुम भगवान्‌को पा गये तो पूर्वके समस्त कर्म जल जायँगे और भविष्य तो परम कल्याणमय हो ही गया। वास्तवमें तुम भूत, भविष्यत्, वर्तमान——इस काल–भेदको लाँघकर इससे आगे उस स्थितिमें पहुँच जाओगे, जहाँ काल–भेद और देश–भेद है ही नहीं। वहाँ केवल आनन्द–ही–आनन्द और ज्ञान–ही–ज्ञान है।

यह होगा वर्तमानपर ध्यान रखनेसे ही। तुम्हारे हाथमें वर्तमान ही है। इसका एक–एक क्षण भगवान्‌में लगाओ। बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको सब ओरसे बटोरकर सर्वतोभावसे भगवान्‌की सेवामें लगा दो! याद रखो, जीवनका काल बहुत थोड़ा है, यदि यह बीत गया तो फिर पछतानेसे कुछ भी नहीं होगा; क्योंकि

भगवत्प्राप्तिका अधिकार इस मानव-जीवन में ही है। यह यदि नष्ट हो गया तो एक बहुत अच्छा सुअवसर तुमने हाथसे खो दिया। अतएव न भूतकालके कार्योंके लिये पश्चात्ताप या चिन्ता करो, न भविष्यकी किसी स्थितिकी बाट देखो; प्रत्युत सब ओरसे चित्त हटाकर जीवनके इस परम उद्देश्यकी सिद्धिके साधनमें वैसे ही लग जाओ, जैसे अत्यन्त भूखा मनुष्य सामने भोजन पाकर सबसे पहले उसे खानेमें लग जाता है।

धनका नहीं; धर्मनिष्ठा, सदाचार और त्यागका महत्त्व है

जो धन न्याय तथा सत्यके साथ उपार्जित किया गया है और जो ट्रस्टके धनकी भाँति किसी सच्चे, ईमानदार और कर्तव्यपरायण पुरुषके पास सावधानी तथा उदारताके साथ व्यय करनेके लिये सुरक्षित है एवं जिसका सदा सद्व्यय हो रहा है, ऐसा धन ही पवित्र है। जिसके पास ऐसा भगवान्‌की सम्पत्तिरूप पवित्र धन है और जो उसे निरन्तर भगवान्‌की सेवामें लगा रहा है, वही वास्तवमें धनी है। उसीके लिये धन सुखरूप और वरदानरूप है।

जो धनपर अपना अधिकार मानता है और अपने भोग-सुखमें ही उसका व्यय करता है अथवा बटोरकर रखता है, वह वास्तवमें धनी नहीं है। वह वैसे ही चोर है, जैसे दूसरेकी वस्तुको हड़पनेवाला होता है। उसके लिये वह धन सदा दुःख तथा अभिशापरूप है। ऐसे धनसे नये-नये पाप ही बनते रहते हैं।

धनका कोई भी महत्त्व नहीं है। महत्त्व है धर्मनिष्ठा, सदाचार और त्यागका। धनतो राक्षसोंके पास भी होता है तथा चोर-लुटेरोंके पास भी हो सकता है। धर्मनिष्ठा, सदाचार और त्यागसे ही धनकी पवित्रता रहती है। जो धन धर्मके द्वारा नियन्त्रित नहीं है, जिससे असदाचार और भ्रष्टाचार होता है या जो अधर्म एवं भ्रष्टाचारके द्वारा उपार्जित और रक्षित होता है, जहाँ आवश्यकता है, वहाँ जिसका निरभिमानताके साथ त्याग नहीं होता, वह धन जहाँ जाता है, वहीं अपवित्रता उत्पन्न करता है, गंदगी फैलाता है, नैतिक पतनका प्रधान कारण बनता है।

धनको धनके रूपमें महत्त्व मिलनेपर वह मनुष्यको चोरी, डकैती, अनाचार, मिथ्याचारमें प्रवृत्त करता है। मनुष्य देखता है कि जिसके पास धन है, उसीका समाजमें आदर होता है, वही श्रेष्ठ माना जाता है और उसके सारे दोष ढक जाते हैं; इसलिये वह किसी प्रकारसे भी धनोपार्जन करके समाजमें सर्वश्रेष्ठ तथा सम्मान्य बनना चाहता है। इस प्रकार मनमें धनका महत्त्व होनेके कारण समाज 'चोर-पूजा' करने लगता है। फिर चोरी, डकैती, मिथ्याचार आदि घृणाकी वस्तु न रहकर गौरवकी वस्तु बन जाते हैं। इसलिये कभी भी धनको महत्त्व मत दो। धर्मनिष्ठा, सदाचार और त्यागको महत्त्व दो। जिसमें धर्मनिष्ठा, सदाचार और त्याग है, वह श्रेष्ठ है, वही सम्मान्य और पूज्य है; धनवान नहीं। यही समझो और यही लोगोंको समझाओ।

कम-से-कम अपने लिये तो यही निश्चय करो कि यदि हमारा धन सत्य तथा न्यायके द्वारा उपार्जित है, हममें धनका अभिमान नहीं है। यदि हमारा धन भगवान्‌की सेवामें लग रहा है, तभी हम श्रेष्ठ हैं; अन्यथा धनराशि भले ही कितनी ही प्रचुर हो, हम श्रेष्ठ नहीं, नीच हैं और सर्वथा घृणाके पात्र हैं।

जिस समाजमें धर्मनिष्ठा, सदाचार और त्यागका आदर-सम्मान होता है और इनसे रहित धनका तिरस्कार होता है, उस समाजमें उत्तरोत्तर अधिक पवित्र आचारका प्रसार होता है। वही समाज आदर्श और सुखी होता है। वहाँ चोर-पूजा नहीं होती, त्यागीकी पूजा होती है और जहाँ त्यागीका आदर होता है, वहाँ सभी लोग त्यागी बनना चाहते हैं। त्यागमें ही शान्ति है और जहाँ शान्ति है, वहीं सुख है।

ईश्वर जो कुछ करते हैं, सब कल्याणकर ही है

विपत्तिमें घबराकर ईश्वरकी महती कृपाका अपमान न करो। निश्चय रखो, विपत्तिहारी भगवान् ही विपत्तिके रूपमें तुम्हारी असली विपत्तिका हरण करने और तुम्हें विपत्तिसे यथार्थतः बचनेका साधन बताने आये हैं। यदि तुम्हारा विश्वास होगा तो तुम्हें यह बात प्रत्यक्ष दिखलायी देगी।

बहुत-सी विपत्तियाँ तो ऐसी होती हैं, जो अत्यन्त कड़वी दवा या लंबी शल्य-चिकित्साकी भाँति देखनेमें बड़ी भयावनी प्रतीत होती हैं, पर उनका परिणाम दवा या शल्य-चिकित्सासे रोग-नाशकी भाँति कल्याणकारी ही होता है। मनुष्य इन औषधरूप साधनोंको ही विपत्ति मानकर कभी-कभी भगवान्‌के प्रति रुष्ट-सा होने लगता है। यह उसकी भूल है। उसे समझना चाहिये कि माँकी मारमें भी प्यार भरा रहता है। माँ चाहे कभी भूल भी कर जाय या क्रोध-विषाद आदिके आवेशमें सचमुच बुरा करके पीछे पछताये भी, परंतु ज्ञानस्वरूप परम प्रेमी ईश्वरसे न तो भूल ही हो सकती है और न उनके द्वारा आवेशमें किसीका अकल्याण ही सम्भव है। ईश्वर जो कुछ करते हैं, सब कल्याणकर ही है। कल्याणमय ईश्वरमें अकल्याण असम्भव है।

पापोंमें प्रवृत्ति ही दुःखोंका कारण है

यह सर्वथा सत्य है कि वर्तमान समयमें सारे संसारमें उत्तरोत्तर दुःख ही बढ़ रहा है, पर इसके लिये क्या किया जाय? फल तो वही मिलेगा, जैसा बीज बोया जायगा। भगवान् व्यासदेवने कहा है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

'मनुष्य पुण्यका फल (सुख) तो चाहते हैं, परंतु पुण्य (पवित्र कर्म) करना नहीं चाहते। इसी प्रकार पापका फल (दुःख) कोई नहीं चाहते, परंतु पाप (बुरे कर्म) करते हैं यत्नपूर्वक (नये-नये ढूँढकर)।'

इस समय जगत्‌के मानवकी यही दशा है। घोर तमोगुणसे उसकी बुद्धि इतनी विपरीत हो गयी है कि उसे पापमें ही पुण्यकी झाँकी हो रही है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(१८। ३२)

'अर्जुन! जो तमोगुणसे ढकी हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है और सारी बातोंको विपरीत ही देखती है, वह बुद्धि तामसी है।'

जबतक बुद्धि पापको पाप बतलाती है, तबतक पाप करनेवाले पुरुषको पापमें हिचक होती है और वह बार-बार बुद्धिकी प्रेरणा पाकर पापको छोड़ भी सकता है; परंतु जब बुद्धि पापको पुण्य बतलाती है, तब तो पापमें उसका मन गौरवका अनुभव करता है और वह नित्य नये-नये पापोंमें प्रवृत्त होकर अपनेको सफल-जीवन मानने लगता है। आजके मानव-समाजकी प्रायः यही स्थिति है, तब आप ही विचारिये सुख कैसे हो सकता है! आज जो सर्वत्र दुःखका तूफान आ रहा है, इसका यही कारण है। बीज अनन्तगुना होकर फल दिया करता है। हमारे पाप ही आज अनन्तगुने होकर दुःखके रूपमें फल रहे हैं। जबतक हमारी यह तामसी बुद्धि नहीं बदलेगी, जबतक हम पापको पाप समझकर उसका परित्याग नहीं करेंगे, तबतक निश्चय जानिये, दुःखोंकी मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी। फिर चाहे मोहवश हम उसको उन्नति—अभ्युदय कहें या अन्य किसी गौरवप्रद नामसे पुकारें। असली सुख-शान्ति तो तब होगी, जब सारी विषय-कामनाको छोड़कर हम श्रीभगवान्‌का भजन करेंगे—

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम॥
(मानस ५। ४६)

नाम-जपका अभ्यास बढ़ाना चाहिये

सच्ची बात यह है कि डटकर भजन नहीं होता। भजन बने बिना विषयोंकी आसक्तिरूप अन्तःकरणका दोष नष्ट नहीं होता और जबतक विषयासक्ति रहती है, तबतक मन्दिरमें बैठकर ठाकुरजीकी पूजा करनेमें भी विषय ही ठाकुरजी बने रहते हैं। इसलिये वह भगवत्पूजन न होकर प्रकारान्तरसे विषय-सेवन ही होता है। फिर दूकान-कारखाने आदिके काममें तो भगवद्बुद्धि होना अत्यन्त कठिन है। भूलसे कभी-कभी मान लेते हैं—भगवत्-सेवन हो रहा है, परंतु हृदयके भीतर घुसकर देखनेपर पता लगता है कि यह तो शुद्ध विषय-सेवन ही है। होना चाहिये जगत्‌का विस्मरण होकर एकमात्र भगवान्‌का स्मरण, होता है

भगवान्का विस्मरण होकर विषयोंका स्मरण। यह दशा है। वातावरण बहुत अशुद्ध है। सभी क्षेत्रोंमें दम्भ, दूकानदारी, दिखावटीपन आ गया है। अतएव भजनके सिवा और कोई भी उपाय दृष्टि-पथमें नहीं आता। मन लगे, न लगे, किसी प्रकार भी चौबीस घंटेमें सब मिलाकर अठारह घंटे नाम-जप होता रहे, इसके लिये चेष्टा करनी चाहिये। भक्त लोग तो आठ पहरमें साढ़े सात पहर भजन किया करते थे। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है--

साढ़े सात पहर जाय भक्तिर साधने।
चारि दण्ड विश्राम ताओ नाहे कोने दिने।।

पर हम तो काम छोड़कर अलग बैठ सकते नहीं। बैठनेसे भी क्या होगा ? भजनका अभ्यास न होगा तो नींद, आलस्य और प्रमादमें समय बीतेगा। अब जहाँ बड़े-बड़े कामोंके लिये राग-द्वेष होते हैं, फिर छोटी-छोटी बातोंके लिये होने लगे। घर बड़ा हो या छोटा, है घर ही और राग-द्वेष अपने साथ हैं ही। कहीं भी चले जायँ, कितनी ही बड़ी या छोटी दुनियाँमें रहें, ये राग-द्वेष अपना काम करते ही रहेंगे। अतएव अभी जिस दुनियाँमें हैं, इसीमें रहकर नाम-जप बढ़ाना चाहिये। बस, इसके लिये लाज-शरम छोड़कर अभ्यास डालना चाहिये। मुखसे नामका उच्चारण होता ही रहे। नाम-जप होता रहेगा तो नामके प्रभावसे शेष बातें आप ही हो जायँगी। न होंगी तो भी आपत्ति नहीं। यदि भगवान्का नाम जपते-जपते मृत्यु हो जायगी तो भी जीवन सफल ही है।

जीवनकी परम और चरम सफलता

तुम्हें मनुष्य इसलिये नहीं बनाया गया है कि तुम अपनी बुद्धिका दुरुपयोग करके जन्म-मृत्युके चक्रको और भी लंबा कर लो, अज्ञानके बन्धनको और भी सुदृढ़ कर लो, आसुरी योनियों तथा अत्यन्त पीड़ादायक नरकादिमें पचनेकी और भी निश्चित सुव्यवस्था कर लो। तुम्हें तो यह मानव-शरीर मिला था--जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटकर अपने सत्य नित्य चिदानन्दघन आत्मस्वरूपकी प्राप्ति या भगवान्की प्राप्तिके लिये, समस्त बन्धनोंको सदाके लिये काट डालनेके लिये और नित्य-निरन्तर भगवान्में ही स्थित रहनेके लिये।

अब भी समय है। अब भी चेतकर सन्मार्गपर आनेसे काम बन सकता है। अब भी मानव-जीवन सफल हो सकता है। तुम आज ही, अभी इस सत्यको समझकर इसे स्वीकार कर लो और शरीर तथा शरीरके सम्बन्धसे कहे जानेवाले नामोंमें स्वरूपकी मिथ्या कल्पना छोड़ दो एवं अपनेको नित्य-सत्य-चिद्घन आत्मा समझ लो या भगवान्की लीलामें सेवा करनेवाला एक भगवान्का अनन्य सेवक मान लो। फिर जगत्के प्राणी-पदार्थोंमें तुम्हारी ममता, आसक्ति, उनके लिये आशा और उनमें कामना नहीं रहेगी, फिर व्यावहारिक जगत्में सारे काम

होंगे या तो स्वप्नकी तरह या भगवान्‌की पवित्र सेवाके रूपमें। ऐसा होते ही तुम्हारी सारी चिन्ताएँ दूर हो जायँगी, पापकी कल्पना तुम्हारे चित्तके समीप भी नहीं आ सकेगी और तुम यहीं आत्मस्वरूप या भागवत-जीवनमें सुप्रतिष्ठित होकर जीवनकी परम और चरम सफलताकी प्राप्ति कर लोगे।

सद्‌गुरु

आजकल चारों ओर गुरुओंकी भरमार है, कौन सद्‌गुरु है, कौन नकली है—इसका पता लगना सहज नहीं है। इस स्थितिमें किसी अंधेके हाथमें लकड़ी पकड़ा देनेवाले अंधेकी जो दुर्दशा होती है, वही इन गुरु-शिष्योंकी होती है। अतएव वर्तमान समयमें गुरुकरण बहुत ही जोखिमकी चीज है। भगवान् सहज जगद्‌गुरु हैं, उन्हींका आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

आज जिस प्रकार दम्भ-छल-कपट चल रहा है, चारों ओर जो अधःपतनकी धूम मची है, इसमें किसीको गुरु स्वीकार करके उसे अपना सर्वस्व मानना, उसकी एक-एक बातको ईश्वर-वाक्य मानकर स्वीकार करना और उसे तन-मन-धन सौंप देना बुद्धिमानीका काम नहीं है। इसमें बहुत अधिक धोखेकी सम्भावना है। खास करके, स्त्रियोंको तो इससे अवश्य ही बचना चाहिये।

सदा सावधान रहिये

साधु-सेवा करना तथा साधु-संगसे लाभ उठाकर भगवान्‌के भजनमें प्रवृत्त होना तो मनुष्यमात्रके लिये आवश्यक कर्तव्य है, पर जहाँ स्त्री तथा शरीर-पूजाकी माँग हो, वहाँ सावधान हो जाना चाहिये, चाहे वहाँ भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन करानेकी ही बात कही जाती हो।

संध्या-वन्दन प्रतिदिन कम-से-कम दोनों समय करना चाहिये। कम-से-कम एक माला गायत्रीका जप द्विजमात्रको करना चाहिये। जो महात्मा संध्या-गायत्रीके त्याग, सदाचारके त्याग तथा शास्त्रोंको न माननेका आदेश देते हैं, उनसे भी सावधान रहना चाहिये। फिर जो असत्य तथा छलका उपदेश देते हों, सदाचारके त्यागको तथा यथेच्छाचारको ही प्रेम बताते हों, भगवान्‌के नामके बदले अपने नाम तथा भगवान्‌के स्वरूपके बदले अपने स्वरूपका ध्यान करनेकी बात कहते हों, उनसे तो विशेष सावधान रहना है।

समय कलियुगका है। सभी ओर दम्भ छाया है। भेड़की खालमें भेड़िये भी घुस गये हैं। संतके नामपर लोभी, लालची भी अब सर्वत्र फैल रहे हैं। साहूकारके नामसे चोरोंका भी बाजार चल रहा है। अतः इस समय विशेष सावधानी रखिये।

भगवान्‌का भजन कीजिये। सदाचारका पालन कीजिये। माता-पिताकी

सेवा कीजिये। प्रभुप्रीत्यर्थ घरका काम सच्चाई, ईमानदारी तथा परिश्रमसे कीजिये। इसीमें कल्याण है।

सुखी और श्रेष्ठ मनुष्य

वही मनुष्य श्रेष्ठ है और वही वस्तुतः सुखी है, जो बड़े-से-बड़े विरोधी स्वभाववाले प्राणी-पदार्थके स्वभावसे अपने स्वभावको विचलित नहीं होने देता जिसका स्थिर, शान्त, प्रेमपूर्ण उदार स्वभाव किसी भी परिस्थितिमें डिगता नहीं, वर अपनी सत्य, सुन्दर स्वभाव-निष्ठासे जो विरोधी स्वभाववालेको अनुकूल बना लेता है। जिसका चित्त विरोधी स्वभावके प्राणी-पदार्थोंके सामने आनेपर क्षुब्ध हो जाता है, चञ्चल होकर विकारी बन जाता है और विरोधीके प्रति घृणा करके उसका अनिष्ट-चिन्तन करने लगता है, ऐसे निर्बल चित्तका मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता और न वह परमार्थ-साधनके मार्गपर ही आगे बढ़ सकता है। दूसरेके स्वभावको सहन करके उसका हितचिन्तन करनेवाला मनुष्य भगवान्‌के मार्गपर निश्चित आगे बढ़ता है। कदाचित् ऐसा न हो और किसीका स्वभाव इतना दूषित बन पड़े कि उसका सहन करना असह्य हो जाय तो वहाँ करुण-हृदयसे करुणामय भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'प्रभो! इस भूले हुए प्राणीको आप सद्बुद्धि दें, जिससे इसके दुःखोंका नाश तथा इसका परम हित हो और मेरे स्वभावको ऐसा निर्मल तथा सुदृढ़ बना दें कि वह किसी भी स्थितिमें आपकी मधुर स्मृतिको छोड़कर——किसी स्वभावके कारण पूर्ण क्षुब्ध न हो। हृदयकी सच्ची प्रार्थनाको भगवान् पूरी करते हैं।

जो सबके स्वभावके अनुकूल होकर सबसे हिल-मिलकर रहता है, काम-क्रोध-लोभ, भय-विषाद आदि जिसके चित्तको कभी चलायमान नहीं कर सकते, किसीसे भी किसी प्रकारके सुखकी आशा न करके जो सबकी सेवा करता है; सबको सुख पहुँचाता है तथा सबके साथ रहते हुए ही जो नित्य-निर्विकार, शान्त तथा आनन्दमग्न रह सकता है, वही सच्चा साधक है और वही नित्य-सुखके मार्गपर आरूढ़ है। समस्त चराचर संसार मंगलमय भगवान्‌की अभिव्यक्ति है और सारे भावोंके मूल उद्गम भगवान् ही हैं। यहाँ जो कुछ है, भगवान् हैं; जो कुछ हो रहा है, भगवान्‌की लीला है। इन सभीमें आनन्दमय भगवान् भरे हैं, यों मानकर जो प्रत्येक परिस्थितिमें, प्रत्येक संयोग-वियोगमें, प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल स्वभावमें क्षोभरहित, निर्विकार, शान्त और सुखी रह सकता है, वही सुखी है और उसीको परम सुखरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। आप ऐसा करेंगे तो सुखी हो जायँगे, यह निश्चित है।

भगवान् सदा-सर्वदा हमारे साथ हैं

हमको भगवान् इन आँखोंसे चाहे न दिखायी दें, पर यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि हमारे पास वे सदा-सर्वदा रहते हैं। वे कभी भी हमको छोड़कर अलग

नहीं होते। पर हमारा पूरा निश्चय न होनेसे हम भूले हुए हैं, इसीसे अशान्तिका अनुभव करते हैं। हीरोंका हार अपने गलेमें ही है। वह कपड़ोंसे ढका है। इस बातको भूल जानेसे मनुष्य उसे बाहर ढूँढ़ता है और न मिलनेपर वह दुःखी होता है। जब याद आ गया, बस, कपड़ा हटाकर देख लिया कि हार मिल गया। इसी प्रकार भगवान् सदा सर्वदा हमारे साथ हैं—हृदयमें विराजमान हैं। (केवल निर्गुण निराकाररूपसे ही नहीं, हमारे जाने-माने हुए दिव्य सगुण-साकाररूपमें भी।) विश्वास कीजिये वे सदा साथ रहते हैं।' इसके बाद निश्चय होगा कि 'रहते ही हैं।' अतएव उनकी इच्छा होगी, तब 'दीखने भी लगेंगे।' यह उनकी इच्छापर छोड़ दीजिये। वे सदा साथ रहते हैं, यही क्या उनकी कम कृपा है। उनकी यदि स्वप्नमें भी झाँकी होती है तो यह बड़ा सौभाग्य है, यह उनकी महती कृपा है।

कदाचित् ऐसी बात न जँचे, यद्यपि है तो यह परम सत्य ही, तो उनके न मिलनेसे उनके वियोगमें— विरहमें जो उनका पल-पलमें स्मरण होता है, वह क्या कम सौभाग्य है ? उसमें क्या उनकी कम कृपा है ? वे नहीं चाहते तो न मिलें, न दर्शन दें, बड़े-से-बड़ा दुःख दें, पर वह दुःख यदि नित्य उनका मधुर-मधुर स्मरण कराता हो तो क्या हमारी यह चाह नहीं होनी चाहिये कि उनके इस मधुर-मधुर स्मरण-सुखका महान् आनन्द, महान् सौभाग्य प्रतिक्षण मिलता रहे, फिर वह चाहे वियोग-जनित दुःखसे ही मिलता हो। वह दुःख वस्तुतः परमानन्दरूप है, जो नित्य-निरन्तर प्राण-प्रियतम प्रभुकी स्मृति कराता है।

सत्संग

जिस प्रकार फूलोंके संसर्गसे उनकी गन्ध वस्त्र, जल और भूमिको सुवासित कर देती है, वैसे ही व्यक्तिके संसर्गसे होनेवाले गुण भी अपना असर करते हैं। विषयासक्त मूढ़ पुरुषोंका समागम मोह-जालकी उत्पत्तिका कारण है और प्रतिदिन साधु-महात्माओंका समागम करना धर्मकी उत्पत्तिका हेतु है। अतएव ज्ञानी महात्माओं, अनुभवी वृद्धों, उत्तम स्वभाववाले तपस्वियों और परम शान्तिको देनेवाले सत्पुरुषोंका ही संसर्ग रखना चाहिये।

कुसंग

मनुष्यके उत्थान और पतनके जितने कारण हैं, उनमें संग एक प्रधान कारण है। संगके अनुसार ही मनुष्यका मन बनता है और मनके अनुसार ही मनुष्यसे क्रिया होती है एवं क्रियाके अनुसार ही उसका फल मिलता है। अच्छे हृदयका मनुष्य भी नीच संगसे नीच मनवाला होकर गिर जाता है और असदाचारी मनुष्य भी उत्तम संग पाकर असदाचारसे छूटकर महात्मा बन जाता है। परंतु इतना याद रखना चाहिये कि बुरे संगका प्रभाव साधारण मनुष्यपर जितना शीघ्र और विशेषरूपसे

पड़ता है, उतना शीघ्र और उतनी मात्रामें उत्तम संगका प्रभाव नहीं पड़ता। कारण यह है कि मनुष्यकी प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है, अतएव जैसे जल स्वभावसे ही नीचेकी ओर बहता है, उसी प्रकार प्रकृतिके गुणोंमें स्थित पुरुष भी स्वभावतः पतनकी ओर ही जाता है। अतः कुसंगका सर्वथा परित्याग कर दीर्घकालपर्यन्त सत्संगका सेवन करना चाहिये।

सदाचार

श्रुति और स्मृतिमें कथित अपने नित्यकर्मोंके अंगभूत, धर्मके मूल सदाचारका सावधानीके साथ अवश्य सेवन करना चाहिये। सदाचारसे मनुष्य आयु, इच्छानुरूप प्रजा और अक्षय धनको प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, सदाचारसे अपमृत्यु आदिका भी नाश होता है। जो पुरुष दुराचारी है, उसकी लोकमें निन्दा होती है, वह सदा दुःख भोगता रहता है तथा रोगी और अल्पायु (कम उम्रवाला) भी होता है। इधर विद्यादि सब लक्षणोंसे हीन पुरुष भी यदि सदाचारी, श्रद्धावान् तथा ईर्ष्यारहित होता है तो वह भी पूरे सौ वर्षतक या उससे अधिक भी जीता है।

संतोष

जिस पुरुषको वास्तविक सुखकी चाह हो, उसे भोग-तृष्णाका दमन करके भगवान्‌के विधानानुसार जो कुछ भी सुख-दुःख प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट रहना चाहिये। तृष्णानाशपूर्वक संतोषमें जैसा सुख है, वैसा सुख लोक-परलोकके किसी भी भोगमें नहीं है। शास्त्रोंमें भी कहा गया है--

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

(महाभा० शान्ति० २७६। ६)

'सांसारिक भोगोंमें और स्वर्गादिके दिव्य महान् सुखोंमें कोई-सा भी सुख तृष्णाक्षयके सुखके सोलहवें भागके बराबर भी नहीं है।' योगाचार्य श्रीपतञ्जलिने कहा है--

संतोषादनुत्तमसुखलाभः॥

(योगदर्शन, साधनपाद ४२)

'संतोषसे अनुत्तम सुखकी, निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति होती है।' संतोषसे नित्य सर्वगत आत्मामें स्थिति होती है और तभी सच्चा और अखण्ड निरतिशय आनन्द मिलता है; क्योंकि अनन्त असीम सनातन नित्य सर्वगत अचल अविनाशी आनन्द आत्मामें ही हैं। यह आनन्द ही आत्माका स्वरूप है। इसीसे आत्माराम पुरुषोंको अभावका बोध नहीं होता और वे प्रत्येक स्थितिमें

आत्मानन्दमें ही निमग्न रहते हैं। भगवान्‌ने कहा भी है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता ३। १७)

'जिसकी आत्मामें रति है, जो आत्मामें ही तृप्त है और आत्मामें ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

सरलता

आजके जगत्‌में ज्यों-ज्यों इस जड़पूजापरायण नवीन सभ्यताका प्रचार बढ़ रहा है, त्यों-ही-त्यों मनुष्योंके जीवनमें कपट और दम्भ भी बढ़ रहे हैं। ऊपरसे सुन्दर-सुहावने बने रहना—अंदर चाहे जितनी बुराइयाँ भरी रहें। *'मन मैला तन ऊजला'*—यह आजकी सभ्यताकी एक नीति है। सरल मनका सीधा-सादा व्यवहार आजकल मूर्खता माना जाता है। इसीलिये आजकलका पढ़ा-लिखा नवयुवक अपने सरलहृदय पिताको मूर्ख कहकर उसका अपमान कर सकता है। यद्यपि ऐसी घटनाएँ हमारी प्राचीन सभ्यताके प्रभावसे बहुत कम होती हैं, परंतु इनका आरम्भ हो गया है; यह तो मानना ही पड़ेगा। सरलता शुद्ध हृदयका सुन्दर संकेत है। सरल हृदय ही पवित्र होता है। जो मनुष्य सरलहृदय है, वह अपने पापको प्रकाश करनेमें नहीं हिचकता। हँसी होनेकी कल्पना उसे सत्यसे नहीं डिगा सकती। वह अपनी बुराइयोंको कपटकी चादरतले छिपाना नहीं जानता। जगत्‌को धोखा देकर मिथ्यामान-अर्जन करनेकी कलासे वह अनभिज्ञ होता है। ऐसे मनुष्य जगत्‌के झूठे मान-यशसे और पूजा-प्रतिष्ठासे भले ही वञ्चित रह जायँ, परंतु उनके हृदयमें पापका प्रवेश सहज ही नहीं हो सकता।

सरलहृदयका मनुष्य बुद्धिके अभिमानी धूर्त मनुष्योंकी दृष्टिमें कभी-कभी ठगा जाता हुआ-सा प्रतीत होता है, परंतु वह ठगाकर भी कुछ नहीं ठगाता। परम न्यायकारी और दयालु परमेश्वरके राज्यमें ठगनेवाला धूर्त ही ठगाता है। ठगानेवाला तो सदा लाभमें ही रहता है। सर्वशक्तिमान् भगवान् अपने उस सरलहृदय भक्तके योग-क्षेमको बहुत सुन्दर रूपसे वहन करते हैं। इसलिये वह सब कुछ खोकर भी बदलेमें ऐसी अनुपम वस्तु पाता है, जिसकी तुलना संसारके किसी भी महान्-से-महान् पदार्थसे नहीं हो सकती। अतः सब प्रकार सरल एवं निश्छल होकर भगवान्‌का स्मरण कीजिये। फिर तो सब काम बना-ही-बनाया है। स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(मानस ५। ४३। ३)

मान—बड़ाईकी बीमारी

मान—बड़ाईकी बीमारी बड़ी ही दुःसाध्य है। भगवान्‌की कृपासे ही इसका यथार्थ नाश होता है। मान—बड़ाईसे मनुष्य एक प्रकारका सुख—सा अनुभव करता है। मानसे भी बड़ाईकी कामना अधिक प्रबल होती है। बड़ाईके लिये मनुष्य मानका भी त्याग कर देता है। वस्तुतः मानका ही एक विकसित रूप बड़ाई है। मान—बड़ाई किसी अंशमें लाभदायक भी माने जाते हैं। कारण, मान—बड़ाईके लोभसे मनुष्य कई बार दान—पुण्य, सेवा—सत्संग, भजन आदि सत्कार्य भी करता है। ये मान—बड़ाईकी इच्छा होनेके कारण उसको मोक्ष—स्वरूप महान् फल न दे सकनेपर भी अन्तःकरणकी शुद्धिमें सहायक होते हैं। परंतु मान-बड़ाईकी इच्छा दम्भकी उत्पत्तिमें भी बड़ी सहायक होती है। साथ ही मान—बड़ाईकी इच्छासे किये जानेवाले कर्मका उद्देश्य ऊँचा नहीं होता। सत्संग, भजन आदि भी मान—बड़ाईके उद्देश्यसे होते हैं। ऐसी अवस्थामें ऐसा करनेवालेको सत्संग—भजनकी इतनी चिन्ता नहीं होती, जितनी मान—बड़ाईकी होती है। ध धीरे—धीरे सत्संग—भजनसे उसका मन हट जाता है और फिर जब मान—बड़ाईकी चाहसे भजन—सत्संगादि सत्कार्योंमें मान—बड़ाई मिलनेकी आशा नहीं होती तो वह भजन—सत्संगादिका स्वरूपतः भी त्याग कर देता है। जिन कार्योंमें मान—बड़ाई मिलती है, वह उन्हें ही करता है। अतएव मान—बड़ाईकी इच्छा सन्मार्गमें रुकावट तो है ही, कुसंगवश बुरे लोगोंमें मान—बड़ाई पानेकी इच्छा उत्पन्न होनेपर यह बड़े—से—बड़े पतनका कारण भी बन जाती है। अतः कल्याणकामीको सोच- विचारकर मान—बड़ाईसे अपना चित्त हटा ही लेना चाहिये।

भगवान्‌की कृपा

भगवान्‌की दया सब ओर सदा बरस रही है, उसमें हमलोगोंको अवश्य स्नान करना चाहिये। शोक, चिन्ता, विषाद, भय, निराशा और आलस्य सर्वथा परित्याज्य हैं। भगवान्‌के संनिधिमें ये रह भी नहीं सकते। संसारके भोगोंमें धन—ऐश्वर्य, स्त्री—पुत्र, मान- बड़ाई आदिके मोहमें ज्यादा नहीं फँसना चाहिये। इससे क्लेश होता है। इनके हानि—लाभमें विशेष शोक—हर्ष नहीं करना चाहिये। मूर्ख ही सांसारिक भोगोंके आने -जानेमें हँसते—रोते हैं। हम पद—पदपर भगवान्‌को और भगवान्‌की दयाको देखें। शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाकी चाँदनीकी तरह भगवान्‌की दया सर्वत्र छिटक रही है। शरीर कुछ बीमार है तो दवा लेना ठीक ही है। पर असली बीमारी तो भवरोग है। इस शरीरका रोग कदाचित् एक बार मिट भी गया तो क्या होगा ? मौतके मुँहसे सर्वथा बचना दुष्कर है। भवरोगका नाश करो, उस लंबे रोगकी जड़ काट दो। फिर नित्य निरामय हो जाओगे ! तब कोई रोग न रह जायगा। यह मत सोचो कि हम बड़े पापी हैं, हमें भगवान् कैसे अपनायेंगे ?

उनका द्वार तो सबके लिये खुला है और दीनोंके लिये तो विशेषरूपसे। जो पूर्वकृत पापोंके लिये पछताते हैं और अपनेको पापी, अनधिकारी तथा दीन मानकर भगवान्‌के चरणोंमें जाते डरते हैं, भगवान् उन्हें तुरंत अपना लेते हैं, परन्तु जो पुण्यके घमंडमें भगवान्‌के द्वारपर जाकर भी ऐंठे रहते हैं, उनके लिये उनके खुले द्वार भी बंद हो जाते हैं। भगवान्‌को दैन्य प्रिय है, अभिमान नहीं। इसलिये जहाँतक बने, धनका और इज्जतका अभिमान छोड़कर सबका सम्मान करो। तुम्हारे अंदर यह एक दोष है। तुम कभी-कभी धनके कारण अपनेको दूसरोंसे कुछ बड़ा मान लेते हो, इससे तुम्हारे पारमार्थिक पथमें बाधा आ जाती है। धन भी कोई महत्त्वकी चीज है ? यह तो राक्षसोंके पास बहुत ज्यादा था। रावणकी लंका तो सोनेकी थी। सच्चा धन तो श्रीभगवान्‌का भजन ही है। उसीको इकट्ठा करो। यही धन तुम्हारे काम आयेगा। संसारी ईंट-पत्थरके धनको तो, जहाँतक बने, भगवान्‌की सेवामें लगा दो। उसे अपना मानकर क्यों फँस रहे हो। मेरी बात मानो तो नीचे लिखी सात बातोंपर विशेष ध्यान रक्खो—

१-किसी भी प्राणीसे घृणा या द्वेष न करो।

२-किसीकी निन्दा न करो।

३-धन, विद्या या धर्मके कारण भी अपनेको कभी ऊँचा मत समझो।

४-भगवान्‌की दयाका अनुभव करो।

५-दुःखमें उनकी दयाका विशेष अनुभव करो।

६-सुखमें उन्हें भूलो मत, और—

७-सदा-सर्वदा उनके स्वरूपके चिन्तन और नामके जपका अभ्यास करो।

सत्यका महत्त्व

सत्यका महत्त्व समझमें आ जानेके बाद जरा-सा भी सत्यका अपलाप बहुत ही असह्य मालूम होता है। सत्यके द्वारा प्राप्त होनेवाले अतुलनीय आनन्द और शान्तिका आस्वादन जबतक नहीं होता, तभीतक असत्यकी ओर प्रवृत्ति होती है। श्रीभगवान्‌में पूर्ण विश्वास होनेपर भी असत्य छूट जाता है। आसक्ति, मोह और प्रमादवश ही मनुष्य झूठ बोलता है, और उसके द्वारा सफलताकी सम्भावना मानता है। मनोरञ्जनके लिये भी झूठ बोलना 'प्रमाद' ही है। स्वभाव बिगड़ जानेपर असत्य-त्याग अवश्य ही बड़ा कठिन हो जाता है; परन्तु यह नहीं मानना चाहिये कि वह छूट ही नहीं सकता। वास्तवमें आत्मा सत्यस्वरूप है, आत्माका स्वरूप ही सत्य है; अतएव असत्य आत्माका स्वभाव नहीं है। भूलसे इस दोषको आत्माका स्वरूप मान लिया जाता है। जो बाहरसे आयी हुई चीज है, उसको निकालना असम्भव कदापि नहीं है, पुरानी होनेके कारण कठिन अवश्य है। भगवान्‌की कृपापर भरोसा करके दृढ़तापूर्वक पुराने अभ्यासके विरुद्ध नया अभ्यास किया जाय और बीचमें ही

घबराकर छोड़ न दिया जाय तो असत्यका पुराना अभ्यास निश्चय ही छूट सकता है। इस बातपर अवश्य विश्वास करना चाहिये। दुर्गुण और दुर्भाव आत्मा या अन्तःकरणके धर्म नहीं है, स्वाभाविक नहीं हैं, अतएव इनको नष्ट करना यथायोग्य परिश्रमसाध्य होनेपर भी सर्वथा सम्भव है।

यहाँ एक बात सत्यके स्वरूपके सम्बन्धमें जान रखनी चाहिये कि सत्य वही है, जिसमें किसी प्रकारका कपट न हो और जो निर्दोष प्राणीका अहित न करता हो। सत्यके साथ सरलता और अहिंसाका प्राण और जीवनका-सा मेल है। इनका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। वाणीसे शब्दोंका उच्चारण ज्यों-का-त्यों होनेपर भी यदि कपटयुक्त भावभंगीद्वारा सुननेवालेकी समझमें यथार्थ बात नहीं आती तो वह वाणी सत्य नहीं है। इसके विपरीत शब्दोंके उच्चारणमें एक-एक अक्षरकी या वाक्यकी यथार्थता न होनेपर भी यदि सुननेवालेको ठीक समझा देनेकी नीयत, इशारे या भावोंका प्रयोग करके उसे यथार्थ समझा देनेकी सरल चेष्टा होती है तो वह सत्य है। उच्चारणमें वाणीकी प्रधानता होनेपर भी सत्यका वास्तविक सम्बन्ध मनसे ही है। इसी प्रकार किसी निर्दोष जीवके अहित करनेकी इच्छा या वासनासे जो सत्य शब्दोंका उच्चारण किया जाता है, वह भी परिणाममें असत् और अनिष्ट फलका उत्पादक होनेसे असत्यके ही समान है। मन, वचन तथा तनमें कहीं भी छल न होकर जो सर्वहित दृष्ट्या सरल भाषण होता है, वही वास्तविक सत्य है।

सदाचारकी आवश्यकता

दैवी और आसुरी समाजका यही भेद है कि दैवी समाजमें दैवी गुणोंका आदर तथा ग्रहण होता है और उन्हींको जीवनकी सर्वथा रक्षण करनेयोग्य बहुमूल्य सम्पत्ति माना जाता है एवं आसुरी समाजमें दैवी गुणोंका अनादर तथा त्याग होता है एवं आसुरी गुणोंका सत्कार-ग्रहण होता है तथा उन्हींको जीवनकी परम सम्पत्ति मानकर उनके होनेमें गौरवका अनुभव किया जाता है। आज समाजमें आसुरीभाव बढ़ रहा है, इसलिये सत्य, ईमानदारी, संयम और सदाचार तथा त्यागका तिरस्कार हो रहा है और असत्य, बेईमानी, असंयम, यथेच्छाचार तथा अधिकारको आदर तथा गौरवके साथ ग्रहण किया जा रहा है और इसीको आदर्श मानकर लोग बड़े चावसे आँखें मूँदकर इसी ओर दौड़े चले जा रहे हैं।

किसी युगमें सत्यका आदर था, सत्यवादी ही बुद्धिमान् और चरित्रवान् माना जाता था। हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिरका नाम लोग बड़े आदरसे लेते और उन्हें आदर्श मानते थे। सत्य तथा ईमानदारीकी रक्षाके लिये लोग बड़े-से-बड़ा त्याग करनेको प्रस्तुत रहते थे। झूठ बोलना या किसीको धोखा देना समाजमें ही नहीं, प्रत्येक व्यक्तिके अपने मनमें भी बड़ा भारी अपराध था। कोई ऐसा करता या किसीका असत्य, बेईमानी या धोखेका बर्ताव साबित हो जाता तो समाजमें

उसका तिरस्कार होता था। पर आज यह बात नहीं है। आज सभी जानते हैं कि हमारे यहाँ बड़े-से-बड़े व्यापारी भी ऐसे कोई बिरले ही हैं, जो सच्चे तथा ईमानदार हों तथा जो व्यापारमें चोरी, बेईमानी न करते हों। आज झूठ, चोरी, बेईमानीको दक्षता, बुद्धिमानी, चातुरी और व्यापार-कुशलता समझा जाता है और ऐसे लोग छाती ठोंककर समाजके सामने अपना बड़प्पन प्रकट करते हैं तथा समाज उनका समर्थन तथा उनके बड़प्पनको स्वीकार ही नहीं करता, उनकी पूजा करता, उन्हें सम्मान देता और उनका अनुकरण करना चाहता है।

इसी प्रकार आज संयमका तिरस्कार हो रहा है। जहाँ हमारी गृहदेवियोंका आदर्श सीता, सावित्री, लोपामुद्रा, अनसूया, सुकला-सरीखी त्यागमूर्ति, पतिव्रता सतियाँ; कौसल्या, सुमित्रा, विदुलाके समान माताएँ; मैत्रेयी, गार्गी, विश्ववारा, अपाला, चूडाला-सरीखी ज्ञानमूर्तियाँ, और दुर्गावती, लक्ष्मीबाईके सदृश वीरांगनाएँ थीं, वहाँ आज सिनेमा-संसारकी विलासविभ्रम-रता, यथेच्छाचारिणी नर्तकियाँ आदर्श हो रही हैं। सीता, सावित्रीका उपहास होता है, सतीत्वको कुसंस्कार बताया जाता है, सीता-सावित्रीके सच्चे इतिहासोंको स्त्रियोंकी स्वतन्त्रताका अपहरण करनेके लिये पुरुषोंद्वारा गढ़ी हुयी 'कहानियाँ' कहा जाता है और केवल नृत्य, गीत, अभिनयकलाको ही आर्य-संस्कृतिका मुख्य रूप बताकर हमारी बहू-बेटियोंको उसी ओर लगाया जाता है और उनके मनमें सिनेमाकी नर्तकी बननेकी अदम्य लालसा उत्पन्न की जाती है! इसके तीन प्रधान कारण हैं—पहला सम्मान, दूसरा प्रचुर अर्थकी प्राप्ति और तीसरा असंयमकी छूट।

सिनेमाकी नर्तकियोंका आज प्रायः सर्वत्र सम्मान होता है, उनके आचरण तथा व्यवहारकी ओर जरा भी न देखकर उनके शरीर-सौन्दर्य, सुरीले-स्वर और अभिनय-चातुरीको सबसे बड़ी बात माना जाता है। आज महात्माके दर्शनोंके लिये शायद कोई भी अध्यापक, तरुण विद्यार्थी या व्यापारी इतना लालायित नहीं रहते, जितना किसी सिनेमाकी नटीके दर्शनार्थ।

सीना, पिरोना, कसीदे काढ़ना, मोजे-गंजी बुनना, खाद्य-पदार्थोंका निर्माण करना तथा अन्यान्य गृह-शिल्पकी शिक्षा इसीलिये लड़कियोंको दी जाती थी कि जिससे वे स्वयं इन निर्दोष कामोंको करके घरकी आवश्यकताको बिना खर्चके पूरी कर सकें और कभी विपत्तिमें पड़नेपर इन निर्दोष कामोंके द्वारा अपनी आजीविका भी चला सकें; परन्तु नृत्य-गीत ऐसी चीज है, जो मनोरञ्जनकी वस्तु है तथा ललित कलाके नाते आदरणीय भी है; परन्तु उसके द्वारा आजीविका चलानेका काम तो नृत्य-गीत-वृत्तिके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे होता नहीं, इसीसे मनमें रहता है कि लड़की नृत्य-गीत सीखी हुई रहेगी तो कभी उसे सिनेमामें

अवसर मिल सकता है; क्योंकि सिनेमामें जितनी पैसोंकी आमदनी होती है, उतनी किसी भी अन्य छोटे व्यापार या नौकरीमें सम्भव नहीं। यह एक बड़ा आकर्षण है।

तीसरी बात है—असंयमकी। संयम, नियम आदिसे जीवन पवित्र और आदर्श बनता है; परंतु उसके लिये कुछ त्याग करना पड़ता है, मन—इन्द्रियोंको पतनके प्रवाहसे रोकनेके लिये प्रयास करना पड़ता है, परंतु संयम-नियमके त्यागमें और मन—इन्द्रियोंके पतन—प्रवाहके साथ बहनेमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता और जहाँ संयम—नियमके त्यागकी और यथेच्छाचारकी प्रशंसा होती है, वहाँ तो वह और भी प्रलोभनकी वस्तु बन जाता है। सिनेमा—नर्तकी इस संयमहीनताके पथमें होड़ बदकर मानो दौड़ लगाती है। पर—पुरुषका अबाध दर्शन और मिलन ही नहीं, परस्पर अंगोंका स्पर्श——यहाँ जरा भी दोषकी बात नहीं माना जाता। बल्कि उसमें दोष देखनेवालोंकी हँसी उड़ायी जाती है। परिणाम भी प्रत्यक्ष है। वे नट—नटी इन्द्रिय-विजयी शुकदेव तो हैं नहीं, स्खलन सहज है। बड़े—बड़े त्यागी, तपस्वी, संयमी पुरुष भी जब संग—दोषसे पतित हो जाते हैं, तपस्वी—त्यागियोंके आश्रमोंमें भी दोष हो जाते हैं, तब रात—दिन शृंगार—विलासमें रहते हुए इन इन्द्रियाराम प्राणियोंका पतन होना कौन आश्चर्यकी बात है। शास्त्रकारोंने आठ प्रकारके मैथुन बतलाये हैं——

श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।।

(दक्षस्मृति ८)

चर्चा सुनना, चर्चा करना, मिलकर खेलना, देखना, एकान्तमें बातचीत करना, संकल्प करना, प्रयत्न करना, और अंग—संग करना। इनमें पहले पाँच तो स्वाभाविक होते ही रहते हैं। कहाँ तो यह आदर्श था कि श्रीसीताजी हनुमानका स्पर्श करना भी पाप मानती हैं और कहाँ हास—विलासमें लगे हुए इन दुर्बलहृदय मनुष्योंके रात—दिन इस प्रकार साथ रहने और स्पर्श—भाषणादिकी मर्यादाका सहज त्याग कर यथेच्छा आचरण करनेमें भी कोई दोष तो माना ही नहीं जाता, बल्कि उनकी तारीफ की जाती है।

तीसरा दोष आ गया है——सदाचार और त्यागके तिरस्कारका। हमारे यहाँ आचारको प्रथम धर्म बतलाया गया है; पर आज आचारके त्यागमें ही गौरवका बोध किया जाता है। इसीसे जीवन उच्छृंखल तथा अत्यन्त खर्चीला बन गया है। लोग कहते हैं, 'हमें राम नहीं चाहिये, रोटी चाहिये।' बात एक अंशमें ठीक है, रोटी मिलनी ही चाहिये। परंतु रोटीकी कमीका कारण देशमें अन्नका कम उत्पन्न होना नहीं है, उसका प्रधान कारण है——हमारा विलासपूर्ण उच्छृंखल

खर्चीला जीवन। किसी छात्रावासमें या पढ़े-लिखे लोगोंके घरोंमें जाकर देखिये—एक-एक व्यक्तिके लिये पाँच-सात तरहके जूतोंकी पंक्ति लगी मिलेगी। अंग्रेजी ढंगके कोट-पतलून आदि घर-घरमें मिलेंगे, इन पोशाकोंके कपड़ोंमें ही नहीं, सिलाईमें इतने पैसे खर्च हो जाते हैं कि जितनेमें एक साधारण आदमीका सालभरका सादे वस्त्रोंका खर्च चल सकता है। महात्माजीके प्रयत्नसे एक बार सादे धोती-कुर्तेका प्रचार हुआ था, पर अब वह प्रायः उठ गया है और कोट-पतलूनकी विदेशी पोशाक समाजमें आ गयी है। रहन-सहनका स्तर ऊँचा होना चाहिये—इस धारणाने जीवनमें इतनी अनावश्यक आवश्यकताएँ और अभाव पैदा कर दिये हैं जिनके कारण खर्चा अत्यधिक बढ़ गया है। त्यागकी पवित्र भावनाका तिरस्कार और उपहास होने लगा है तथा सादे जीवन और सादे रहन-सहनवाले लोगोंको मूर्ख, असभ्य और निम्न-श्रेणीका समझा जाने लगा है। सादगीको जीवनका नीचा स्तर माननेके कारण सादे जीवन और सादी पोशाकोंमें लज्जाका बोध होने लगा है। आजका जीवन आडम्बरपूर्ण हो गया है और परिणाममें असदाचार और भोगकी पूजा होने लगी है एवं इस कामोपभोगपरायण जीवनके लिये अर्थकी अनिवार्य आवश्यकता होनेके कारण अन्याय-असत्यसे और चोरी-हिंसासे अर्थोपार्जनका घोर प्रयत्न होने लगा है। साथ ही यह धारणा दृढ़ हो चली है कि अर्थोपार्जनके लिये भी इस प्रकारके असदाचारी और भोगपरायण जीवनकी आवश्यकता है। इसीके साथ-साथ खान-पानकी मर्यादाका नाश हो चला है। आज खड़े-खड़े किसी भी वस्तुका किसी भी प्रकारसे खाना-पीना सभ्यता तथा सुधारका ही लक्षण नहीं, अर्थोपार्जनके लिये भी आवश्यक कार्य माना जाने लगा है।

यों आज हमारे भारतीय समाजमें—प्रकारान्तरसे चोर-पूजा, व्यभिचारवृत्तिकी पूजा और असदाचारकी पूजा जोरोंसे होने लगी है और जब समाजमें प्रतिष्ठित, बड़े तथा आदर्श माने जानेवाले त्यागी, धनी, नेता, समाजसेवक और सरकारी अधिकारी ऐसा करते हैं, तब इतर सभी लोग उन्हींका अनुकरण करनेके लिये लालायित और सचेष्ट हों, इसमें क्या आश्चर्य ? हमारे समाजकी यह दशा अत्यन्त ही विचारणीय है। यह प्रवाह यों ही चलता रहा, यों ही पतनको प्रगति माना जाता रहा तो समाज कहाँ जाकर टिकेगा, कौन कह सकता है ? लोगोंकी मनोवृत्तिमें उच्छृंखलताकी उत्पत्ति और एकमात्र भोग तथा अर्थ ही जीवनका परम लक्ष्य है, इस भ्रान्त धारणाके बद्धमूल हो जानेसे आज सभी क्षेत्रोंमें मनुष्यका जीवन अमर्यादित आसुर-जीवनमें परिणत होता जा रहा है और इसका परिणाम मानव-जीवनके लिये कितना दुःखद होगा, भगवान्‌की भाषामें उसे सुनिये और विचारिये तथा उससे बचनेका प्रयत्न कीजिये—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता १६। ११–१२, १८–१९–२०)

'मरणपर्यन्त रहनेवाली अपार चिन्ताओंसे घिरे हुए, कामोपभोगमें लगे हुए लोगोंने यह निश्चित सिद्धान्त मान लिया है कि कामोपभोग ही जीवनका लक्ष्य है, अतः आशारूपी सैकड़ों पाशोंमें बँधे हुए काम–क्रोधपरायण होकर वे काम–भोगोंकी प्राप्तिके लिये अन्यायपूर्वक अर्थसंचय करते हैं। वे अहंकार, (भौतिक) बल, दर्प, काम, क्रोधका आश्रय लिये हुए, दूसरोंमें दोष देखने तथा उनकी निन्दा करनेवाले लोग अपने तथा दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ (भगवान्) से द्वेष करते रहते हैं। उन ऐसे द्वेष करनेवाले निर्दय नराधमोंको मैं (भगवान्) संसारमें बार–बार आसुरी योनियोंमें ही पटकता हूँ। भैया अर्जुन ! वे मूढ़ लोग मुझको न पाकर (जिसके लिये उन्हें मानवजीवन मिला था,) जन्म जन्ममें आसुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं और फिर उससे भी अत्यन्त नीच गति (नरकादि) में जाते हैं।'

फिर मानव–जीवनकी इस भयानक असफलतासे बचकर मानव–जीवनके प्रधान तथा वास्तविक लक्ष्यकी प्राप्तिका उपाय बताते हुए भगवान् कहते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्।।
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता १६। २१–२२)

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माको अधोगतिमें पहुँचानेवाले हैं, अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। भैया अर्जुन ! इन तीनों नरकद्वारोंसे बचा हुआ पुरुष ही अपने कल्याणके लिये आचरण (भगवदाज्ञानुसार व्यवहार और भगवद्भजन) करता है और उससे वह परमगतिको प्राप्त होता है।



भाईजी पूज्य श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार 'कल्याण' (गीताप्रेस) के आदि–सम्पादक के चुने हुए भावपूर्ण, प्रवचनों एवं पदों की कैसेट सूची।

श्रीमद्भागवत–कथा

१ से ४४ श्रीकृष्ण बाललीला कैसेट सेट
१ से ११ वेणुगीत प्रवचन माला कैसेट सेट
१ से १० रासपंचाध्यायी प्रवचनमाला

अन्य प्रवचन

१. भगवत्कृपा का आश्रय लीजिये
२. प्रेमका सच्चा स्वरूप
३. शरणागति और प्रेमके भाव
४. गोपीप्रेमका स्वरूप
५. भगवान्की गोद सबके लिये सुलभ
६. साधकका लक्ष्य और मार्ग
७ भगवत्कृपाकी अनूठी व्याख्या
८. प्रेमके भावोंकी अनोखी व्याख्या
९. आँखोंमें श्याम समा जाये
१०. वैराग्य और प्रेमका रहस्य
११. अपनी साधनाके अनुकूल संग करें
१२. भगवान् हमारी सारी जिम्मेदारी लेनेको तैयार
१३. शान्ति कैसे मिले ?
१४. भगवत् अनुराग और विषयानुराग
१५. रस और आनन्दमें चूर हो जावें
१६. हमारी चिन्ता कैसे दूर हो ?
१७. भगवान्पर विश्वास कर, उनके हो जावें
१८. व्यवहारकी बातें
१९. प्रेमी बननेके अमोघ साधन
२०. भगवन्नामकी अनुपम महिमा
२१. शरणगति–सरल साधन
२२. साधनकी उपयोगी बातें
२३. असली प्रेम त्यागमें ही है सुंदर व्याख्या
२४. साधनाके विघ्न: भय–प्रलोभन
२५. अन्तरंगता का स्वरूप और साधना
२६. चेतावनी–बहुत गई थोड़ी रही
२७ भोगोंसे मन हटाकर भगवान् में लगाओ
२८. हमारा काम तुरंत कैसे बनें
२९. भक्तिके पाँच रस सुंदर व्याख्या
३०. भगवान् की प्रेम परवशता
३१. भगवत्प्राप्तिका सुख
३२. दिन भर कार्य भगवान्की सेवा–भावसे करें
३३. इन्द्रियोंका संयम एवं परहित
३४. मानव जीवनके लक्ष्य की प्राप्ति
३५. श्रीकृष्ण–जन्माष्टमी प्रवचन सं० २०१७
३६ श्रीगोस्वामीजी द्वारा पदगायन
३७. जन्माष्टमीके दूसरे दिनका प्रवचन २०१७
३८. सारे कर्मोंसे भगवान् की पूजा करें
४१. अपने सदाचरणों द्वारा दूसरोंमें सद्–भावों का उद्बोधन
४२. श्रीकृष्णके वन भोजन लीलाका ध्यान
४३. श्रीराधाष्टमी प्रवचन सुबह सं० २०१७
४४. श्रीराधाष्टमी प्रवचन शाम सं० २०१७
४५. भगवान् हमारे अपने हैं
४६ए. असली प्रेमकी पहचान
४६बी. निरन्तर भगवत्स्मृति कैसे हो सकती है
४७ए. भजन और भगवान्की आवश्यकता
४७बी. अच्छे व्यवहारकी महत्ता
४८. शरद् पूर्णिमापर प्रवचन
४९. शरद् पूर्णिमापर (पू० राधाबाबा का संदेश)
५०. प्रेम मार्गमें बढ़नेके सहायक सूत्र
५१. सुदामाकी प्रेम कथा एवं अपनेमें दैन्यता
५२. कल ही निष्पाप कैसे हो
५३. शान्ति मिलने के उपाय
५४. श्रीराधाष्टमीका षष्ठी महोत्सव
५५. श्रीराधाष्टमीके दिन का प्रवचन
५६. श्रीराधाष्टमीके बाद का प्रवचन
५७ भगवद्विश्वासकी चमत्कारी घटनाएँ
५८. साधनाको साध्यसे अधिक महत्त्व दें
५९. जीवनकी सच्ची सफलता किसमें है
६०. बुराईसे बचने के उपाय